डॉ० दान

चार्वाक

जैन

बौद्ध

सांख्य-
योग

न्याय-
वैशेषिक

वेदान्त

मीमांसा

शैव

नकुलीश

पूर्णप्रज्ञ

प्रत्यभि

भारतीय दर्शन परिभाषा कोश



भारतीय दर्शन परिभाषा कोश

डॉ० दीनानाथ शुक्ल
दर्शन विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म० प्र०)

प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्य विद्या के प्रकाशक एवं विक्रेता)
२९/५ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण १९९३

मूल्य : २००-००

छात्र सं० १००-००
ISBN. 81-85268-23-1

मुद्रक : ए० आर० प्रिन्टर्स, डी० १०२, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

आमुख

भारतीय मनीषा ने ज्ञान-विज्ञान के ऐसे अनेक गुह्य सन्दर्भों की प्ररोचना की है, जो आज विस्तार से व्याख्यायित होने की बाट जोह रहे हैं। ऐसे गुह्यतम सन्दर्भ प्रस्थानत्रयी तथा विविध दार्शनिक प्रस्थानों में रूपायित हैं। प्राचीन भारतीय चिन्तन का जो भी बीजभूत ज्ञान है, वह सभी इसकी परिधि में सिमटकर आ जाता है। ऐसे सन्दर्भों का उपबृंहण न तो सहज है और न ही सर्वत्र प्राप्त है। इस पूरे वृत्त में आने वाले ऐसे ही संश्लिष्ट एवं दार्शनिक भूमियों से संपृक्त ज्ञानराशि की मीमांसा की गई है। प्रायः सामान्य शब्दों का अर्थ शब्दोच्चारण मात्र से हमारे मानस पटल पर मूर्त्त हो उठता है और यदि ऐसा शब्द हमारी प्रज्ञा में नहीं है तो भी ज्ञानकोशों में उनका अर्थ सहज रूप से देखा जा सकता है। किन्तु पारिभाषिक शब्दों के साथ न तो प्रज्ञा से और न ही कोशों से तत्काल काम चलाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विविध सन्दर्भों के परिज्ञान के लिए समूचे भारतीय वाङ्मय को देखने का द्रविण-प्राणायाम करना पड़ता है। इन्हीं कठिनाइयों से बचने एवं ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए पारिभाषिक कोशों की आवश्यकता आज युग की मांग बन पड़ी है।

इसी लक्ष्य को सामने रखकर मैंने दर्शन के केवल उन्ही पारिभाषिक पदों का चयन किया है, जो या तो अभी तक अविवेचित हैं या स्वल्प विवेचित हैं या अन्यथा विवेचित हैं। यह कार्य कहाँ तक अपनी उपादेयता सिद्ध कर पायेगा इसका निर्णय मैं अपने विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ। केवल इसमें व्यवस्था-स्वरूप इतना कहना चाहूँगा कि इसके संकलन, विवेचन एवं विश्लेषण में मैंने अपने ज्ञान-क्षितिज का पूरा-पूरा सदुपयोग किया है। "पूरा-पूरा सदुपयोग"— यह कथन कृति को कितनी पूर्णता प्रदान करता है, इसका सांकेतिक अर्थ ही लिया जाना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—"निज कवित्त केहि लागि न नीका, सरस होइ अथवा अति फीका" कहकर मैं आत्म संतोष करना चाहूँगा।

यह कार्य मेरे विगत सात वर्षों के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान का प्रतिफल है। इसके बहुत से संदर्भ कक्षा के व्याख्यानों में स्पष्ट विवक्षित हो

सके हैं, तो बहुत से संदर्भ अनुसंधान पत्रों के रूप में मीमांसित हो सके हैं ; साथ ही कुछ ऐसे सन्दर्भ भी हैं जो विषय के आचार्यों, गुरूजनों एवं मित्रों के साथ हुई अनौपचारिक चर्चाओं में व्याख्यायित हो सके हैं ।

भारतीय दर्शन में पारिभाषिक शब्दों की दार्शनिक विविधता जब तक सप्रमाण प्रस्तुत नहीं की जाती, तब तक तथ्यों का आकलन कर यथेष्ट अध्ययन को प्रस्तुत करना असंभव है । सम्प्रति हमारे सामने अंग्रेजी, संस्कृत तथा प्राकृत आदि भाषाओं में अनेक कोश उपलब्ध हैं, जो प्राय: सामान्य ज्ञान ही दे पाते हैं । उनमें सन्दर्भों, उद्धरणों आदि के साथ प्रमाणिक सामग्री का अभाव देखा जा सकता है । इसे हम उन कोशों की कमियां न कहें, कारण कि उनका लक्ष्य एवं प्रयोजन भिन्न रहा है । पारिभाषिक शब्दों का अर्थ प्रदान करना उनका क्षेत्र न होने के कारण उनमें वह सामग्री समाविष्ट नहीं हो पाई है, जो प्रस्तुत कोश में समायोजित हो सकी है । इस रूप में यह अन्य कोशों की अपेक्षा विषय-वस्तु और शैली दोनों में भिन्न है ।

प्रकृत पुस्तक की क्रमबद्ध योजना में सर्वप्रथम भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों के महत्वपूर्ण शब्दों को अकारादि क्रम में रखकर, उन शब्दों की व्युत्पत्ति एवं उनके शाब्दिक अर्थों पर विचार करके अलग-अलग दार्शनिक चिन्तन में हुए इनके प्रयोगों को पारिभाषिक ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । इस क्रम में किसी शब्द को लेकर जहाँ सम्प्रदायगत मतभेद है वहीं उनमें कहीं-कहीं आपस में समानता भी है । जहाँ पर शब्दों में अर्थगत भिन्नता है, वहाँ पर प्रमाणिक ग्रन्थों के सन्दर्भों तथा उद्धरणों के आधार पर उसका यथोचित निराकरण किया गया है, किन्तु जिन शब्दों के अर्थों में वैविध्यता नहीं है, उन्हें संक्षेप में ही उपलब्ध प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है । यहाँ कार्य की सीमा रेखा निर्धारित करना मेरा लक्ष्य नहीं रहा है, अपितु अपनी सीमाओं में रहकर इसे सम्पादित करने का साहस जुटाया गया है ।

मेरे इस साहस में जिन मान्य, सम्मान्य एवं पूज्य जनों का सहयोग रहा है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ । मेरे प्रत्येक कार्य एवं लेखन को गरिमामय बनाने और अपने अप्रतिम मेधा एवं चिन्तन से उन्हें पुष्ट करने में जिनका सदैव पूर्ण सहयोग मिलता रहा है, ऐसे पूज्य गुरुवर डॉ० जगदीश प्रसाद शुक्ल, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के प्रति औपचारिक आभार

व्यक्त करने के क्षण मेरी वाणी सदा मौन हो जाती है। यह मौन ही उन्हें निवेदित कर बहुत हल्का महसूस कर रहा हूँ।

इसी क्रम में अपने विभागीय आचार्यों डॉ० छाया राय, डॉ० एस० पी० दुबे एवं डॉ० गायत्री सिन्हा के अहेतुक सद्भाव के लिए सदैव ऋणी रहूंगा। साथ ही अपने विभागीय सहयोगियों—डॉ० प्रियव्रत शुक्ल एवं डॉ० भरत कुमार तिवारी का स्नेह स्मरण करने के मोह का संवरण कर पाना मेरे लिए कठिन होगा। ये मेरे ज्ञान पंथ के निकटतम दो ध्रुव हैं। इस सरणि पर मैं अपने अग्रज डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल, रीडर, हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के प्रति अत्यन्त श्रद्धानत् एवं कृतज्ञ हूँ, जो इस कार्य के प्रेरणास्रोत रहे हैं।

प्रस्तुत कृति में मुझे जिन विद्वानों से परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहयोग मिला है उन सबके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिनमें डॉ० आर० सी० पाण्डे (दिल्ली), डा० अर्जुन मिश्र (सागर), डा० आर० आर० पाण्डेय (वाराणसी), डा० रहसविहारी द्विवेदी (जबलपुर) प्रमुख हैं।

इस अवसर पर मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला शुक्ला को अनेकशः शुभकामनायें देना चाहूँगा जिन्होंने इस पुस्तक के लेखन कार्य में अपेक्षित सुविधाओं को उपलब्ध कराने में अप्रतिम सहयोग दिया।

इसी क्रम में अपनी शोध छात्राओं कु० सविता गुप्ता एवं कु० अंजु श्रीवास्तव को मैं साधुवाद देना चाहूँगा जिन्होंने शब्दों को वर्णमालिक ढंग से रखने में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

अंत में मैं डॉ० राधेश्याम शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, को धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने अल्पावधि में सम्यक् रूप से इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया।

जबलपुर

शुक्रवार, १५ नवम्बर, १९९१ — दीनानाथ शुक्ल

संकेत-सूची

१. अपरो०	अपरोक्षानुभूति
२. अभि० को०	अभिधर्मकोश
३. अ० सम०	अभिसमयालंकार
४. अ० को०	अमरकोश
५. आ० मी०	आप्तमीमांसा
६. ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
७. उप० शा०	उपदेशसाहस्री
८. कठो०	कठोपनिषद्
९. का० मी०	काव्यमीमांसा
१०. गी०	गीता
११. गौ० वृ०	गौतमसूत्रवृत्ति
१२. छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
१३. जै० न्या०	जैनन्यायमाला
१४. जै० सू०	जैमिनीसूत्र
१५. त० प्र०	तत्त्वप्रदीपिका
१६. त० चि०	तत्त्वचिन्तामणि
१७. तं० वा०	तंत्रवार्तिक
१८. त० मु० का०	तत्वमुक्ताकलाप कारिका
१९. त० दी०	तत्त्वार्थदीप
२०. त० श्लो० वा०	तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक
२१. त० सू०	तत्त्वार्थ सूत्र
२२. त० दी०	तर्क दीपिका
२३. त० भा०	तर्कभाषा
२४. त० भा० प्र०	तर्कभाषा प्रकाशिका
२५. त० सं०	तर्क संग्रह
२६. तै० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
२७. तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण

२८ न्या० कु० — न्यायकुसुमांजलि
२९. न्या० को० — न्यायकोश
३०. न्या० बि० — न्यायबिन्दु
३१. न्या० म० — न्यायमकरन्द
३२. न्या० मं० — न्यायमञ्जरी
३३. न्या० मु० — न्यायमुक्तावली
३४. न्या० वि० — न्यायविमर्श
३५. न्या० सू० — न्यायसूत्र
३६. न्या० सू० वृ० — न्यायसूत्रवृत्ति
३७. पंच० — पञ्चदशी
३८. पं० द० ध्या० प्र० — पञ्चदशीध्यानप्रकरण
३९. पं० पा० — पंचपादिका
४०. पं० पा० वि० — पंचपादिका विवरण
४१. प० ल० म० — परमलघुमंजूषा
४२. पा० सू० — पाणिनीय सूत्र
४३. पा० महा० — पातञ्जल महाभाष्य
४४. प्र० पं० — प्रकरणपंजिका
४५. प्र० वा० — प्रमाण वार्तिक
४६. प्र० न० लो० — प्रमाणनयतत्वालोकालंकार
४७. प्र० क० मा० — प्रमेयकमलमार्तण्ड
४८. प्र० भा० — प्रशस्तपादभाष्य
४९. बौ० द० मी० — बौद्ध दर्शन मीमांसा
५०. ब्र० सि० — ब्रह्मसिद्धि
५१. ब्र० सू० — ब्रह्मसूत्र
५२. ब्र० सू० शां० भा० — ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
५३. ब्र० सू० श्रीभाष्य — ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य
५४. बृ० उप० — बृहदारण्यकोपनिषद्
५५. बृ० भा० वा० — बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक
५६. भ० भ० रसा० — भगवतभक्तिरसायन
५७. भाग० — भागवत पुराण
५८. भा० — भामती

५९. भा० परि०	भाषा परिच्छेद
६०. मनु०	मनुस्मृति
६१. म० भा०	महाभाष्य
६२. मा० का०	माण्डूक्यकारिका
६३. मा० का०	माध्यमिक कारिका
६४. मा० सू०	माध्यमिकसूत्र
६५. मी० शा० भा०	मीमांसाशाबरभाष्य
६६. मी० प्र०	मीमांसा प्रमेय
६७. मी० सू०	मीमांसा सूत्र
६८. मु० उप०	मुण्डकोपनिषद्
६९. यजु०	यजुर्वेद
७०. यो० भा०	योगभाष्य
७१. यो० सू०	योग सूत्र
७२. वा० प०	वाक्यपदीय
७३. वात्स्या०	वात्स्यायन
७४. वा० न्या० भा०	वात्स्यायन न्यायभाष्य
७५. वि० प्र० सं०	विवरणप्रमेयसंग्रह
७६. वि० चू०	विवेकचूड़ामणि
७७. वि० पु०	विष्णुपुराण
७८. वे० परि०	वेदान्तपरिभाषा
७९. वे० सा०	वेदान्तसार
८०. वै० उप०	वैशेषिक उपस्कार
८१. वै० सू०	वैशेषिक सूत्र
८२. व्या० भा०	व्यासभाष्य
८३. शा० सू०	शाण्डिल्यसूत्र
८४. शि० पु०	शिवपुराण
८५. श्लो० वा० अपो०	श्लोकवार्तिक अपोहवाद
८६. श्लो० वा० चो०	श्लोकवार्तिक चोदना
८७. श्लो० वा० आ०	श्लोकवार्तिक आत्मवाद
८८. श्लो० वा० प्र०	श्लोकवार्तिक प्रत्यक्ष
८९. श्वे० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्

९०. श्वे० शां० भा०	श्वेताश्वतरोपनिषद्शांकरभाष्य
९१. सां० का०	सांख्यकारिका
९२. सां० को०	सांख्यकोश
९३. सां० त० कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी
९४. सां० त० कौ० का०	सांख्यतत्वकौमुदीकारिका
९५. सां० सू०	सांख्यसूत्र
९६. सां० प्र० भा०	सांख्यप्रवचनभाष्य
९७. सर्व० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
९८. सा० द०	साहित्यदर्पण
९९. सि० वि०	सिद्धान्तबिन्दु
१००. स्या० मं०	स्याद्वादमंजरी

अ

अकृतकर्मभोग —अकृतकर्मभोग का अर्थ— नहीं किये गये कर्मफल की प्राप्ति है। जब हम कहते हैं कि देवदत्त द्वारा किये गये कर्म का फल भोगता है—यज्ञदत्त—तो इसमें देवदत्त द्वारा किये गये कर्मफल का भोग यज्ञदत्त द्वारा करना ही अकृतकर्मभोग कहलाता है।

अंकन—ईश्वर सेवा का भेद। पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार जब ईश्वर के रूप के स्मरण के लिए उनके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) आदि का चिह्न शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाता है, तब उसे अंकन कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० २६३)।

अक्षर—क्षर धातु से अच् प्रत्यय करने पर क्षर शब्द बनता है। निषेधार्थक नञ् से संयुक्त होकर यह शब्द अक्षर कहलाता है। **न क्षरमिति अक्षरम्**—अर्थात् जो अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं। यह वर्ण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। **अक्षर वर्ण निर्म्माणं वर्णमप्यक्षर विदुः** (वाचस्पत्यम्)। बृहदारण्यक उपनिषद् (३.८.९) में कहा गया है—**एतस्य अक्षरस्य प्रशासने मार्गि द्यावापृथिव्यो विधतेतिष्ठतः**। आशय यह है कि इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने पक्ष में स्थित रहते हैं। यहां पर यह शब्द परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मुण्डकोपनिषद् (१.१.७) में इस अक्षर के द्वारा ही जगत की रचना का वर्णन है—**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथापृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथासतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्**। अर्थात् मकड़ी जैसे अपने शरीर के भीतर विद्यमान जाले को बाहर निकाल कर बुनती है और फिर निगल लेती है, पृथ्वी जैसे विभिन्न प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न करती है, मनुष्य से जैसे केश और लोम प्रकट होते हैं, वैसे ही इस अक्षर से विश्व प्रकट होता है। वेदान्त दर्शन में भी अक्षर शब्द को इसी रूप में ग्रहण किया गया है—**अक्षरनम्बरान्तधतेः** (ब्र०सू०, १ ३.१०)—आशय यह है कि अक्षर परमात्मा ही है। यह आकाश पर्यन्त समस्त पदार्थों को धारण किये हुए है। वाक्यपदीयकार ने इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही अक्षर के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की संरचना की बात कही है—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतोयतः ।। (वा०प०, १.१)

श्रीमद्भगवद्गीता में अक्षर रूप ब्रह्म से ही परम गति की प्राप्ति का उपाय बताया गया है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमां गतिम् ।। (गी०, ८.१३)

अर्थात् जो पुरुष ॐ ऐसे उस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मेरे को (श्रीकृष्ण का) चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है ।

अखण्ड—अखण्ड शब्द का सामान्य अर्थ होता है—सम्पूर्ण, समस्त इत्यादि । अद्वैत वेदान्त में सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य को अखण्ड कहा जाता है। अद्वैत वेदान्ती रामतीर्थ यति ने अखण्ड शब्द को 'अनन्त' का पर्याय माना है, जिसका अर्थ है—'अविद्या कल्पित देश-काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित ।' (वे०सा०, पृ० ३५ में उद्धृत) । इस सन्दर्भ में विद्यारण्य स्वामी कहते हैं—

न व्याप्तित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्तापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्तयं ब्रह्मणि त्रिधा ।। (पंच०, ३.३५)

तात्पर्य यह है कि व्यापक होने के कारण ब्रह्म में देशगत परिच्छेद नहीं है, नित्य होने के कारण कालगत परिच्छेद नहीं है और सबका आत्मा होने से वस्तुगत परिच्छेद भी नहीं है, इस प्रकार ब्रह्म में तीनों प्रकार का आनान्त्य है ।

अख्याति—ख्याति-भेद । अखयाति शब्द का प्रयोग मीमांसकों द्वारा ख्यातिवाद के विवेचन के सन्दर्भ में किया गया है । इनके अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। आचार्य शंकर ने मीमांसक सम्मत अख्याति के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है—**यत्र यदध्यास्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम** (ब्र० सू०, शां० भा०, उपो०)—अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का भ्रम है उनमें परस्पर जो भेद है उसका अग्रहण ही भ्रम है और इस अग्रहण रूप भ्रम को ही अख्याति का स्वरूप कहा जाता है । जैसे—इदं रजतम्" में 'इदं' का प्रत्यक्ष भी सत्य ज्ञान है और 'रजत्' की स्मृति भी सत्य ज्ञान है। फिर भी दोनों एक जातीय ज्ञान न होकर भिन्न जातीय (अर्थात् दो प्रकार के) ज्ञान हैं, किन्तु भ्रान्त व्यक्ति को उसका बोध नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में भ्रान्त व्यक्ति के

लिए दो ज्ञानों की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं होती, बल्कि विशिष्टत: एक ज्ञान के रूप में ही प्रतीति होती है। इदं और रजतम् में अभेद की स्थिति पाकर भ्रान्त व्यक्ति उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर होता है, क्योंकि वह इस प्रकार के ज्ञान को रजत के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सत्य समझ बैठता है।

अचित्—**अचिच्छब्द वाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्य-भोगोपकरण-भोगायतनभेदात्** (सर्व०सं०, पृ० २२२)—तात्पर्य यह कि अचित् शब्द का अर्थ है सामने दिखाई पड़ने वाले जड़ जगत का बोध। रामानुज दर्शन में इसके तीन भेद मान्य हैं—भोग्य, भोग का उपकरण और भोगायतन। भोग्य से तात्पर्य विषय से है, जैसे—शब्द आदि, भोग के उपकरण का अर्थ साधन से है, जैसे—इन्द्रियाँ, भोगायतन का तात्पर्य स्थान विशेष से है, जैसे—शरीर।

अज—इसका सामान्य अर्थ है—जन्म रहित होना। सांख्य दर्शन में पुरुष को अज कहा गया है तथा प्रकृति को अजा कहा गया है।

अजड़—रामानुज दर्शन में द्रव्य का भेद। रामानुज ने अजड़ के दो भेद किये हैं—प्रत्यक (निकट) और पराक् (दूर)। अपने लिये प्रकाशित होने वाला अजड़ प्रत्यक है और दूसरों के लिए प्रकाशित होने वाला अजड़ पराक् है।

अजवत—इसका सामान्य अर्थ होता है जनन शून्य या जननाभाव। सांख्य दर्शन के अनुसार—**न मलिन चेतस्युपदेश बीजप्ररोहोऽजवत्**—तात्पर्य यह है कि मलिन चित्त में उपदेश रूप बीज का प्ररोह न होना अजवत है। जैसे—राजा अज जब भार्या के वियोग से दुःखित हो गये तब वशिष्ट का उपदेश उनके चित्त को शान्त करने में समर्थ नहीं हुआ।

अजहत—लक्षणा-भेद। **शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिः तत्र अजहत लक्षणा** (वे०परि०, पृ० २०६)। अर्थात् जहाँ पर लक्ष्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही अन्य (लक्ष्य) अर्थ की प्रतीति होती है वहां पर (वाच्यार्थ का त्याग न किया होने से) अजहत लक्षणा होती है। जैसे—शोणो धावति—अर्थात् लाल दौड़ रहा है। घुड़दौड़ के अवसर पर किसी के पूछने पर कि कौन सा घोड़ा दौड़ रहा है? इस उदाहरण में 'शोणो वर्ण' जड़ होने के कारण धावति क्रिया के कर्त्ता रूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोणो' शब्द अपने वाच्यार्थ का बिना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध शोणो वर्ण वाला 'अश्व' इस अर्थान्तर का लक्षणा से बोध करता है।

अजाति—न जातः अजातः—अर्थात् जो उत्पन्न नहीं होता है, वह अजाति है। भारतीय दर्शन में सृष्टि के सन्दर्भ में तीन सिद्धांत प्रचलित हैं—दृष्टि सृष्टिवाद, सृष्टि दृष्टिवाद, अजातिवाद। अद्वैतवेदांती गौड़पाद एवं बौद्ध दार्शनिक अजातिवाद को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन अजातिवाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु की उत्पत्ति न तो स्वयं से, न तो किसी अन्य वस्तु से, न तो दोनों से और न तो दोनों के निषेध से हो सकती है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्न जातु विद्यते भावाक्वचन केचन्॥ (मा०का०, १.३)

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए नागार्जुन कहते हैं कि जो आदि में नहीं है और न अन्त में है वह मध्य में कैसे हो सकती है? यानि कि ऐसी वस्तु की उत्पत्ति किसी दृष्टि से सम्भव नहीं है—

नैवाग्रं नापरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्।
तस्मान्नत्रोपमद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः॥ (मा०का०, १.२)

माण्डूक्यकारिकाकार गौड़पाद अजाति के सन्दर्भ में अपना अभिमत देते हुए कहते हैं कि जो आदि में और अन्त में नहीं है, मध्य में—वर्तमान में वह वैसा ही असत है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽथितथा इव लक्षिताः॥ (मा०का०, २.६)

आगे वे कहते हैं—

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्तिवै।
जाताश्च जायमानस्य न व्यवस्थाप्रसज्यते॥ (मा०का०, ४.१३)

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवम् अजातिं ख्यापयन्ति ते॥ (मा०का०, ४.४)

आशय यह कि जो वस्तु आदि और अन्त में असत् है वह मृगतृष्णा की तरह अज्ञानियों द्वारा सत् समझी जाती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि यद्यपि मृगतृष्णा असत् होती है तथापि अज्ञानी लोग उसमें सत् का आभास करते हैं। इसी बात को और अधिक पुष्ट करते हुए माण्डूक्य कारिकाकार कहते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

तात्पर्य यह कि न प्रलय है न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है न साधक, न मुमुक्षु और न मुक्त। योगवासिष्ठ (३.७.४०) में कहा गया है—**जगन्नाम्ना न**। अर्थात् जगत न तो था, न तो उत्पन्न हुआ है और न उत्पन्न होगा। गौड़पाद के मत के अनुरूप ही अजातिवाद की चर्चा श्रीमद्भागवत् में भी की गई है—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो।
निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे॥

अत उपमीयते द्रविण जाति विकल्प पथैः।
वितथमनो बिलास मृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥ (भाग०, १०.८७.३७)

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चात् मध्ये च तन्न व्यपदेश मात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥
(भाग०, ११.२८.२१)

आशय यह कि जो वस्तु पहले नहीं थी और पीछे नहीं रहेगी, वह मध्य में भी नहीं है, वह केवल व्यपदेश मात्र (नाममात्र) है।

अज्ञान—अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। ज्ञान के द्वारा निवर्त्य होना ही अज्ञान का लक्षण है। अद्वैत वेदान्त में अज्ञान को माया का पर्याय माना गया है। न्यायदर्शन में अज्ञान को निग्रहस्थान का भेद माना गया है। न्याय सूत्र (५.२.१७) में कहा गया है—**अविज्ञातं चाज्ञानम्**। अर्थात् न जाना हुआ यानि कि जो समझ में न आये वह अज्ञान है। वात्स्यायन भाष्य में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—प्रतिवादी के कहे हुए तथा सभा के लोगों ने जिसके अर्थ को जान लिया हो तथा पुनः प्रतिवादी द्वारा तीन बार कहे जाने पर भी जो वादी की समझ में नहीं आता वह अज्ञान निग्रहस्थान है।

अणिमा—योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त सिद्धि। योग दर्शन में अणु के समान लघु होने को अणिमा कहा गया है।

अणु—**भोक्तुमशक्या अणवः** (सर्व०सं०, पृ० १५३)। अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण, धारण, निक्षेपण आदि के न होने से जिसका उपभोग नहीं किया जा सकता वह अणु है। वैशेषिक सूत्र (७.१.१०) में कहा गया है—**अतो विपरीतमणु**—अर्थात् महत्परिमाण से भिन्न परिमाण अणु परिमाण है।

अतिप्रसंग—अतिव्याप्ति। जैन दर्शन के अनुसार—एक के द्वारा किए हुए कर्म का फल दूसरे सन्तान में विद्यमान व्यक्ति को मिलना अतिप्रसंग कह-

लाता है (सर्व०सं०, पृ १०६) । जैसे---यदि राम के द्वारा किए हुए कर्म का फल श्याम को मिल जाये तो यह अतिप्रसंग होगा।

अतिव्याप्ति—लक्ष्यतावच्छेदकाभाव समानाधिकरणत्वं अतिव्याप्तिः (त० भा०, पृ० ८)—अर्थात् लक्ष्यतावच्छेदक के अभाव के अधिकरण में रहना अतिव्याप्ति है । जैसे—सींग होने को यदि गौ का लक्षण कहा जाये तो अति-व्याप्ति दोष होगा । क्योंकि लक्ष्य भूत गौ से भिन्न भैंस आदि को भी सींग होती है ।

अतिशय—विशेषः कीर्त्यते यस्तुज्ञेयः सोऽतिस्यो बुधैः । बौद्ध दर्शन के अनुसार—**आगन्तुकातिशयान्वय व्यतिरेकान् विधायित्वात्कार्यस्य** (सर्व०सं०,पृ० ४४)—आशय यह है कि जो जिसके रहने पर रहे, नहीं रहने पर नहीं रहे, वही उस पदार्थ का कारण होता है । यह बात सहकारी अतिशय के साथ सम्भव है । जैसे—बीज स्थाई पदार्थ है, उसमें आने वाले सहकारी अतिशय के होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार के अतिशय के अभाव में अंकुर का उत्पन्न होना असम्भव है ।

अतैजसचक्षु—न तेजोपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तिस्तत्सिद्धेः (सां० सू०, ५.१०५)—आशय यह कि तेज पदार्थ के अपसर्पण को देखकर यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि चक्षु इन्द्रिय तैजस है । प्राण की वृत्ति की तरह चक्षु देह में लिप्त रहकर भी वृत्ति से दूरस्थ सूर्यादि के प्रति जो अपसरण करता है, वह अतैजस चक्षु है ।

अत्यन्तपुरुषार्थ—सांख्य दर्शन में आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधि-भौतिक इन त्रिविध दुःखों की चर्चा की गई है । उसके अनुसार इस त्रिविध दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है (सां०प्र०भा०, १.१) ।

अत्यन्ताभाव—त्रैकालिको भावोऽत्यन्ताभावः (त०भा०,पृ० ३१५)—अर्थात् जो अभाव त्रैकालिक हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं । जैसे—वायु में रूप का अभाव ।

अथ—अथ शब्द अनेकार्थक है । मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कात्स्न्र्य इन पाँच अर्थों में इसका प्रयोग किया जाता है । भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सिद्धांतगत मतभेद होने के कारण उसका अलग-अलग अर्थ निर्धारित किया गया है । जैसे—योम दर्शन में प्रयुक्त '**अथ योगानुशासनम्**' (पा० यो० भा०, १.१.१) में अथ शब्द अधिकार का वाचक है । मीमांसा दर्शन के '**अथातो धर्म**

जिज्ञासा (मी०सू०, १·१·१) में अथ शब्द का प्रयोग आनन्तर्य के अर्थ में किया गया है। सांख्य दर्शन में '**अथेति शब्दोल्लेख शास्त्रार्थो मङ्गलार्थः**। अर्थात् सांख्य दर्शन में अथ शब्द का प्रयोग मङ्गल के अर्थ में किया गया है। वेदान्त दर्शन में प्रयुक्त **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** (ब्र०सू०, १.१.१) में अथ शब्द आनन्तर्य का बोधक है।

अदृष्टनैरपेक्ष्य—सांख्य दर्शन के अनुसार—पुरुष (दृष्टा) और प्रकृति (दृश्य) परस्पर अनपेक्ष हैं। पुरुष की इस तरह से निरपेक्षता रहने पर भी प्रत्युपकार प्रकृतिकृत महदादि रूप सृष्टि का होना अदृष्टनैरपेक्ष्य है।

अद्वैत—**द्विधा इतं द्वीतम् तस्य भावोद्वैतम्। द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावे द्वैतमुच्यते** (बृ०वा०, ४.३.१८०७)। आचार्य शंकर ने '**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः**' के आधार पर जो परमार्थ सत्य रूप आत्मा और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादित किया है, उससे अद्वैत अर्थ गृहीत होता है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि जगत में जो वस्तुगत या जीवगत भेद दिखाई पड़ता है वह व्यावहारिक है। पारमार्थिक स्तर पर इनमें कोई भेद नहीं है। माण्डूक्य कारिका के भाष्य में शंकर कहते हैं कि **ज्ञातेपरमार्थ तत्वे द्वैतं न विद्यते**'। आशय यह है कि परमार्थ के बोध होने पर द्वैत का बोध न होना अद्वैत है। श्रीमद्भगवतगीता में अनेक स्थलों पर ब्रह्म की अद्वैत परक व्याख्या की गई है। गीता में कहा गया है—

> **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**
> **ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्मसमाधिना॥** (गीता, ४.२४)

आशय यह है कि अर्पण ब्रह्म है, हवि योग्य द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है। इस तरह सभी में ब्रह्म भाव मानकर गीता में अद्वैत की चर्चा की गई है।

अद्वैत वेदान्ती गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य कारिका में कहा है कि—**अद्वैतः सर्व भावानां देवस्तुर्योः विभुः स्मृतः** (मा० का०, १.१०)। इसी तरह माण्डूक्य कारिका में आगे यह भी कहा गया है—

> **अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धते।**
> **अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥** (मा०का०, १.१६)

आशय यह है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सोया हुआ जीव जब प्रबुद्ध होता है, तब उसे अद्वैत का बोध होता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार—'**न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः**'

(सां०सू०, ६.५१)। तात्पर्य यह कि चित् एवं जड़ रूप दो मूल पदार्थ सिद्ध होने पर भी अद्वैत श्रुति के साथ कोई विरोध नहीं है।

अधिक—जितना अर्थ विवक्षित है उससे कुछ अधिक कहने का नाम है—'अधिक'। न्यायसूत्र (५.२.१३) में कहा गया है—'**हेतुदाहरणमधिकम् अधिकम्**'। तात्पर्य यह कि न्याय वाक्य के प्रयोग में एक ही हेतु और एक ही उदाहरण का प्रयोग उचित माना जाता है। अतः जब कभी न्याय का प्रयोग करते समय दो 'हेतु' तथा दो उदाहरण का प्रयोग कर दिया जाता है, तब 'अधिक' निग्रहस्थान होता है।

अधिकरण—**अधि-क्रियते प्राप्यते यत् तद् अधिकरणं**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस सिद्धान्त के बिना अभिमत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा न हो, अभिमत सिद्धान्त जिस सिद्धान्त को लिए बिना प्रतिष्ठित न हो सके, वह अधिकरण सिद्धान्त है (त०भा०, पृ० ३३६)।

अधिकारी—अनुबन्ध-भेद। किसी कार्य के लिए अधिकारी समझने का का अर्थ है उस कार्य को अपने प्रयोजन का साधन समझना तथा अपने प्रयत्न से साध्य समझना। इस प्रकार अधिकारिता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(१) दृष्टसाधनता और (२) कृतिसाध्यता। न्याय दर्शन के अनुसार—मोक्ष के लिए प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का जिज्ञासु उसके अध्ययन का अधिकारी है (त०भा०, पृ० ८७)। अद्वैत वेदांत के अनुसार—जिसने इस जन्म में तथा दूसरे जन्म में वेदों और वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन करने के द्वारा समस्त वेदान्त के अर्थ को सामान्य रूप से समझ लिया है तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त क्लेशों के दूर हो जाने के कारण जिसका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो साधन चतुष्टय से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता पुरुष ब्रह्मविद्या का अधिकारी है (वे०सा०, पृ० ४३)।

अधिगम—**व्याख्यानादिरूपपरोपदेश जनितं ज्ञानाधिगमः** (सर्व० सं०, पृ० १३७)। अर्थात् व्याख्यान आदि के रूप में दूसरों के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान अधिगम कहलाता है।

अधिपति—बौद्ध दर्शन में ज्ञान का भेद। जो नियन्त्रण करता है वह अधिपति है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**चक्षुषोऽधिपति प्रत्ययाद्विषस् ग्रहण प्रतिनियमः** (सर्व० सं०, पृ० ८५)। अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसका ज्ञान जिस इन्द्रिय से होता है, वह इन्द्रिय उस विषय का अधिपति होता है। जैसे—

चक्षु के द्वारा रूप (विषय) का ज्ञान होता है। यहाँ पर रूप (विषय) का चक्षु इन्द्रिय अधिपति है।

अध्यारोप—वस्तु पर अवस्तु का आरोप करना अध्यारोप है। जैसे—कभी भी सर्पभाव को न प्राप्त होने वाली रस्सी पर सर्प का आरोप (वे० सा०, पृ० ७१)। **असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।**

अध्यास—'अधि' पूर्वक 'आस्' धातु में अत् प्रत्यय लगाने पर अध्यास शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है—गलत दिशा की ओर सोचना या चलना। आचार्य शंकर ने अध्यास के लक्षण के सन्दर्भ में कहा है—**स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः** (ब्र०सू०, शां०भा०, उ०)। आशय यह कि स्मृति रूप तथा पूर्व में अनुभूत वस्तु की अन्यत्र प्रतीति को अध्यास कहते हैं। यथा—सीपी में रजत का, रज्जु में सर्प का, जीव में ब्रह्म का बोध इत्यादि। यहाँ पर अध्यास के दो भेद किए गए हैं—स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास।

अननुभाषण—निग्रह स्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणम् अननुभाषणम्** (न्या० सू०, ५ २.१७)। आशय यह है कि प्रतिवादी के कहे हुए, सभा के जाने हुए प्रतिवादी या सभा के अनुवाद कर तीन बार कहे हुए भी विषय का उच्चारण (वादी द्वारा) न कर पाने को अननुभाषण कहा जाता है।

अनन्तसमापत्ति—आसन के निष्पत्ति के कारण को अनन्तसमापत्ति कहते हैं। योग दर्शन (२.४७) में कहा गया है—'**प्रयत्न शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्**'—तात्पर्य यह कि शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल करने से तथा शेषनाग विषयक चित्त एकाग्र करने से जो आसन सिद्ध होता है उसे अनन्तसमापत्ति कहते हैं।

अनभिरति—अद्वैत वेदांत में अनभिरति को वैराग्य के अर्थ में ग्रहण किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**विषयदोषदर्शनेन विरोधभूतानभिरतिसंज्ञक वैराग्यैक प्रादुर्भाविद्रागनिवृत्तो** (सर्व०सं०, पृ० ८८४)। आशय यह है कि विषयों में दोष देख लेने से उनके (विषयों के) विरोधी एक ऐसे वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिसका नाम अनभिरति है। उसके बाद राग की निवृत्ति हो जाती है।

अनवसाद—रामानुज दर्शन में भक्ति की प्राप्ति का साधन। रामानुज दर्शन के अनुसार—**दैन्यविपर्ययोऽनवसादः** (सर्व०सं०, पृ० २३९)। आशय

यह कि दीनता से रहित को अनवसाद कहते हैं। मुण्डक उपनिषद् (३.२.४) में कहा गया है—**नायमात्मा बलहीनेव लभ्यः** —अर्थात् बलहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सकते। आशय यह कि भक्ति के लिए अनवसाद बहुत आवश्यक है और यह अनवसाद तभी सम्भव है जब व्यक्ति शक्तिशाली होगा।

अनवस्थादोष—लक्षण दोष। न्यायदर्शन के अनुसार जब एक दिशा में कल्पना करें और कहीं भी उसका अन्त न हो तो उसे अनवस्थादोष कहते हैं। (सर्व०सं०, पृ० ४६८)। जैसे जाति में यदि जाति माने तो उस जाति की भी एक दूसरी जाति होगी। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते कहीं भी अन्त न होगा। चार्वाक दर्शन के अनुसार यदि तर्क को अनन्तकाल तक चलने दिया जाये तो अनवस्थादोष होता है।

अनादि—उत्पत्ति शून्य। वैयाकरण शब्द को अनादि मानते हैं। इस सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार का मन्तव्य है—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वा०प०, १.१)

आशय यह कि जो शब्द तत्त्व, उत्पत्ति और विनाश से रहित है, जो विकार-हीन है और व्यापक है तथा जिससे संसार का सारा क्रिया-कलाप संचालित होता है, वह शब्द तत्वात्मक अक्षर ब्रह्म अर्थ के रूप में विवर्तित होता है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि अन्य वैयाकरणों की तरह वाक्यपदीयकार भर्तृहरि भी शब्द को अनादिरूप में स्वीकार करते हैं।

अद्वैत वेदान्त में माया को अनादि माना गया है। सांख्य दर्शन के अनु-सार—**अनादिरविवेकोन्यथा दोषद्वय प्रसक्तेः** (सां०सू०, ५.१२)। तात्पर्य यह कि अविवेक प्रवाह रूपेण अनादि है। अविवेक संस्कार से अविवेक प्रत्यय, उससे पुनः संस्कार इस प्रकार संसरण क्रिया चलती रहती है।

अनित्यसम—जब वस्तुओं की समता देखकर उनमें समान धर्म की सिद्धि करके सभी वस्तुओं को अनित्य मान लिया जाए तो इसे अनित्यसम कहा जाता है।

अनिर्वचनीय—अनिर्वचनीय शब्द का सामान्य अर्थ है—कहने के अयोग्य, वर्णन करने के अयोग्य इत्यादि। वेदान्त में माया, जगत इत्यादि की व्याख्या इसी के द्वारा की जाती है। आनन्द बोधाचार्य ने न्यायमकरन्द में कहा है—**सविलासा विद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तद् गोचरतानिर्वाच्या** (न्या० म०, पृ० १२५)। आशय यह कि कामादि विलास रहित अविद्या की निवृत्ति गोचरता

अनिर्वाच्यता है। अनिर्वचनीय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए चित्सुखाचार्य ने कहा है—

प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचार पदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहु वेदान्त वेदिनः ॥ (त०प्र०, १.१३)

शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक 'शून्य' को ही एक मात्र तत्व मानते हैं और उनके अनुसार यह शून्य न तो सत् है न असत् है न सत् असत् उभय है और न इन दोनों से भिन्न ही, इसलिए उनके अनुसार शून्य अनिर्वचनीय है। इस तत्व के सम्बन्ध में कहा गया है—

न सन्नासन्नसदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिको विदुः ॥

अनिर्वचनीय ख्याति—ख्यातिवाद के आलोक में अद्वैत वेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शुक्ति-रज्जु आदि में अध्यस्त रजत—सर्पादि की सत्ता अनिर्वचनीय है। अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन स्तर माने गए हैं—प्रातिभाषिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक। शुक्ति में रजत तथा रज्जु में सर्प भ्रम की सत्ता प्रातिभाषिक है, कारण यह कि इसका बाध व्यावहारिक स्तर पर हो जाता है। भ्रम स्थल में जब रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तो उस प्रतीतिमान सर्प को आकाशकुसुम, शशश्रृंग आदि की तरह सर्वथा अलीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी हमें प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति परवर्ती ज्ञान से बाधित हो जाती है और हमारे समक्ष यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसे हम देख रहे हैं वह शुक्ति है रजत नहीं। इसलिए रजत असत् भी है। ऐसी स्थिति में क्या यह सदसत् है? किन्तु यह भी सम्भव नहीं है। कारण कि दो विरुद्ध धर्मों को एक ही काल में एक ही धर्मी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीतिकाल में वह सत् होती है और बाधकाल में असत्। इस प्रकार के बहुत से विकल्पों पर विचार करने के पश्चात् शंकराचार्य ने एक अभिनव विकल्प दिया है और वह है—**रजतसदसतभ्यां अनिर्वचनीयम्।**

अनुत्पत्तिसम—अनुत्पत्तिसम का अर्थ है जब तक पक्ष की उत्पत्ति नहीं हो जाती, तब तक साध्य को सिद्ध करने वाला साधन काम में नहीं लाया जा सकता। इस आधार पर ही वादी की उक्ति का विरोध कर दिया जाता है जिसे अनुत्पत्तिसम कहते हैं।

अनुद्धर्ष—इसका सामान्य अर्थ होता है—अहंकार रहित होना। रामानुज

दर्शन के अनुसार—जो पुरुष शांत है और इन्द्रियों को नियन्त्रित किए हुए है वह अनुद्धर्ष है।

अनुपलब्धि—प्रमाण। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**ज्ञानकरणाजन्याभावानुभावा साधारण कारणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्** (वे०परि०, पृ० २५८)। कहने का यह आशय यह कि ज्ञान रूप कारण से उत्पन्न न होने वाला जो अभाव अनुभव का असाधारण हो वह अनुपलब्धि प्रमाण है। जैसे—यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता, जब कि नहीं दिखता तो वह नहीं है। इस तरह के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस कारण उस पदार्थ के ज्ञान का अभाव, उस पदार्थ के अभाव ज्ञान में कारण होता है। इसलिए उस प्रकार की अनुपलब्धि संज्ञा अन्वर्थ है। इसे वेदान्ती तथा भाट्ट मीमांसक भी स्वीकार करते हैं। शेष दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं।

अनुपलब्धिसम - जिसमें किसी वस्तु की अनुपलब्धि देखकर उस वस्तु का अभाव सिद्ध करने वाले वाद का खण्डन (उसके विरुद्ध निगमन की सिद्धि) अनुपलब्धि को भी अनुपलब्धि दिखलाकर करते हैं, वह अनुपलब्धिसम है।

अनुभवबन्ध—कर्म के पुद्गलों में जो अपने कार्य करने की विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होती है, वह अनुभवबन्ध है (सर्व०सं०, पृ० १६३)।

अनुमान—प्रमाण का साधन—**अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्**। आशय यह कि जिसके कारण अग्न्यादिकों का अनुमान किया जाता है, वह अनुमान है। **अनु-पश्चात्-कश्चित्, ज्ञानान्तरं जायमानामितिः ज्ञानम्, अनुमितिः**। शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थात् प्रत्यक्ष के बाद जो ज्ञात होता है, उसे अनुमान कहते हैं। नैयायिकों की मान्यता है कि— **येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंगपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंगपरामर्शोनुमानम्**(त०भा०,पृ० ६७)। आशय यह कि जिससे अनुमिति किया जाय वह अनुमान होता है। लिंग परामर्श से अनुमान किया जाता है, अतः लिंग परामर्श अनुमान है। धूम आदि का ज्ञान लिंग परामर्श अनुमान है, क्योंकि वह अनुमिति का कारण है, उससे अनुमिति की जाती है। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है, धूम आदि का ज्ञान उसका कारण है। वेदान्ती नैयायिकों के द्वारा मान्य अनुमान के इस लक्षण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार—**अनुमिति करणमनुमानम्** (वे०परि०, पृ० १३५)। आशय यह है कि जो अनुमिति प्रमा का करण हो, वह अनुमान है। वेदान्तियों की मान्यता है कि लिंग परामर्श अनुमिति का करण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अनुमिति का हेतुत्व (कारणत्व) ही असिद्ध है। जहाँ लिंग (हेतु) प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता

वहाँ परामर्श का व्यापारत्व सम्भव नहीं होता, अर्थात् व्यापार के न होने से लिंग को कारणत्व भी नहीं मान सकते। क्योंकि 'व्यापारत्व' (व्यापारयुक्त) जो असाधारण कारण है, उसकी ही 'करण' संज्ञा है। सिवाय धूलि में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत वह्निमान है', ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहाँ पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति हुई। इसलिए लिंग अनुमिति में करण है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अनुमिति—**अनुमितिश्च व्याप्ति ज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञान जन्या** (वे० परि०, पृ० १३५)। आशय यह कि व्याप्ति ज्ञानत्व से युक्त व्याप्ति ज्ञान से जो प्रमा होती है, वह अनुमिति प्रमा है। 'यह घट है' इस घट ज्ञान में 'घटत्व' प्रकार है, इसलिए इस ज्ञान को घटत्व प्रकारक घट ज्ञान कहते हैं। इसी तरह (यह व्याप्ति) इस ज्ञान में व्याप्तित्व प्रकार है, इसलिए इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्ति प्रकारक ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार धूमवन्हि-व्याप्य है इत्याकारक व्याप्ति प्रकारक ज्ञान में 'व्याप्ति' प्रकार है। ऐसे व्याप्ति ज्ञानत्वेन रूपेण जो व्याप्ति ज्ञानजन्य ज्ञान हो, उसे अनुमिति ज्ञान कहते हैं।

अनुपसंहारी—अनेकान्तिक हेत्वाभास का भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—जिससे पक्ष में साध्य का उपसंहार यानि कि समर्पण न किया जा सके, उसे अनुपसंहारी अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे जब विश्व मात्र को पक्ष बनाकर विना किसी साध्य के साधनार्थ किसी हेतु का प्रयोग किया जाता है तब वह हेतु अनुपसंहारी होता है। क्योंकि विश्व भर में साध्य का सन्देह होने से कहीं भी हेतु में साध्य के सहचार का निर्णय न हो सकने के कारण उस हेतु से पक्ष में साध्य का उपसंहार नहीं किया जा सकता (त०भा०, पृ० १२२)।

अनुयोगी—**यत्र भावोवर्तते, सोऽनुयोगी**। अर्थात् जहाँ पर किसी वस्तु का अभाव होता है, वह अनुयोगी कहा जाता है। जैसे—**भूतले घटाभवः**—में घटाभाव के आश्रय भूत भूतल को अनुयोगी कहा जायेगा। न्यायदर्शन के अनुसार—**यस्मिन् अधिकरणे च तत्सम्बन्धम् तत् तस्य सम्बन्धस्य अनुयोगी**(न्या० वि०, पृ० ३)। आशय यह कि सम्बन्ध के आश्रय को अनुयोगी कहा जाता है। जैसे—**भूतलं घटवत्**। यहाँ पर भूतल और घट का संयोग सम्बन्ध है तथा इन दोनों के सम्बन्ध में भूतल आश्रय होने के कारण यह अनुयोगी है।

अनेकान्तवाद—जैन दर्शन के अनुसार—पदार्थों के सत्-असत्, भाव-अभाव इन विरोधी धर्मों का समन्वय करना ही अनेकान्तवाद है। इनकी मान्यता

है कि वस्तु के अनन्तरूप तथा अनन्त धर्म हैं। कोई वस्तु अपने स्वरूप की दृष्टि से सत् है तथा अन्य वस्तु की दृष्टि से असत् है। जैसे—घट, पट में घट का अपना स्वरूप है तथा पट का अपना स्वरूप है। घट पट नहीं हो सकता। इस प्रकार की जो विरोधी वस्तुएँ हैं, उनका समन्वय करना अनेकान्तवाद है। स्याद्वाद मञ्जरी में मल्लिषेण ने कहा है—

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्व संविदाम्।
एकदेश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः॥

न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थ विनिश्चादि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते॥

आशय यह कि सभी ज्ञानों (अस्ति, नास्ति आदि) का विषय बनने वाला पदार्थ अनेकान्तात्मक है। भाषात्मक रूप से वस्तु के विषय में कुछ कह देना उसे सीमिति करके अपने दृष्टिकोणों का उस पर आरोपण कर देना है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसे अनेकान्तात्मक स्वीकार करना चाहिए।

अनेकान्तिक—जिस हेतु में साध्य का व्यभिचार होता है, अर्थात् जो हेतु नियमेन साध्य के साथ नहीं रहता, किन्तु कहीं साध्याभाव के साथ भी रहता है उसे अनेकान्तिक कहा जाता है (त०भा०, पृ० १२१)। न्यायदर्शन में इसके दो भेद किये किये गये हैं—साधारण अनेकान्तिक और असाधारण अनेकान्तिक।

अन्तःकरण—शैवदर्शन में कहा गया है—'**अन्तःकरण शब्देन मनोबुद्ध्यहंकार वाचिन**' (सर्व०सं०, पृ०३३९)। अर्थात् अन्तःकरण शब्द से मन बुद्धि और अहंकार का बोध होता है। सांख्यदर्शन में भी **बुद्धिरहङ्कारो मनश्चेति त्रयमायन्तःकरणम्** (सां०कौ०, पृ० ४)। अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार और मन को अन्तःकरण कहा गया है। वेदान्तदर्शन में आन्तरिक विचार की कारणभूत इन्द्रिय को आन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण कहते हैं। वेदान्तसार में कहा गया है—**बुद्धिर्नामनिश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनोनाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः** (वे०सा०, पृ० १०१)। तात्पर्य यह कि अन्तःकरण की निश्चयात्मिकावृत्ति को बुद्धि कहते हैं और अन्तःकरण की संकल्प विकल्पात्मिका अहंकार वृत्ति को मन कहते हैं। स्वामी विद्यारण्य ने पञ्चदशी में कहा है—

तैरन्तःकरणं स वै वृत्तिभेदेन तद्द्विधा।
मनोविमर्श रूपं स्याद् बुद्धि स्यान्निश्चयात्मिका॥ (पं०द०, १.२०)

कुछ लोग चित्त और अहंकार को अन्तःकरण के दो अलग भेद स्वीकार करते हैं, किन्तु सदानन्द ने '**अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः**' (वे०सा०, पृ० १०१) चित्त और अहंकार का इन्हीं दोनों (मन और बुद्धि) में अन्तर्भाव हो जाता है; ऐसा माना है। वेदान्त परिभाषाकार ने अन्तःकरण के मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन चार प्रकारों को माना है, तथा उनके क्रमशः विषय हैं—संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण (वे०परि०, पृ० ७०)।

अन्तराय—योगदर्शन के अनुसार जो चित्त को विक्षिप्त करके एकाग्रता से प्रच्युत कर देते हैं वे अन्तराय हैं। योगदर्शन में इसे विक्षेप भी कहा जाता है। जैनदर्शन में अन्तराय को प्रकृति बन्ध का भेद माना गया है। उमास्वामी ने (त०सू०, ८.४) में कहा है—दानादि कार्यों में विघ्न डालना अन्तराय है। जैसे—कोषाध्यक्ष द्वारा राजा को मितव्ययिता की शिक्षा देकर दान आदि से रोकना।

अन्तर्धान—जो किसी को न दिख सके—**कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्** (यो० सू०, ३.२१)। आशय यह कि अपने शरीर से रूप विषयक संयम करने से उस रूप में जो अन्य पुरुष के चक्षु से देखने योग्य ग्राह्य शक्ति है, उसके रुक जाने से अन्य पुरुष के चक्षु इन्द्रियजन्य प्रकाश से योगी के शरीर का संयोग न होते योगी का शरीर अन्तर्धान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि सन्मुख विद्यमान रहने पर भी किसी के इन्द्रिय का जो विषय नहीं होता, वह अन्तर्धान है।

अन्तर्यामी—भीतर से नियमन करने वाला अन्तर्यामी कहलाता है।

अन्यथाख्याति—ख्यातिभेद। ख्यातिवाद की व्याख्या के प्रसंग में यह नैयायिकों का मत है। उनके अनुसार भ्रम की स्थिति में एक वास्तविक विषय की अन्य वास्तविक विषय के रूप में अन्यथा प्रतीत होती है। इस सिद्धान्त के आलोक में यह दृष्टि मिलती है कि भ्रम के अन्तर्गत विषय में उन गुणों को दृष्टिगत करते हैं जो ज्ञान विशेष और स्थान विशेष पर समुपस्थित नहीं है, किन्तु अन्यत्र उनकी सत्ता है। आचार्य शंकर ने नैयायिकों के अनुसार इसकी व्याख्या करते हुए अध्यास भाष्य में कहा है कि—**यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीत धर्मत्व कल्पनामाचक्षते** (ब्र०सू०, शां०भा०, उपो०)

अन्यथासिद्ध—न्यायदर्शन के अनुसार जो पदार्थ जिस कार्य का नियत पूर्ववर्ती होता है, किन्तु कार्य-कारण मर्मज्ञ मनीषियों द्वारा उस कार्य के

कारण रूप में व्यवहृत नहीं होता, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे— रासभ यदि किसी घट के जन्म के पूर्व दैवात् उपस्थित हो जाता है या किसी अन्य कार्य से आ जाता है, अथवा पहले से बँधा रहता है तो वह उस घट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। विश्वनाथ ने अन्यथासिद्ध को परिभाषित करते हुए कहा है—जो जिस कार्य का नियत पूर्ववर्ती होते हुए भी उस कार्य का कारण नहीं कहा जाता, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। उन्होंने कारिकावली में अन्यथासिद्ध के पाँच भेदों की चर्चा की है—

> **येन सह पूर्वभाव: कारणमादाय वायस्य।**
> **अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत् पूर्वभाव विज्ञानम्॥**
>
> **जनकं प्रति पूर्ववृत्तिताम परिज्ञाय न यस्य गृह्यते।**
> **अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यक पूर्वभाविन:॥**

अर्थात् **प्रथम** जिस धर्म से विशिष्ट जिस कार्य की नियत पूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है, वह धर्म उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे—दण्ड घट का नियत पूर्ववर्ती है। **द्वितीय** जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियत पूर्ववर्तिता का ज्ञान उस कार्य के कारण द्वारा ही होता है वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे—दण्डगत रूप में घट के कारण दण्ड के द्वारा ही होता है। इसलिए दण्ड में रहने वाले रूप आदि घट के प्रति अन्यथा सिद्ध होते हैं। **तृतीय** जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियत पूर्ववर्तिता किसी अन्य कार्य की नियत पूर्ववर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही होती है, वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। **चतुर्थ** जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियत पूर्ववर्तिता उस कार्य के कारण की नियत पूर्ववर्तिता के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं हो सकती, वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। **पंचम** जिस कार्य के प्रति जितने लघु और नियत पूर्ववर्ती होते हैं, उन सबसे जो भिन्न होता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे—घट के प्रति दण्ड चक्र आदि लघु नियत पूर्ववर्ती है, रासभ उन सबसे भिन्न है, अत: वह घट के प्रति अन्यथा सिद्ध है (त०भा०, पृ० ३०-३१)।

अन्योन्याभाव—**अन्योन्याभावस्तु तादात्म्य प्रतियोगिकोऽभाव:।** (त०भा० पृ. ३७५)। आशय यह कि जो अभाव अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होता है, उसे अन्योन्याभाव कहा जाता है। जैसे—घट पट नहीं होता एवं पट घट नहीं होता, इस प्रकार का भेद। यह भेद घट और पट में अन्योन्य प्रतियोगिक और अन्योन्यानुयोगिक होने से अन्योन्याभाव कहलाता है।

अन्योन्याश्रय—लक्षण दोष। **स्वज्ञान सापेक्षज्ञान सापेक्षज्ञान विषयत्वं अन्योन्याश्रयः** (त० भा०, पृ० ६)। अर्थात् किसी वस्तु का उसके ज्ञान के लिए अपेक्षणीय ज्ञान के निमित्त अपेक्षित ज्ञान का विषय हो जाना अन्योन्याश्रय है। अन्योन्याश्रय की इस परिभाषा के अनुसार जब किसी वस्तु के ज्ञान का सम्पादन करने पर अपेक्षणीय ज्ञान को उस वस्तु के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है तब अन्योन्याश्रय दोष होता है। जैसे—यदि यह कहा जाये कि गौ का लक्षण है—सास्ना, गलकम्बल, और सास्ना का लक्षण है गौ के गले के नीचे लटकने वाला चर्म, तो गौ के इस लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि गौ के ज्ञान को सास्ना का ज्ञान अपेक्षणीय है और सास्ना के ज्ञान को गौ का ज्ञान अपेक्षित है फलतः दोनों ज्ञान के एक-दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते।

अन्वय—इसका सामान्य अर्थ होता है—अनुगमन करना। बौद्ध दर्शन के अनुसार अन्वय के द्वारा व्यक्ति का निर्धारण किया जाता है। जैसे—**यत्र तत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः** यथा—महानस। इस तरह विशिष्ट उदाहरणों में धूम देख कर अग्नि की सत्ता जानकर दोनों के व्याप्ति सम्बन्ध को अन्वय से जानते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**तत्सत्वे तत्सत्वं अन्वयः** अर्थात् कारण के होने पर कार्य का भी होना अन्वय है। जैसे—**अग्नि सत्वे दाहसत्तां**—अर्थात् अग्नि के होने पर यह कार्य भी होगा।

अन्वयव्यतिरेकी—अनुमान का भेद। जहाँ व्याप्ति साहचर्य अन्वय और व्यतिरेक मूलक दोनों हो वहाँ अन्वय व्यतिरेक होता है। तर्कभाषा प्रकाशिका (पृ० १४७) में कहा गया है—

> **सर्वेषु केषुचिद्भादि सपक्षेषु समन्वयि।**
> **विपक्ष शून्यं पक्षस्य व्यापकं केवलान्वयि॥**

तात्पर्य यह कि सपक्ष और विपक्ष दोनों प्रकार के उदाहरण जिस हेतु से संभव हो उसे अन्वय व्यतिरेकी कहते हैं। नव्यनैयायिक गंगेश उपाध्याय के अनुसार—जिससे अन्वय एवं व्यातिरेक दोनों प्रकार के सहचारों का एक साथ ज्ञान होता है उसे अन्वय-व्यतिरेकी कहते हैं। जैसे—जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, पर्वत में धूम है अतः पर्वत में अग्नि है। जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम नहीं है, सरोवर में अग्नि नहीं है, इसलिए सरोवर में धूम नहीं है।

अन्विताभिधानवाद—जिसमें पहले पद अन्वित होते हैं, बाद में जिससे

विशिष्ट अर्थ का कथन किया जाता है, उसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं। सीमांसादर्शन में यह सिद्धांत प्रभाकर द्वारा मान्य है।

अपकर्षसम—जहाँ वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी वैसे वाद से करे जिसके उदाहरण में कुछ धर्म का अपकर्ष दिखाया जाय, तो उसे अपकर्षसम कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ४७७)। जैसे वादी का यह कथन कि शब्द अनित्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे—घट। अब प्रतिपक्षी यह कहे कि शब्द अनित्य किन्तु अश्राव्य है क्योंकि यह कृतक है जैसे—घट। प्रतिवादी का तर्क है कि यदि घट के आधार पर आप शब्द को अनित्य मानते हैं तो घट की तरह ही उसे अश्राव्य भी माने। यहाँ श्राव्यत्व कर्म का अपकर्ष दिखलाया गया है।

अपभ्रंश—इसका सामान्य अर्थ होता है—नीचे गिरना, पतन होना, अशुद्ध होना इत्यादि। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने अपभ्रंश के लक्षण के सन्दर्भ में कहा है—

शब्दः संस्कारहीनो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशनम्॥

(वा० प०, १.१४७)

तात्पर्य यह कि अपभ्रंश वह शब्द है जो साधुत्व संस्कार से रहित हो तथा किसी-किसी अर्थ विशेष में प्रयुक्त किया गया हो, ऐसे शब्द को शिष्ट जन अपभ्रंश मानते हैं। जैसे गौ शब्द एक पशु विशेष के लिए प्रयुक्त होता है और साधु शब्द के रूप में प्रसिद्ध है परन्तु उसी पशु विशेष के लिए गौणी शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह अपभ्रंश है। आगे कहा गया है कि अपभ्रंश साधु शब्द के संकेतक होते हैं। जैसे—पर्वत पर उठता धुंआ वहाँ आग की उपस्थिति का संकेतक (लिंग) होता है। धुएँ के संकेत (लिंग) से पर्वत में आग है यह अनुमान (प्रमाण) होता है। वैसे ही अपभ्रंश के संकेत से यहाँ साधु शब्द है, यह अनुमान होता है। शास्त्रीय अनुमान का प्रकार यह है—जैसे—**पर्वतो-वन्हिमान् धूमत्वात् महानसवत्। वैसे ही इदं श्रुतं साधु शब्दवत् अपभ्रंशा-सत्वात्** (वा० प०, १.१५२)

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक वस्तु का त्याग अपरिग्रह है। योग भाष्य में कहा गया है—**विषयाणामर्जनर क्षयसंगहिंसा दोष दर्शनाद स्वीकरणम् परि-ग्रहः।** आशय यह है कि किसी वस्तु के उपार्जन करने में सबसे पहला कष्ट

होता है, उसके बाद उसको रक्षा करने में, उसके बाद उसके समाप्त होने में तो अतिशय कष्ट होता है इसलिए व्यक्ति को अपरिग्रही होना चाहिए। इसीलिए अन्यत्र भी कहा गया है—

अर्थानामर्जने दुःखं तथा च परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुखं धिगर्थान् क्लेशकारणः॥

आचार्य शंकर के द्वादश पंचसंख्यास्तोत्र में कहा गया है—

अर्थमनर्थं भावयनित्यं, नास्ति ततः सुख लेशः सत्यं।
पुत्रादपि धन भाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते॥

अपवर्ग—न्यायदर्शन में प्रमेय भेद। न्यायसूत्र (१.१.२२) में कहा गया है—**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**। अर्थात् दुःख से अत्यन्त विमोक्ष (छुटकारा) अपवर्ग प्रमेय कहलाता है। सर्वदर्शन संग्रह (पृ० ४९१) में कहा गया है—जो व्यक्ति चार विधाओं (उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा, विभाग) में विभक्त कर प्रमेय का बोध करता है उसमें तत्वज्ञान अर्थात् सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है। तत्वज्ञान होने से मिथ्याज्ञान दूर होता है। दोषों के नष्ट होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है। प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म का विनाश होता है। जन्म के अपाय के बाद दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग है। महर्षि गौतम अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—**दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः** (न्या० सू०, १.१.२)। आशय यह कि दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञान इनमें से आगे-आगे के पदार्थों की निवृत्ति होने पर उनके पूर्व-पूर्व पदार्थों की निवृत्ति होने से अपवर्ग होता है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण की व्याख्या इसी विधि से की गई है।

अपवाद—अपवाद शब्द का सामान्य अर्थ होता है—सामान्य नियम को बाधित करने वाला विशेष नियम। न्यायदर्शन में तर्क के ग्यारह भेद बतलाये गये हैं जिसमें अपवाद भी एक है। नैयायिक अपवाद को एक विशेष नियम के रूप में मानते हैं। सूतसंहिता (४.२.८) में कहा गया है—**अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः**। अर्थात् कल्पित वस्तु का नाश होकर अष्ठिान मात्र का अवशिष्ट रह जाना अपवाद है। अपवाद की व्याख्या के प्रसंग में नृसिंह सरस्वती का मन्तव्य है कि **"रज्जु स्वरूपा परित्यागेन सर्पकारेण भासमानस्य रज्जु विवर्तस्यापवादो नाशो नामाधिष्ठान रज्जुभासतयावस्थान वच्चिद्वि-**

वर्तत्याज्ञानादि प्रपञ्चस्यापवादो नाशो नामचिन्मात्रत्वेनावस्थानामित्यर्थः। अर्थात् जब रज्जु अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही सर्पाकार भाषित होने लगती है, तो वह सर्पाकार रज्जु का विवर्त कहलाती है, उस रज्जु विवर्त सर्पाकार का अधिष्ठान भूत रज्जुभास के रूप में रह जाना ही इसका अपवाद है। इसी प्रकार चैतन्य में विवर्तभूत अज्ञानादि प्रपंच का अधिष्ठान भूत चैतन्य भास के रूप में रह जाना उसका अपवाद है।

अपसिद्धान्त—स्वीकृत सिद्धान्त से च्युत होने का नाम अपसिद्धान्त है। न्यायदर्शन में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है—**सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथा प्रसंगः अपसिद्धान्तः** (न्या० सू०, ५.२.२३)। आशय यह है कि कथा विचार विनिमय आरम्भ होने के पूर्व अपना कोई सिद्धांत घोषित कर यदि नियम से उस सिद्धान्त के अनुसार कथा नहीं की जाती, किन्तु कथा के बीच उसे त्याग दिया जाता है, तो अपसिद्धान्त होता है।

अपार्थक—निग्रह स्थान का भेद। न्याय सूत्र (५.२.१०) में कहा गया है—**पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्**। आशय यह है कि जिस प्रयोग में पद या वाक्य का पूर्व तथा पर में अन्वय (सम्बन्ध होने का) योग नहीं रहता, इस कारण यह पद या वाक्य सम्बन्ध से रहित अर्थ वाला है ऐसा ज्ञान होता है, उस पद समुदाय तथा वाक्य समुदाय के अर्थ के न हो सकने के कारण व्यर्थ अर्थवाला उस पद समुदाय से प्रयोग करने वाले को अपार्थक निग्रहस्थान होता है। जैसे—दस अनार हैं, षट्अपूप हैं, इन वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध की योग्यता न होने के कारण अर्थ के राहित्य से इनके प्रयोगकर्त्ता का अपार्थक नामक निग्रहस्थान होता है।

अपान—वायुभेद। योग दर्शन के अनुसार—मूत्र, पुरीष, गर्भादि के बहिर्निःसरण करने को अपान कहा जाता है (यो० सू०, ३.३९)।

अपूर्व—अपूर्व का सामान्य अर्थ होता है—जो पहले न किया गया हो। मीमांसा दर्शन में अपूर्व उस अदृष्ट शक्ति का नाम है जो कर्म और उसके फल को जोड़ने का कार्य करता है। वार्त्तिककार कुमारिल ने अपूर्व का लक्षण इस प्रकार किया है—

> **कर्मस्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्यवा।**
> **योग्यताः शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमुच्यते॥**
>
> (त० वा०, पृ० ३२४)

आशय यह कि कर्म करने के पहले पुरुष स्वर्गादि प्राप्ति के अयोग्य होते हैं। यज्ञ और स्वर्ग आदि कर्म में अयोग्य होते हैं। यही पुरुषगत या ऋतुगत योग्यता अपूर्व द्वारा उत्पन्न की जाती है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि कुमारिल और प्रभाकर अपूर्व के स्वरूप के संबंध में एक-दूसरे से अलग विचार रखते हैं। कुमारिल अपूर्व को कर्त्ता की योग्यता मानते हैं जबकि प्रभाकर अपूर्व को कर्म में स्थिर मानते हैं।

अपूर्वता—**मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्**। अर्थात् दूसरे प्रमाण से अज्ञेय होना अपूर्वता है (सर्व० सं०, पृ० ७७)। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि जब कोई विषय दूसरे प्रमाण से ज्ञात न हो सके तो वह अपूर्वता है। आचार्य शंकर ने ब्र०सू० शां० भा० (२ १.६) में कहा है—**अचिन्त्यखलु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत**—अर्थात् जो पदार्थ अचिंत्य है, जिन पदार्थों की उत्पत्ति आदि मनुष्य तो क्या देव ऋषि आदि की बुद्धि से भी अगम्य है उन पदार्थों का तर्क से नियोजन नहीं करना चाहिए, यही अपूर्वता है। इसी तरह गीता (१०.२) में श्रीकृष्ण का निम्न वाक्य अपूर्वता की ओर संकेत करता है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

तात्पर्य यह कि विभूति सहित लीला से प्रकट होने को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षि जन ही जानते हैं। नृसिंह सरस्वती के अनुसार—**ब्राह्मणः स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारि स्वातिरिक्त प्रमाणानपेक्षत्वाद् ब्रह्माणोऽपुर्वत्वामित्यर्थः**। अर्थात् ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ब्रह्म की अपूर्वता सिद्ध होती है।

अपोहवाद—बौद्ध दर्शन में शब्द वाच्य का विवेचन अपोहवाद के द्वारा किया जाता है। भारतीय दर्शन में शब्द का वाच्य क्या है? इसको लेकर मुख्य रूप से तीन मत प्रचलित है। मीमांसकों का जातिवाद, नैयायिकों का व्यक्तिवाद तथा बौद्धों का अपोहवाद। बौद्ध दर्शन के अनुसार अतद् का वृत्ति अर्थात् तद् भिन्न त्याग अपोह कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति में जो स्वभिन्न भिन्नत्व रूप अतद् व्यावृत्ति है, इस अतद् व्यावृत्ति धर्म के कारण सभी व्यक्तियों में सादृश्य के वश एकत्र की प्रतीति अर्थात् अनुवृत्तित्व की प्रतीति को स्वीकार करते हैं। अतः बौद्धों के मत में यह अतद् व्यावृत्ति ही अपोह है। जैसे—'घट' का अर्थ 'ना घट' है। जब यह कहा जाता है कि यह घट है, तो इसका अर्थ

यह है—यह अघट नहीं है। यही अपोहवाद है। श्लोक वार्तिक में कहा गया है—

> **पार्थिवत्वादि सामान्यमेवमेवाघटादिषु।**
> **घटत्वादि विनिर्मुक्तं विषयः सम्प्रतीयते** ॥ (श्लो० वा०, अपो० २३)

आशय यह कि 'अघट' इस शब्द से घटत्व शून्य पटादि अधिकरणों में रहने वाले पार्थवत्वादि धर्मों का जो बोध होता है, वह अपोह है। इनके अनुसार संसार की किन्हीं दो वस्तुओं में भिन्नता नहीं हो सकती। अस्तु प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु का अपोह है।

अपौरुषेय—**अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मंत्र ब्राह्मणो** (का० मी०, पृ० ६)। अर्थात् श्रुति या वेद को अपौरुषेय कहते हैं। मंत्र एवं ब्राह्मण भाग के भेद से यह दो प्रकार का होता है।

अप्रतिभा—उत्तर न सूझने का नाम अप्रतिभा है। न्याय दर्शन में कहा गया है—**उत्तर रूप अप्रतिपत्तिः अप्रतिभा** (न्या० सू०, ५.२.१९) अर्थात् जब वादी अपनी स्थापना के खण्डन में कही गई बातों का उत्तर नहीं दे पाता तो उसकी अप्रतिभा समझी जाती है।

अप्रसिद्धि—लक्षण दोष। लक्षण के निर्वाच्य स्वरूप में किसी अंश का असत्य होना अप्रसिद्धि है (तर्क भा०, पृ० १०)। जैसे—यदि गौ का लक्षण रोमयुक्त जिह्वा का न होना किया जाय तो इस लक्षण में अप्रसिद्धि दोष होगा। कारण यह कि लक्षण के स्वरूप में रसना की सरोमता असत् है।

अप्राप्तकाल—प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्यों को उलट-पुलट कर रखना अप्राप्तकाल कहलाता है।

अप्राप्तिसम—जहाँ साध्य और साधन के असम्बन्ध के आधार पर किसी वाद का विरोध किया जाता है वहां अप्राप्तिसम होती है (सर्व० सं०, पृ० ४७९)।

अप्रामाण्य—अयथार्थ अनुभव में रहने वाले धर्म को अप्रमाण्य कहते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार—अप्रमाण्य अनुव्यवसाय से गृहीत न होकर अनुमान से गृहीत होता है (त० भा०, पृ० १६७)। जैसे—जब कोई मनुष्य मरु मरीचि निर्जल स्थान में लहराती हुई सूर्य-किरणों में जल देखकर जल पीने की इच्छा से वहाँ जाता है, किन्तु जल नहीं प्राप्त कर पाता तब वह इस प्रकार का

अनुमान करता है कि उसे जो जल का ज्ञान हुआ था, अप्रमात्मक था, क्योंकि उस ज्ञान के आधार पर जल प्राप्त करने के लिए जो प्रयास किया गया था वह विफल रहा, अर्थात् जिसे जल समझा गया वह जल के रूप में प्राप्त नहीं हुआ। अतः वह अप्रमाण्य है। परतः और स्वतः के भेद से अप्रामाण्य दो प्रकार का होता है। यदि अप्रामाण्य अपने आप उत्पन्न या ज्ञात हो तो वह स्वतः और यदि वह किसी दूसरे साधन से उत्पन्न हो तो वह परतः है। भारतीय दर्शन में इस सन्दर्भ में अलग-अलग विचार देखने को मिलता है। सांख्य दर्शन अप्रामाण्य को स्वतः मानता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—अप्रामाण्य की प्रामाणिकता के लिए तब तक अन्य अनुमान को कारण नहीं माना जा सकता, जब तक कि उस अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाये। इसी तरह प्रामाण्य साधक अनुमान की प्रामाणिकता अन्य अनुमान पर आश्रित होगी। अस्तु अप्रामाण्य को स्वतः मानना चाहिए, अन्यथा परतः मानने पर उक्त रीति से अप्रामाण्य मानने पर अनवस्था दोष होगा। न्यायदर्शन के अनुसार अप्रामाण्य परतः होता है। नैयायिकों की तरह मीमांसक भी अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक अप्रामाण्य को सांख्य दर्शन की तरह स्वतः मानते हैं।

अभव्यजीव—जैन दर्शन में जीव का भेद। जैन दर्शन के अनुसार –जिस जीव में सम्यक् दर्शन के अभाव में मोक्ष की जिज्ञासा नहीं होती है, वह अभव्य जीव कहलाता है। बौद्धदर्शन में अभव्य जीव के विषय में कहा गया है—

> **वर्षत्वपि हि पर्जन्ये नैवाबीजं प्ररोहति।**
> **समुत्पादेऽपि बुद्धानां मा भव्यो भद्रमश्नुते॥**
>
> (अभि० सम०, ८.१०)

अभाव—पदार्थ गतो भावो अभावम्। आशय यह कि किसी पदार्थ का न होना उसका अभाव है। वेदान्त के अनुसार ज्ञानस्वरूप करण से उत्पन्न न होने से अभावानुभव के असाधारण कारण को अभाव कहते हैं। इनके अनुसार अभाव का ही दूसरा नाम अनुपलब्धि है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**निषेधमुख प्रमाणोऽभावरुपः** (त० भा०, पृ० ३१०)। अर्थात् निषेध शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है उसे अभाव पदार्थ कहते हैं। नैयायिक संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से अभाव दो प्रकार का मानते हैं। संसर्गाभाव के पुनः तीन भेद किये गये हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाब। वेदान्त-

परिभाषाकार ने अभाव का भेद अन्य प्रकार से किया है। उनके अनुसार—**अभावश्चतुर्विधः प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्वोन्याभावश्चेति** (वे० परि०, पृ० २७९)। अर्थात् प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव के भेद से अभाव चार प्रकार का होता है।

अभिधानवृत्ति-छल-भेद। जब किसी वाक्य में ऐसा शब्द दिया जाये जिसके कई वाक्यार्थ या मुख्यार्थ हों तथा उसके दूसरे अर्थ को दृष्टि में रखते हुए वाक्य का खण्डन करें तब अभिधानवृत्ति होती है (सर्व० सं,० पृ० ४७५)। न्यायसूत्र में इसे ही वाक्छल कहा जाता है।

अभिध्यान—जब अन्य व्यापार के किए बिना मात्र भगवत भक्तिभाव से किसी को अभीष्ट सिद्धि हो, तो उसे अभिध्यान कहते हैं (यो० सू०, १.२३)।

अभिनिवेश—अभि उपसर्ग पूर्वक 'नि' धातु में 'विध' प्रत्यय लगाने पर अभिनिवेश शब्द की उत्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है-आसक्ति। योगसूत्र में पांच क्लेशों की चर्चा की गई है। अभिनिवेश उनमें से एक क्लेश है। अभिनिवेश के लक्षण के प्रसंग में कहा गया है—**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः** (यो० सू०, २.९)। आशय यह कि मृत्यु का भय जो विद्वान और मूर्ख दोनों को समान रूप से बना रहता है वह अभिनिवेश क्लेश कहलाता है। सर्वदर्शन संग्रहकार का मत है कि पूर्व जन्म में मृत्यु के दुःख के अनुभव की वासना के कारण सभी प्राणधारियों में चाहे वे कृमि (मूर्ख) हों या विद्वान-सभी में उत्पन्न होने वाला पांचवां क्लेश अभिनिवेश है (सर्व० सं०, पृ० ७०३)।

अभिमान—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'मन्' धातु में घञ् प्रत्यय लगाने पर अभिमान शब्द की उत्पत्ति होती है, जिसका सामान्य अर्थ होता है—अहंकार, घमण्ड, दर्प इत्यादि।

अभिभव—इसका सामान्य अर्थ होता है किसी पदार्थ का दूसरी शक्ति से पराभूत होना। न्यायदर्शन के अनुसार—**ग्राह्यसमानजातीयग्रहण कृतमग्रहणम् अभिभवः** (न्या० सू०,२.२-१)। आशय यह कि ग्रहण के योग्य पदार्थ के समान जाति वाले पदार्थ के ग्रहण से दूसरे पदार्थ का ग्रहण न होना अभिभव कहलाता है। जैसे—ग्रहण योग्य उल्का के प्रकाश का सूर्य के प्रकाश से ग्रहण नहीं होता।

अभिहितान्वयवाद—कुमारिल एवं प्रभाकर को लेकर वाक्यार्थ के ज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसकों में दो मत प्रचलित हैं। इनमें से कुमारिल अभिहितान्वयवाद

को स्वीकार करते हैं तथा प्रभाकर अन्विताभिधानवाद को। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले अभिधा शक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है, उसके पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उन पदार्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस कारण इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं।

अभेदवाद—**सर्वशरीरत्या सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते** (सर्व० सं०, पृ० २१६)। आशय यह कि सभी का शरीर बनकर सब प्रकार से ब्रह्म में ही अवस्थित होना अभेदवाद है। सामान्य रूप से जागतिक वस्तुओं में तीन प्रकार के भेद माने जाते हैं--विजातीय, सजातीय, स्वगत। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को इन तीनों भेदों से रहित मानकर उसका अभेद रूप माना गया है।

अभ्यास—अभि उपसर्ग पूर्वक 'अ' धातु में 'अस्' प्रत्यय लगाने पर अभ्यास शब्द की उत्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है आवृत्ति। वैष्णव दर्शन में कहा गया है—**पुनः-पुनः संशीलनमभ्यासः** (सर्व० सं०, पृ० २३८)। अर्थात् बार-बार चिन्तन करना अभ्यास है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**तत्वमसि इत्युक्तिरभ्यासः** (सर्व० सं०, पृ० ७७१)। अर्थात् 'वह तुम ही हो' ऐसा अनेक बार कहना अभ्यास है। योग दर्शन के अनुसार—**तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः**। अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिए जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास है। यहां ध्यातव्य यह है कि योग दर्शन में प्रयुक्त अभ्यास शब्द का प्रयोग वृत्ति निरोध के लिये किया गया है जबकि वेदान्त में इसका प्रयोग तत्व-लिंग (साधन) के रूप में।

अमनस्क—जैन दर्शन में संसारी जीव का भेद। जैन दर्शन के अनुसार—संज्ञा से रहित जीव अमनस्क है। (सर्व० सं०, पृ० १५०)। इसके दो भेद हैं त्रस और स्थावर।

अभ्युपगम—न्याय दर्शन में सिद्धान्त-पदार्थ का भेद। इसका सामान्य अर्थ होता है--स्वीकार कर लेना, मान लेना इत्यादि। वात्स्यायन के न्यायभाष्य (११-३१) में कहा गया है—जिसमें कोई भी अर्थ समूह बिना परीक्षा किये हुए मान लिया जाता है उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। जैसे—शब्द रूप, द्रव्य तो अवश्य है, किन्तु वह नित्य है अथवा अनित्य, इस प्रकार शब्द को द्रव्य मानकर उसके नित्यता अथवा अनित्यता की परीक्षा की जाती है। तर्कभाषाकार के अनुसार जो अर्थ अपनी दृष्टि से सिद्धांतभूत न होने पर भी प्रयोजन

वश कुछ समय के लिये सिद्धान्त रूप में मान लिया जाता है तो उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है (तर्क० भा०, पृ० ३४०)।

अमर्ष—योग दर्शन में कालुष्य-भेद। योग दर्शन के अनुसार—अपने से अन्य किसी पापात्मा पुरुष के कठोर वचन सुनने से अपने को अपमानित जानकर उसका बदला लेने की चेष्टा करना अमर्ष-कालुष्य कहा जाता है। (यो० सू०, १.३४) इसमें चित्त मलिन होता है। यदि ऐसे (पापी) पुरुष के प्रति तटस्थता या उदासीनता की भावना करें तो यह अमर्ष कालुष्य निवृत्त हो जाता है। नैयायिक भी अमर्ष की व्याख्या इसी रूप से करते हैं। उनके अनुसार—**अमर्ष लक्षणो द्वेषः** (वात्स्या०, ४.१०३)। तात्पर्य यह कि अप्रिय अहितकर बात पदार्थ की प्राप्ति को न सहन करना रूप अमर्ष है।

अयथार्थ – **अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी अप्रमाणजः** (त० भा०, पृ० ३१६)। आशय यह कि जो अनुभव जैसा होता है वैसा न होकर उसके विपरीत होना, अयथार्थ कहा जाता है। यह अर्थ का व्यभिचारी होता है, क्योंकि जो अर्थ जहाँ नहीं होता यह वहाँ भी उत्पन्न होता है। जैसे—सीपी में चाँदी नहीं होती पर चाँदी का अयथार्थ अनुभव उसमें भी होता है।

अयुतसिद्ध—ऐसे दो पदार्थों को जो पृथक सिद्ध नहीं होते अयुतसिद्ध नाम से व्यवहृत होते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यद पराश्रित मेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ** (त० भा०, पृ० ३७)। तात्पर्य यह कि ऐसे पदार्थ जिनमें से कोई एक अपनी अविनश्यत अवस्था में अर्थात् अपने विनाश की सामग्री की अनुपस्थिति दशा में दूसरों में आश्रित होकर ही अवस्थित रहते हैं अयुतसिद्ध कहे जाते हैं। आगे इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए तर्कभाषाकार ने कहा है—

> **तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यो ययोर्द्वयोः।**
> **अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते** ।(त० भा०, पृ० ३७)

आशय यह कि उन्हीं पदार्थों को अयुतसिद्ध समझना चाहिए जिन दो पदार्थों में से कोई एक अनश्यत् रहने के समय दूसरे में आश्रित ही रहता है। जैसे—तन्तु और पट जितने समय तक दूसरे में रहते हैं उतने समय तक उनमें से पट तन्तु में पूरे समय तक आश्रित ही रहता है। अतः तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं।

अर्थ –**अर्थते वाच्यते इति अर्थः**। इस दृष्टि से अर्थ शब्द का अर्थ होता है—याचना करना, मांगना, प्रयोजन इत्यादि। अर्थ के माध्यम से ही

श्रोता वक्ता के कथन को ग्रहण करता है। आशय यह कि अर्थ वह धर्म है जिसका सम्बन्ध ग्रहण से है। भर्तृहरि ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्थ का कारण शब्द है। उससे ही अर्थ प्रकाशित होता है तथा बुद्धिस्थ अर्थ से शब्द की प्रतीति होती है (वा० प०, ३ २.३२)। भर्तृहरि ने अर्थ के लक्षण के प्रसंग में कहा है कि किसी शब्द के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है। इसके अतिरिक्त अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नहीं है (वा० प०, २.३०)। जयन्त भट्ट ने न्याय मञ्जरी में अर्थ के विषय में कहा है कि जिस शब्द में जिस अर्थ का संकेत किया जाता है वह उसका अर्थ है अथवा जिस शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है (न्या० मं०, पृ० ११०)।

कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्त्तिक में अर्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि जो अर्थ जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है वह उसका अर्थ है (श्लो० वा०, वाक्या०, श्लोक ११६०)। भाष्यकार पतंजलि के अनुसार—लोक में उच्चरित शब्द से जो अवबोध होता है वही अर्थ है (पात० महा०, पृ० १२)। जैन दर्शन में प्रयोजन शब्द को अर्थ के रूप में स्वीकार करके यह कहा गया है कि जो अर्थना का विषय है वह है अर्थ। इस रूप में वहाँ अर्थ के दो रूप माने गये हैं—हेय और उपादेय।

अर्थक्रिया—पदार्थानाममुत्पत्ति स्थित्यादयः। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में फल देने वाली क्रिया को अर्थ क्रिया कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ३७)। यह दो प्रकार की होती है—बाह्य एवं आंतरिक। जब बाह्य जगत से बंधी होने के कारण कोई क्रिया उत्पन्न होती है तब उसे बाह्य अर्थ क्रिया कहते हैं। ज्ञाता जीव जब बाहरी भीतरी कार्मो से अवकाश पा लेता है तब इससे उत्पन्न चमत्कार या आनन्द जो उसे मिलता है वह आन्तरिक अर्थ क्रिया कहलाता है।

अर्थक्रियाकारित्व—बौद्ध दर्शन में अर्थ क्रियाकारित्व से क्षणिकवाद की व्याख्या की जाती है। बौद्ध दार्शनिक किसी वस्तु की सत्ता का अर्थक्रियाकारित्व से ही लक्षण करते हैं। बौद्धदर्शन की मान्यता है कि—**अर्थक्रियाकारित्व लक्षणस्य सत्वस्य नीलादि क्षणानां प्रत्यक्ष सिद्धत्वात्** (सर्व० सं०, पृ० ३८)। तात्पर्य यह है कि वस्तु के तत्व का अर्थअर्थक्रियाकारित्व है। प्रत्येक वस्तु में क्रिया है क्योंकि वह क्षणिक है। यह तत्व नीलादि क्षणिक पदार्थों के प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है। नीलादि पदार्थ क्षणभर में अपनी अर्थ साधक क्रिया करके नष्ट हो जाते हैं।

अर्थवाद—लक्षण द्वारा स्तुति या निन्दा परक वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। जैसे---**अग्नि हिमस्य भेषजम्**—यहाँ अग्नि को हिमनाशक कहा गया है अग्नि औषधि नहीं है। अर्थवाद के तीन भेद हैं— गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थ-वाद (सर्व० सं०, पृ० १२७)।

अर्थान्तर—जब हम अभीष्ट अर्थ का कथन न करके किसी अन्य अर्थ का कथन करते हैं तो वह अर्थान्तर होता है। न्यायसूत्र (२.२.७) में कहा गया है **प्रकृतादर्थदप्रति सम्बद्धम् अर्थान्तरम्**। आशय यह कि किसी पक्ष को सिद्ध करने के लिये किसी हेतु का प्रयोग करने पर उस हेतु के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रकृत है, किन्तु उस हेतु के विषय में कुछ न कह कर और कुछ असम्बद्ध बात कही जाने लगे तो वह अर्थान्तर होता है।

अर्थापत्ति—**उपपाद्य ज्ञाननोपपादक कल्पनम् अर्थापत्तिः** (वे० परि०, पृ० २९६)। आशय यह है कि उपपाद्य (कार्य) के ज्ञान से उपपादक(कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति है। यहां ध्यातव्य यह है कि जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहाँ उपपादक होता है। जैसे—रात्रि में भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न है, इस कारण वैसे पीनत्व की अनुपपत्ति (असंभव) है उस कारण रात्रि भोजन उस प्राप्ति का उपपादक है। अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है– दृष्ट्यार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। भारतीय दर्शन में अर्थापत्ति को मीमांसक एवं वेदान्ती प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय उसे प्रमाण रूप में नहीं मानते।

अर्थापत्तिसम—अर्थापत्तिसम वह है जिसमें विरोधी दल अर्थापत्ति (अन्यथा आसिद्धि का आभास) के द्वारा वाद का खण्डन करता है (सर्व० सं०, पृ० ४८१)।

अलब्धभूमिकत्व—योगदर्शन में विक्षेप का भेद। योगदर्शन के अनुसार—**अलब्धभूमिकत्वम् समाधिभूमेरलाभः** (यो० सू०, १.३०)। अर्थात् किसी अन्य प्रतिबन्ध से मधुमति, मधुप्रतिका, विशोका तथा संस्कार शेषारूप समाधि भूमि का लाभ न होना अलब्धभूमिकत्व कहा जाता है।

अलातचक्र—इसका शाब्दिक अर्थ होता है—उल्काचक्र। गौड़पादाचार्य के ग्रंथ माण्डूक्यकारिका के चतुर्थ प्रकरण का नाम है—अलातशान्ति प्रकरण। इसके अन्तर्गत अलातचक्र की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। गौड़पाद के

अनुसार सृष्टि की नाना प्रकार की वस्तुओं की उत्पत्ति का जो कारण है वह अलातचक्र है। अलातचक्र के स्पन्दन की शांति होने पर वस्तुओं का शमन हो जाता है।

अलौकिक—असाधारण। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष का भेद। न्यायदर्शन के अनुसार वह प्रत्यक्ष जो अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रिय के सम्मुख एवं समीप न होकर विरुद्ध दिशा में तथा बहुत दूर होते हैं ऐसे अर्थों के साथ भी इन्द्रिय के बीच भी सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। जिनमें लोक-गम्य ग्राह्य-ग्राहक भाव स्वभावतः सम्भाव्य ही नहीं होता। इस प्रकार के जितने भी सन्निकर्ष होते हैं वे लोक में सर्वजन्य गम्य न होने से तथा अप्रसिद्ध होने से अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण अलौकिक प्रत्यक्ष कहे जाते हैं (त० भा०, पृ० ७९)। अद्वैत वेदान्त नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष के इस भेद को स्वीकार नहीं करता किन्तु नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अलौकिक प्रत्यक्ष के ज्ञान की व्याख्या अवश्य स्वीकार करता है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि नैयायिकों के अलौकिक प्रत्यक्ष की ही तरह वेदान्ती इन्द्रिय अन्वय प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन में सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण तथा योगज भेद से अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का माना गया है।

अवच्छेदवाद—अवच्छिद्यतेति अवच्छेदः। अद्वैत वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद की व्याख्या किसी अवच्छेदवाद के द्वारा की गई है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने इस सन्दर्भ में अवच्छेद-वाद के साथ-साथ दो अन्य वादों की भी चर्चा की है जिसे प्रतिविम्ववाद तथा आभासवाद कहा जाता है। अवच्छेदवाद की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं—यद्यपि यह सत्य है कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं है, तो भी जैसे घट, करक, गिरी, गुफा आदि उपाधियों के साथ आकाश का सम्बन्ध है, वैसे ही देहादि संघात रूप उपाधि के साथ ईश्वर का सम्बन्ध है। जैसे आकाश से भिन्न होने पर भी उपाधि सम्बन्धकृत घटाकाश, करकाकाश आदि शब्द व्यवहार और ज्ञान व्यवहार लोक में देखा गया है और उपाधि सम्बन्धकृत घटाकाशादि भेदरूप मिथ्याबुद्धि आकाश में देखी गई है वैसे ही यहाँ भी देहादि संघात रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध के अविवेक से उत्पन्न हुई ईश्वर और ससारी भेदरूप मिथ्या बुद्धि है। वाचस्पति मिश्र, जिसके नाम से अद्वैत वेदान्त में भामती प्रस्थान प्रचलित है, ने जीव एवं ब्रह्म के इस भेद एवं अभेद सम्बन्ध में

अवच्छेदवाद को ही स्वीकार किया है। उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—**स एव तु अविद्योपाधानभेदात् घटकरकाद्याकाशवद् भेदेन प्रथते** (भा०, २.१.२१)। तात्पर्य यह कि जैसे घटकरकादि उपाधियों से आकाश भिन्न प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मा अविद्योपाधिभेद से भिन्न प्रतीत होता है।

अवधि—जैन दर्शन में ज्ञान का भेद। जैन दर्शन में कहा गया है—**सम्यग् दर्शनादि गुण जनितक्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः** (सर्व० सं०, पृ० १३८)। अर्थात् जो ज्ञान सम्यक् दर्शन आदि गुणों से उत्पन्न क्षय या उपशम का कारण हो तथा विषयों को व्याप्त करने वाला हो, वह 'अवधि' है।

अवयव—**अनुमानवाक्यस्यैवदेशा अवयवाः** (त० भा०, पृ० ३४०)। आशय यह कि अनुमान वाक्य का एकदेश अवयव है। न्यायदर्शन में अवयव वाक्य पांच हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। वेदान्त दर्शन अनुमान वाक्यों के उन पाँच अवयवों में से तीन को ही स्वीकार करता है। जो हैं—प्रतिज्ञा, हेतु। तथा उदाहरण

अवर्ण्यसम—जब वादी के उदाहरण पर यह आरोप लगाते हुए उसके बाद का खण्डन किया जाय कि पक्ष का धर्म उदाहरण के धर्म की तरह ही अवर्णनीय है या सिद्ध है, तब वह अवर्ण्यसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४७८)।

अवित्करण—**कार्याकार्यविवेकविकलस्येव लोक निन्दितकर्म करणमवित्करणम्** (सर्व० सं०, पृ० ३१३)। तात्पर्य यह कि कर्तव्य और अकर्तव्य की विवेचना करने में असमर्थ व्यक्ति की तरह लोगों के द्वारा निंदनीय कर्म करना अवित्करण है।

अवस्था—कालकृत परिणाम। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**आ लाभप्राप्तेरेकमर्यादावस्थितस्य यदवस्थानं सावस्था** (सर्व० सं०, ३०२)। अर्थात् लाभ की प्राप्ति पर्यन्त जब तक साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति अवस्था कहलाती है। व्यक्तावस्था, अव्यक्तावस्था, जयावस्था, दानावस्था और निष्ठावस्था के भेद से यह पांच प्रकार की होती हैं। जब किसी साधक के उपाय अनुष्ठानादि प्रकाशित हों, लोगों की स्तुति निन्दा की चिन्ता न रहे तब व्यक्तावस्था होती है। जब

साधक सब गुप्त रूप से करे तब अव्यक्तावस्था कहलाती है। मन और इन्द्रियों पर विजय करके अवस्थित रहना जयावस्था कहलाती है। सब कुछ त्याग देना दानावस्था, महेश्वर में सदा अवछिन्न भक्ति रखना निष्ठावस्था कहलाती है।

अवस्थापरिणाम—अवस्थि धर्मी का एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करना अवस्था परिणाम है। जैसे—चित्त के व्युधान संस्कार के समापन पर निरोधावस्था को प्राप्त करना अवस्थापरिणाम है। इसी तरह कंगन आदि में नया, पुराना आदि होना अवस्थापरिणाम है।

अवर्ण्यसम—जब वादी के उदाहरण पर यह आरोप लगाते हुये उसके बाद का खण्डन किया जाए कि पक्ष का धर्म उदाहरण के धर्म की तरह ही अवर्णनीय या सिद्ध है, तब अवर्ण्यसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४७८)।

अवितद्भाषण—परस्पर विरोधी निरर्थक आदि शब्दों का प्रयोग करना अवितद्भाषण है (सर्व० स०, पृ० ३१३)।

अविद्या—ज्ञान का अभाव। योगदर्शन में अविद्या को क्लेश-भेद माना गया है। उनके अनुसार—**अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्याशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या** (यो० सू०, २.५)। तात्पर्य यह कि जो अनित्य स्वर्गादि प्रपंच में नित्य बुद्धि, अशुचि शरीरादि में शुचि बुद्धि, दुःख रूप विषय भोगों में सुख बुद्धि तथा अनात्म देह इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि है वह अविद्या कहलाती है। योग वाशिष्ठ (३.११३.११) में कहा गया है—अविद्या वह है जो चित्त को मोह में डालने वाली तथा वासना रूप है। जैसे—कुम्भकार अपनी चक्रिका से घट का निर्माण करता है वैसे ही यह कृत्रिमवेष अविद्या संसार रूप घट को उत्पन्न करती है। कठोपनिषद् के अनुसार—जब मनुष्य भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले धन, भूमि, अश्व आदि पदार्थों को नित्य-सत्य मानकर अज्ञान वश इनके साथ आसक्ति करता है और इन्हें प्राप्त करने और भोगने के लिए अनेक प्रकार से कर्म करता है तथा बुढ़ापा, मृत्यु, जन्म आदि दुःख भोगता है तो उसे अविद्या कहा जाता है। (कठोपनिषद्, २.४)। आगे इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है—जो मनुष्य चारों ओर से अपने कर्मभोग आदि रूप अविद्या से घिरे रहते हैं वे अंधे द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धों के सामान विवश होकर ठोकर खाते हुए इधर-उधर भटकते रहते हैं (कठो०, २.५)।

छान्दोग्योपनिषद् (१.१.१०) में अविद्या का स्वरूप अज्ञान बतलाया गया है। शंकराचार्य ने ब्र० सू० भाष्य (१.४.३) में अविद्या के स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहा है—**अविद्यात्मिका हि बीज शक्तिर्व्यक्ति निर्देश्या।** आशय यह कि अविद्यात्मिका बीज शक्ति स्वरूप अव्यक्त है। उन्होंने मुण्डक उपनिषद् (१.१.४-५) में कहा है—अविद्या न सत् है न असत् है और न सत्-असत् दोनों ही है। वह न भावरूप है, न अभाव रूप और न भावाभावरूप है। सत्-असत् से विलक्षण होने के कारण अविद्या अनिर्वचनीय है। शांकर वेदांत में परा एवं अपरा भेद से विद्या दो प्रकार की है। इनमें से अपरा विद्या ही अविद्या है। यहां ध्यातव्य यह है कि शंकर एवं शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में अविद्या को माया का पर्याय माना गया है। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य वार्त्तिक (४.३१.२४४) में इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि जैसे स्वात्मा विद्या के कारण ब्रह्म जगत का स्रष्टा है, वैसे ही स्वात्ममाया के कारण जगत का स्रष्टा है। इसी तरह से वाचस्पति मिश्र ने—**ब्राह्मणस्त्विमयविद्या निर्वक्तुम्** (भा०, पृ० ३७७), अर्थात् मायादि शब्द वाच्य ब्रह्म की इस अविद्या शक्ति का तत्व या अन्यत्र रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता है—कहकर अविद्या एवं माया को अभिन्न माना है। किन्तु इसके बावजूद शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त के दो प्रस्थानों भामती एवं विवरण में अविद्या के आश्रय के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद है। भामती प्रस्थान में अविद्या का आश्रय जीव है जबकि विवरण प्रस्थान मे अविद्या का आश्रय ब्रह्म को माना गया है।

अविनाभाव—व्याप्ति। **कार्यस्य स्वभावस्य च लिंगस्याविनाभावः।** अर्थात् कार्य व स्वभाव रूपी लिंग का साध्य के बिना न देखा जाना अविनाभाव कहलाता है। प्रमाण वार्तिक (१.३३) में कहा गया है—

> **कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।**
> **अविनाभाव नियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥**

आशय यह कि कार्य कारण के संबंध से अथवा नियम रखने वाले स्वभाव के द्वारा अविनाभाव का निर्णय होता है।

अविवेक—**अगृहीता संसर्गकमुभयविषयक् ज्ञानं अविवेकः** (सां०प्र० भा०, ६.१२)। आशय यह है कि अविद्या विरोधी अज्ञान रूप चित्तवृत्ति विशेष अविवेक है। यह प्रवाहरूपेण अनादि है। अविवेक संस्कार से अविवेक प्रत्यय और उससे पुनः संस्कार इस प्रकार संसरण क्रिया चलती रहती है। किन्तु अविवेक नित्य

नहीं है। निश्चित हेतु से इसका विनाश सम्भव है और यह हेतु विवेक है। विष्णु पुराण (६.५.६२) में कहा गया है—

अन्धन्तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे विवेकतम् ।।

आशय यह है कि जिस प्रकार प्रकाश से अंधकार का विनाश होता है उसी प्रकार विवेक से अविवेक का।

अशक्ति—सांख्य दर्शन के अनुसार—सिद्धि के साधक या निवारक तत्व को अशक्ति कहते हैं (सांख्य त० कौ०, पृ० ४६)। सांख्यकारिकाकार ने अशक्ति के २८ भेद किये हैं। उनके अनुसार—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्यात्तुष्टि सिद्धिनाम् ।। (सां० का०, ४६)

अर्थात् एकादश इन्द्रियवध (११ इन्द्रियों के नाशक), सत्रह बुद्धि के उपघात, जिनमें नौ तुष्टि और आठ सिद्धि, इस प्रकार अशक्ति के २८ भेद होते हैं। सांख्यतत्व कौमुदी में ग्यारह इन्द्रियवध (इन्द्रिय नाशक) इस प्रकार हैं—बधिरता, कुष्ठरूप चर्मरोग, अंधत्व, स्वपदों का ज्ञान न होना, मूकता, हाथ की विकलता, पैर की विकलता, क्लीवता, गुदा-दोष तथा विक्षिप्तता—ये क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु तथा मन के बध रूप दोष हैं। तुष्टि के विषय में सांख्यकारिकाकार का मन्तव्य है कि—

आध्यात्मिक्यश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादान काल भाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयोऽभिमताः ।। (सां० का०, ५०)

अर्थात् तुष्टि ९ प्रकार की होती है जिसमें प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य में चार आध्यात्मिक तुष्टि होती है और उपार्जन, संरक्षण, क्षय्, भोग और हिंसा ये पांच बाह्य तुष्टियां होती हैं।

सांख्य सूत्र (२.९) में 'सिद्धिरष्टधा' के आधार पर आठ सिद्धियों की चर्चा की गई है जो इस प्रकार हैं—ऊह, शब्द अध्ययन, सहृत, प्राप्ति, दान, आधिभौतिक दुःखाभिधान, आधिदैविक दुःखाभिघात् तथा आध्यात्मिक दुःखाभिघात्। सांख्य प्रवचन भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने भी अशक्ति २८ प्रकार की मानी है—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरूद्दिष्टा ।
सप्तदशवधा बुद्धे विपर्यात् सिद्धिनाम् ।।
(सां०प्र०भा०, सां० सू०, ३ ३८)

अविशेषसम—जहां वादी का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि यदि पक्ष और दृष्टान्त में समता है तो सभी पदार्थों के साथ भी समता दिखाई जा सकती है, तो वहाँ अविशेषसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४८१)।

अव्यक्त—इसका सामान्य अर्थ होता है अस्पष्ट, अप्रकट इत्यादि। न्यायदर्शन के अनुसार—**विशेषाग्रहणे च सामान्य ग्रहणं मात्रमव्यक्तम्** (वात्स्या०, ३.२.४४)। आशय यह कि पदार्थ का विशेष रूप से ज्ञान न रहते केवल सामान्य रूप से ज्ञान होना ही अव्यक्त कहलाता है। रामानुज दर्शन में अव्यक्त को जड़ द्रव्य का भेद माना गया है। सांख्य दर्शन में अव्यक्त को प्रकृति की विशेषता प्रतिपादित किया गया है। अद्वैत वेदान्त में '**अव्यक्तनाम्ना**' कहकर आचार्य शंकर ने अव्यक्त को माया का लक्षण स्वीकार किया है।

अव्याप्ति—**लक्ष्यैक देशवृत्तित्वं अव्याप्तिः** (त० भा०, पृ० ८)। अर्थात् लक्ष्य के किसी एक भाग में न रहना अव्याप्ति है। जैसे चितकबरेपन को यदि गोरा का लक्षण माना जाए तो उसमें अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि चितकबरा-पन लक्ष्यभूत गौरा समुदाय के एक भाग की ओर ही संकेत करता है।

असिद्ध—असिद्ध हेत्वाभास का एक भेद है। न्यायदर्शन में कहा गया है कि जिस हेतु में लिंगत्व-व्याप्ति और पक्षधर्मता (दोनों अथवा दोनों में से कोई एक) निश्चित न हो वह असिद्ध है (त० भा०, पृ० ११६)। इसके तीन भेद हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

असंप्रज्ञात—योग दर्शन में समाधि भेद। योग दर्शन के अनुसार—**सर्ववृत्ति-प्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः तस्य परं वैराग्य-मुपायः** (यो० सू०, १.१८)। तात्पर्य यह कि सभी वृत्तियों के अस्त (निरुद्ध) हो जाने पर जो वृत्तिरहित चित्त की स्थिति रूप निरोध है, वह असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है। उस असंप्रज्ञात समाधि का गुण वैतृष्ण्य रूप पर वैराग्य साधन है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि पर वैराग्य निर्वस्तुक होने से असंप्रज्ञात समाधि के आश्रय में हेतु कैसे हो सकता है? इसका समाधान करते हुए योग-दर्शन में कहा गया है—असंप्रज्ञात समाधि भी ध्येय रूप अर्थ शून्य है, निर्वस्तुक होती है। अतः निर्वस्तुक होते हुए भी पर वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का समाधान हो सकता है। असम्प्रज्ञात समाधि को ही निर्विज समाधि भी कहते हैं। इस सन्दर्भ में योग सूत्र (१.५१) में कहा गया है—**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधा न्निर्बीजः समाधिः**। तात्पर्य यह कि सभी वृत्ति प्रवाहों तथा तज्जन्य संस्कार

प्रवाहों का निरोध हो जाने को निर्विज समाधि कहते हैं। यही असंप्रज्ञात समाधि भी है।

असत्ख्याति—असत् का अर्थ है—शून्य। शून्यवादी बौद्ध के मत में न घटादि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व है और न विज्ञान का। यही कारण है कि उनके द्वारा की गई भ्रान्ति की व्याख्या असत्ख्याति के रूप में चर्चित हुई। 'इदं रजतं' के संदर्भ में इनका कथन है कि यहाँ पर न तो शुक्ति सत् है और न रजत ही। यहाँ इनका मन्तव्य है कि यदि भ्रामक ज्ञान और बाधक ज्ञान दोनों ही यथार्थ की प्रतीति करायें तो बाध्य-बाधक ज्ञान संभव नहीं होंगे; क्योंकि यथार्थ की प्रतीति कभी बाधित नहीं हो सकती। इसलिए भ्रम भी सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में रजत को अयथार्थ विषय मानना ही अधिक तर्क संगत है। शून्यवादियों ने इसे एक विशेष शब्द 'तुच्छ स्वभाव वाला' से अभिहित किया है।

असमर्थविशेषणासिद्ध—न्यायदर्शन के अनुसार—जिस हेतु का विशेषण भाग असमर्थ हो, व्यर्थ हो, साध्य-साधन में अनुपयुक्त हो, साथ ही विशेषण का अभाव होने से जिसका पक्ष में अभाव भी हो वह असमर्थ विशेषणासिद्ध होता है (त० भा०, पृ० ३५०)। जैसे—शब्द नित्य है, गुणत्व विशिष्ट अकारणत्व का आश्रय होने से। इस अनुमान में 'गुणत्व विशिष्ट अकारणकत्व' हेतु है। इसमें गुणत्व विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि नित्यत्व के साधन में अकेला अकारणत्व ही पर्याप्त है। गुणत्व-विशेषण का नित्यत्व के साधन में कोई सार्थकता नहीं है और आश्रय-शब्द में विशेषण के अभाव से विशिष्ट का अभाव भी है, अतः उक्त हेतु असमर्थ विशेषणासिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है।

असमर्थविशेष्यासिद्ध—न्यायदर्शन के अनुसार—जिस हेतु का विशेष्य भाग व्यर्थ होता है और विशेष्य का अभाव होने से पक्ष में जिसका अभाव होता है वह असमर्थ विशेष्यासिद्ध होता है (ता०भा०, पृ० ३५१)। जैसे—शब्द नित्य है, अकारणत्व विशिष्ट गुणत्व का आश्रय होने से। इस अनुमान में अकारण-कत्व विशिष्ट गुणत्व हेतु है। इस हेतु के विशेष भाग अकारणकत्व भाग से धर्म नित्यत्व का साधन हो सकने से गुणत्व रूप विशेष्यभाग व्यर्थ है। इसलिए यह असमर्थ विशेष्यासिद्ध है।

असमवायिकारण—कारणभेद। न्याय दर्शन के अनुसार—**यत्समवायि-कारण प्रत्यासन्नमवधृत सामर्थ्यम्। यथा तन्तु संयोग पटस्यऽसमवायिकारणम्** (त०भा०, पृ० ४८)। तात्पर्य यह कि जो किसी कार्य के समवायिकारण में

विद्यमान होता है तथा जिसमें उस कार्य के प्रति कारणत्व निश्चित होता है वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है। जैसे—तंतु संयोग पट का असमवायिकारण है। तन्तु संयोग एक गुण है, वह पट के समवायिकारण तंतु रूप गुणी में समवेत होने से पट के समवायिकारण में विद्यमान है तथा पट के प्रति अन्यथा सिद्ध न होने से एवं पट के प्रति नियत पूर्ववर्ती होने से उसमें पट के प्रति कारणत्व निश्चित है।

असम्भव—लक्ष्यमायावृत्तित्व असम्भव (त०भा०, पृ० ९)। किसी भी लक्ष्य में न रहना असम्भव है,। जैसे एक सफत्व को (बीच में फटी न होकर एक ही खुर होने को) यदि गौ का लक्षण कहा जाए तो असम्भव दोष होगा। क्योंकि गौ के खुर के बीच में फटी होने से लक्ष्य मात्र में—पूरे गौ समुदाय में एकसफत्व नहीं रहता, इस प्रकार गौ का एक सफत्व लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है।

असाधारण—न्याय दर्शन में अनेकान्तिक हेत्वाभास का भेद। सामान्य रूप से साधारण से जो विपरीत है वह असाधारण है। नव्य नैयायिक गंगेश उपाध्याय के अनुसार—**सर्व सपक्ष विपक्षं व्यावृतः पक्षमात्रवृत्तिः असाधारणः** (त०चि०, पृ० १०९)। आशय यह कि समस्त सपक्ष यानि कि साध्य युक्त स्थल में न रहना ही असाधारण है। जैसे—शब्दत्व युक्त होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में शब्दत्व हेतु प्रयुक्त है, जो केवल शब्द अर्थात् पक्ष में ही विद्यमान है अतः इस हेतु के आधार पर किसी निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकता। अतः इसे असाधारण हेत्वाभास कहा जाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**सपक्षत्वात् विपक्षात् व्यावृत्तो यः पक्षं वर्तते सोऽसाधारणनैकान्तिकः** (त०भा०, पृ० १२१)। तात्पर्य यह कि जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में न रहकर केवल पक्ष में ही रहता है वह असाधारण अनेकान्तिक होता है। जैसे—भूमिनित्य है क्योंकि उसमें गंध है। इस अनुमान में असाधारण अनेकान्तिक है क्योंकि वह जिनमें साध्य नित्यत्व निश्चित है उस आकाश आदि सपक्षों में तथा जिनमें साध्याभाव अनित्यत्व निश्चित है उन जल आदि विषयों में न रहकर केवल पक्ष भूमि में ही रहता है।

असूया—योग दर्शन में कालुष्य भेद। योग दर्शन के अनुसार—अपने से अन्य पुण्यात्मा पुरुष के सद्गुणों में दोषारोपण करने को असूया कालुष्य कहा जाता है (यो०सू०, १.३५)। न्याय दर्शन के अनुसार—**ईर्ष्याऽसूया** (वात्स्या०, ४.१.३) अर्थात् दूसरों के गुण को सहन न करना असूया है।

अस्तेय—सामान्य रूप से किसी दूसरे की वस्तु का अपहरण न करना

अस्तेय है। वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि **सोयमशास्त्र पूर्वक द्रव्याणां परतः स्वीकरणम् तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृद्धारूपमस्तेयामिति** । तात्पर्य यह कि दूसरे के धन का अपहरण न करना मात्र अस्तेय नहीं है, बल्कि दूसरे के द्रव्य के लिए मन में इच्छा का भाव न होना ही वास्तविक अस्तेय है।

अस्मिता—योग दर्शन में कहा गया है—**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्यतेयास्मिता** (यो०सू०, २.६)। आशय यह कि दृक्शक्ति (दृष्टा, पुरुष, आत्मा) और दर्शन-शक्ति (बुद्धि, करण) दोनों में एकाकारता जैसा मान लेना अस्मिता है। अस्मिता के कारण ही 'अह्मस्मि' (मैं हूँ) इस रूप में एकता का बोध होता है। अविद्या और अस्मिता एक दूसरे से काफी निकट प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों में अन्तर है। अविद्या की अवस्था में बुद्धि आदि में सामान्य रूप से 'अहं' की भावना बनी रहती है किन्तु उसमें कहीं भेद भी रहता है, तथा कहीं अभेद भी। परन्तु अस्मिता में आत्यन्तिक रूप से अभेद हो जाता है।

अहंकार—सांख्य दर्शन में अहंकार की उत्पत्ति महत्तत्व से होती है। **अभिमानोऽहंकारः** (सां०सू०, २.१६)। आशय यह है कि अहंकार अभिमान धर्मक है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने अहंकार के लक्षण के प्रसंग में कहा है—

> **अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्वि विधः प्रवर्तते सर्गः।**
> **एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥** (सां० का०, २४)

तात्पर्य यह कि अभिमान को अहंकार कहते हैं। यानि कि अभिमान अहंकार का कार्य है। इससे (अहंकार से) दो प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं। (१) ग्यारह इन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय एवं एक मन उत्पन्न होता है। (२) पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। इन दो कार्यों के अतिरिक्त अहंकार का अन्य कोई कार्य स्वीकार नहीं किया जाता है।

अहिंसा—सामान्य रूप से अहिंसा का बोध हिंसा न करना से लिया जाता है। व्यासभाष्य (२.३०) में कहा गया है कि—**अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूता-मनभिद्रोहः**। अर्थात् सर्वथा सर्वदा सभी प्राणियों के साथ द्रोह रहित होना अहिंसा है। जैन दर्शन भी अहिंसा के इसी रूप को स्वीकार करता है।

आ

आकांक्षा—वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**पदार्थानां परस्पर जिज्ञासा विषयकत्वयोग्यत्वमाकाँक्षा** (वे० परि०, पृ० १७१)। अर्थात् पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहते हैं। जैसे—**गामआनय**, इस वाक्य में गाम् और आनय दो पद हैं। इन दो पदों में से आनय पद के उच्चारण करते ही '**किं आनय**' यह आकाँक्षा उत्पन्न होती है। नैयायिक आकांक्षा का लक्षण अन्य प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार—**पदस्य पदान्तर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननु भावकत्वम्** (वे० परि०, पृ० १७४)। आशय यह कि अपने को अपेक्षित दूसरे पद के अभाव के कारण (अनुच्चारण के कारण) एक पद का शब्दबोध न होना ही आकांक्षा है। जैसे—**गामानय** यह वाक्य है। परन्तु यदि कोई 'गाम्' इतना ही पद कहे तो उसे अपेक्षित 'आनय' पद के अभाव के कारण 'गाम्' पद से अन्वय का बोध नहीं होता। अर्थात् 'गाम्' के साथ 'आनय' पद का उच्चारण होने पर ही अन्वय का बोध होगा। बिना उसके नहीं होगा। इसलिए यह वाक्य साकांक्ष है। मीमांसक नैयायिकों के इस लक्षण को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने वेदान्तियों की तरह ही आकांक्षा के लक्षण को माना है। वेदान्तियों और नैयायिकों में यहां पर मूलभूत अन्तर यह है कि नैयायिक एक पद को दूसरे पद की आकांक्षा मानते हैं, और वेदान्ती आकांक्षा पद को न मानकर उसके अर्थ को स्वीकार करते हैं।

आकाश—वैशेषिक दर्शन द्वारा माने हुए नौ द्रव्यों में से आकाश पांचवां द्रव्य है। यह विभु अर्थात् नित्य तथा सर्वव्यापी द्रव्य है। यह 'शब्द' गुण का आधार है '**शब्दगुणकमाकाशम्**'। औलूक्य दर्शन के अनुसार—**संयोगाजन्य जन्य विशेष गुण सामानाधिकरण विशेषाधिकरणमाकाशम्** (सर्व० सं०, पृ० ४१३)। तात्पर्य यह कि संयोग से उत्पन्न न होने वाले (संयोगाजन्य) तथा अनित्य (जन्य) आकाश के विशिष्ट गुण के साथ जो विशेष समानाधिकरण (समान) हो उसी विशेष का आधार आकाश है। सांख्य दर्शन ने विकासवाद की व्याख्या के सन्दर्भ में पांच महाभूतों की चर्चा की है। इन महाभूतों में आकाश को भी एक महाभूत माना गया है। इसके अनुसार—आकाश का विशिष्ट गुण है—शब्द। सांख्य मत में यह अव्यापक तथा अनित्य है। यहां द्रष्टव्य यह है कि

न्याय-वैशेषिक मत में आकाश को शब्द का गुण कहा गया है, किन्तु सांख्य दर्शन में शब्द को आकाश का गुण कहा गया है। आशय यह कि न्याय-वैशेषिक में आकाशादि भूतों को गुण माना गया है। आकाश के पांच तत्व हैं—काम, क्रोध, शोक, मोह और भय। इनका मूल स्रोत है—हृदयाकाश। वेदान्त दर्शन में आकाश का उल्लेख पञ्चीकरण के सिद्धान्त में किया गया है। पञ्चीकरण का लक्षण है—**पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषुवैशेष्यात्तुतद्वादस्तद्वदः।** तात्पर्य यह कि पञ्चीकृत स्थूल भूतों में आधा भाग मिला होता है। जैसे—सूक्ष्म आकाश के अर्धभाग में १/२वाँ भाग सूक्ष्म पृथिवी, १/८वां सूक्ष्म वायु, १/८ वां सूक्ष्म अग्नि, १/८ वां सूक्ष्म जल का मिलने पर वह पञ्चीकृत (स्थूल) आकाश बन जाता है। इसी प्रकार शेष चार भूतों का भी पञ्चीकरण होता है। इसके साथ ही आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में **आकाशलिङ्गात्** सूत्र की व्याख्या में आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण होना स्वीकार किया है—**आकाश शब्देन्-ब्रह्मणोग्रहणम्** (ब्र० सू०, शां० भा०, १.१.२२)। जैन दर्शन में आकाश उसे कहा जाता है, जो धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल जैसे अस्तिकाय द्रव्यों को स्थान देता है। इनके अनुसार आकाश के दो प्रकार हैं—लोकाकाश और आलोकाकाश। लोकाकाश का लक्षण है—**लोकाकाशेऽवगाहः।** अर्थात् समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) लोकाकाश है। आशय यह कि आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि द्रव्य रहते हैं उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं, शेष आकाश को आलोकाकाश कहते हैं। बौद्ध दार्शनिक आवरण के अभाव को आकाश कहते हैं। अभि० को० (१-५) में कहा गया है—**आकाशं अनावृत्ति**—अर्थात् आकाश न किसी का अवरोध करता है और न स्वयं किसी से अवरूद्ध होता है। उन्होंने इसे नित्य एवं भाव रूप माना है।

आगम—इसका सामान्य अर्थ होता है—आना, पहुंचना इत्यादि। इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजा श्रुतौ ।
यतं च वासुदेवस्य तस्मादागमम्मुच्यते ॥

आशय यह है कि निगम और आगम ये दो मुख्य विभाग भारतीय शास्त्रों के माने जाते हैं। वैसे साधारणतया आगम शब्द से सभी शास्त्रों का ज्ञान होता है, किन्तु जब वह निगम के साथ प्रयुक्त होता है, तब इसे तन्त्र शास्त्र, शक्ति या भक्ति प्रधान शास्त्र ही समझा जाता है। औलुक्य दर्शन में आगम को योग प्राप्ति का साधन बतलाया गया है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।। (सर्व० सं०, पृ० ३९४)

आशय यह कि आगम से, अनुमान से, तथा ध्यानाभ्यास के बल से इस प्रकार तीन तरह से अपनी बुद्धि को परमेश्वर के विषय में लगाकर साधक उत्तम योग प्राप्त करता है ।

महाभाष्यकार ने आगम को व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन स्वीकार किया है । उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—**रक्षोहागमम् लघ्वसंदेहा प्रयोजनम्** । अर्थात् रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असंदेह ये व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन है ।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने ज्ञान के साधन के रूप में मुख्य रूप से छः प्रमाणों की चर्चा की है । वे है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । इनमें से जो शब्द प्रमाण है उसे आगम प्रमाण के नाम से भी अभिहित किया जाता है । इस अर्थ में आगम का उल्लेख प्रमाण के रूप में होता है । वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी में आगम की व्याख्या करते हुए कहा है—**आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदय निःश्रेयसोपायाः सः आगमः** (त० वै०, १.६) । अर्थात् आगम वह शास्त्र है, जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं । न्याय दर्शन के अनुसार—विशेष वर्गों के विशेष संघटन को आगम कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ५०२) । बौद्ध दर्शन के अनुसार—शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषक, उच्चाटन तथा मारण और ध्यानयोग इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थ को आगम कहते हैं ।

आचार—इसका सामान्य अर्थ है—आचरण, व्यवहार, काम करने के रीति-रिवाज, चाल-चलन, लोकाचार इत्यादि । स्मृतियों में आचार तीन प्रकार का माना गया है—(१) देशाचार, (२) जात्याचार, (३) कुलाचार । बौद्ध दर्शन में कहा गया है—**गुरूक्तस्यार्थस्यांगीकरणमाचारः** (सर्व० सं०, पृ० ६६) । आशय यह कि गुरु की कही हुई बातों को स्वीकार करना आचार कहलाता है । आचार शब्द की विस्तृत व्याख्या जैन दर्शन में दृष्टिगत होती है । जैन दर्शन में मोक्षानुभूति के लिए तीन प्रकार का आचार स्वीकार किया गया है—**सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः** (त० सू०, ६) । अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र इन तीनों का एक साथ आचरण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है । सत्य के प्रति श्रद्धा का आचरण करना

'सम्यक् दर्शन' कहा जाता है । संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यक ज्ञान कहलाता है । सम्यक् चरित्र वह है जिसमें हितकर कार्यों का आचरण और अहितकर कार्यों का वर्जन किया जाता है । इसके लिए निम्नलिखित आचरण आवश्यक है—

(१) व्यक्ति को पांच प्रकार की समिति का पालन करना चाहिए—(क) ईर्या समिति, (ख) भाषा समिति, (ग) एषणा समिति, (घ) आदान निक्षेपण समिति, (ङ) उत्सर्ग समिति।

(२) व्यक्ति को शरीर, वचन, तथा मन से स्वाभाविक प्रवृत्तियों का निषेध करना चाहिए, इन्हें जैन दर्शन में गुप्ति कहते हैं ।

(३) दस प्रकार के धर्मों का आचरण करना । ये धर्म हैं—सत्य, क्षमा, शौच, तप, संयम, त्याग, विरक्ति, सरलता और ब्रह्मचर्य ।

(४) पंच महाव्रत— यह सभी आचरणों से महत्वपूर्ण माना गया है । ये पंच महाव्रत हैं—(क) अहिंसा, (ख) सत्य, (ग) अस्तेय, (घ) ब्रह्मचर्य तथा (ङ) अपरिग्रह ।

इन उपरोक्त कर्मों का आचरण करके जीव मोक्षानुभूति के योग्य हो जाता है ।

अद्वैत वेदान्त में चरण, चरित्र, आचार और शील इन्हें एकार्थक शब्द माना गया है (ब्र० सू०, शां० भा०, ३.१.९)। जो जैसा कर्म और जैसा आचरण करता है वह वैसा ही होता है । इसलिए जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरों का नहीं । आशय यह कि जो शुभ आचरण हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिए । इस प्रकार श्रुति, कर्म और चरण का भेद से व्यपदेश करती है । इष्ट आदि कर्म समुदाय को चरण की अपेक्षा है, क्योंकि **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**— अर्थात् आचारहीन को वेद इत्यादि कर्म पवित्र नहीं करते । स्मृतियों से सदाचारहीन कोई अविकृत नहीं होता । पुरुषार्थत्व पुरुष संस्कारत्व में भी आचार अनर्थक नहीं है क्योंकि इष्ट आदि कर्म समुदाय के फल के आरम्भ करने पर इनकी अपेक्षा रखने वाला आचार उनमें ही कुछ अतिशय-विशेष आरम्भ करता है । कर्म तो सर्व अर्थ करने वाला है ऐसा श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है । इसलिए कर्म ही शील से उपलक्षित अनुशय रूप होकर जन्म की प्राप्ति में कारण है और कर्म के सम्भव होने पर शील से जन्म प्राप्ति युक्त नहीं है (ब्र० सू०, शां० भा०, पृ० ३.१.९-१०)। शाक्त मत में सात

प्रकार के आचार बतलाए गए हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, बामाचार, सिद्धान्ताचार तथा लोकाचार ।

आचार्य—अध्यापक या आध्यात्मिक गुरू को आचार्य कहते हैं । मनुस्मृति (२.१४०) में कहा गया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सांगम् च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।

अर्थात् जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का उपनयन करके उसे वेदाङ्गों और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद का पठन कराता है उसे ही आचार्य कहते हैं ।

आत्मख्याति—ख्याति भेद । यह ख्यातिवाद के सन्दर्भ में विवेचित विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों का मत है । विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक विज्ञान मात्र को छोड़कर घट-पट आदि रूप किसी भी पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते । भ्रम के सिद्धांत के आलोक में विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों का कथन है कि शुक्ति में जो रजत का भ्रम होता है उसमे रजत वस्तुतः मानसिक तथ्य है जिसका कि बाह्यकरण होता है । इसका मूल कारण है—पुरूषों की उद्दीपन होने वाली अनादि एवं विचित्र वासनाएँ । इसलिए ये अयथार्थ की प्रत्यायिका भी हैं, जो कि शुक्ति पर आरोपित होकर रजत रूप में प्रतिभासित होती हैं ।

आत्मा—अतति सततं गच्छति, व्याप्नोति वा आत्मा । अर्थात् व्यापकता आत्मा का स्वरूपगत धर्म है । आशय यह कि जो आप्त सा सभी में व्याप्त हो वह आत्मा है । बृहदारण्यक उपनिषद् (२.५.६) में कहा गया है—**अयमात्मा सर्वानुभः** अर्थात् सर्वज्ञता आत्मा का गुण है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा को अंतर्यामी कहा गया है—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चा ।।

(श्वेता० उप०, ६.११)

तात्पर्य यह कि एक देव सब भूतों में अन्तर्निहित है, वह सब में व्याप्त है, सब भूतों का अंतः स्थित आत्मा है, वह सभी के कर्मों का प्रत्यक्ष कर्ता है; सभी भूतों में रहता है, वह साक्षात् दृष्टा, चेता, केवल एवं निर्गुण है ।

श्रीमद्भगवत् गीता में आत्मा को अलिप्त एवं सर्व प्रकाशक कहा गया है जैसे आकाश चारो ओर भरा हुआ है परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे

किसी का लेप नहीं लगता, वैसे ही देह में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को किसी का लेप नहीं लगता। जैसे एक सूर्य सारे जगत को प्रकाशित करता है; वैसे ही आत्मा सब क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (गी०, १२.३२-३३)

न्याय सूत्रकार गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रदान, सुख-दुःख, और ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है (न्या० सू०, १.१.९)। न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि आत्मा कर्त्ता है उसी के गुण धर्म-अधर्म, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि भोगों का नियमन करते हैं—

कृतधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव यः।
अन्यथायपवर्गः स्याद संसारोऽथवा ध्रुवः॥ (न्या० कु०, १.१४)

परवर्ती नैयायिक विश्वनाथ के अनुसार—**आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सत्कर्तृकम्** (कारि०, ४७)। अर्थात् इन्द्रिय एवं शरीर आदि के अधिष्ठाता को आत्मा कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**प्रणापान निमिषोन्मेष जीवन-मनोगतीन्द्रियान्तविकाराः सुख दुखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि** (वै० सू०, ३.२.४)। आशय यह कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि मनोगत अतीन्द्रिय विकार के साथ प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा के लिङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार—**आत्मत्वाभि सम्बन्धादात्मा** (प्र० भा०, पृ० ३०)। अर्थात् आत्मत्व विशिष्ट को आत्मा कहते हैं। वैशेषिक दर्शन आत्मा में १४ गुण मानता है—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, भावना, धर्म एवं अधर्म। सांख्य दर्शन में आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है। सांख्यतत्वकौमुदीकार ने कहा है—**आचार्येण त्रिगुणादि विपर्याद् इति वदताऽसंहृतः परोविवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम्** (सां० त० कौ०, पृ० १३५)। आशय यह कि आचार्य ईश्वर कृष्ण के **त्रिगुणात् विपर्यात्** कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न कोई असंयत पदार्थ है और यही आत्मा है। योग दर्शन में आत्मा को चित्त की वृत्तियों का भोक्ता एवं ज्ञाता कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि सांख्य दर्शन में आत्मा को

अनुमान का विषय माना गया है जबकि योग दर्शन में यह (आत्मा) प्रत्यक्ष का विषय है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—क्रिया सम्पन्न करने वाला अपनी क्रिया से भिन्न अस्तित्व रखने वाला इच्छा, ज्ञान आदि क्रिया का सम्पादक आत्मा कहलाता है (मी० प्र०, पृ० ६४)। कुमारिल का मत है—

अहं वेधीत्यहं बुद्धिर्ज्ञातारमधि गच्छति।
तम स्याद् ज्ञातृविज्ञानं तदाधारोऽथवापुमान्॥
(श्लो० वा०, आ०, श्लोक १२०)

आशय यह कि आत्मा का बोध अहं प्रत्यय द्वारा होता है। आत्मा के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कुमारिल ने कहा है—

गुणत्वादाक्षिक्त्वं हि सुखादेः स्याद् रसावित्।
यः आश्रित स आत्मेति तु वाणस्यैतदुत्तरम्॥
(श्लो० वा०, आ०, श्लोक १०१)

आशय यह कि सुख आदि का जो आश्रय है वह आत्मा है। शालिकनाथ ने प्रकरण पञ्जिका में कहा है—**सर्वा हि प्रतीतिरेवमुपजायतेऽहमिदं जानामिति** (प्र० पं०, पृ० १६८)। तात्पर्य यह कि अहं प्रतीति (आत्मचेतना) के द्वारा इदं प्रतीति का बोध होता है। यहां द्रष्टव्य यह है कि न्याय दर्शन में माने गये नव द्रव्यों में आत्मा एक द्रव्य है, मीमांसा दर्शन में भी नैयायिकों की तरह आत्मा को द्रव्य माना गया है। अद्वैत वेदान्ती गौड़पादाचार्य ने आत्मा के स्वरूप के प्रसंग में कहा है—

आत्मा ह्याकारा वज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्नि दर्शनम्॥

अर्थात् आत्मा निर्विकार है। भूत या जीव की उत्पत्ति से आत्मा को उसी प्रकार से कोई हानि नहीं होती जिस प्रकार घट की उत्पत्ति से आकाश को।

शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४१) के भाष्य में कहा है—**दृष्टिरेव स्वरूपमस्य अग्न्यौष्ण्यवत्। न काणादानमिव दृष्टि व्यतिरिक्तोऽन्यश्चेतनो दृष्ट**। अर्थात् दृष्टि ही आत्मा है। दृष्टि से अतिरिक्त आत्मा का स्वरूप नहीं है। सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है—**नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सत्य स्वभाव प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्त विदनुभवः** (वे०सा०, पृ० १४६)। आशय यह है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, (चैतन्य) मुक्त और सत्य स्वभाव वाला सबसे भीतरी चैतन्य ही आत्मतत्व है। विद्यारण्य ने विवरण प्रमेय संग्रह (पृ० १७)

में कहा है—लोक में वेद से चैतन्य पर्यन्त संघात को आत्मा कहा जाता है। वैष्णव दर्शन में रामानुज ने आत्मा को ज्ञाता कहा है। वे उसके ज्ञान रूप का निषेध करते हैं। वैयाकरणों ने वाक्तत्व को आत्मा के रूप में प्रतिस्थापित किया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस दर्शन में माध्यमिक मतावलम्बी आत्मा को शून्य बतलाते हैं। इनके अनुसार—आत्मा न दुःख रूप है और न बोध रूप। वह सर्वभाव रूप होने से शून्य है। जैन दर्शन में आत्मा को जीव का पर्याय माना गया है। उनके अनुसार—चेतना ही आत्मा या जीव का स्वरूप है। वे अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द को आत्मा का स्वभाव बतलाते हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि भारतीय दर्शन में आत्मा के लक्षण के विषय में जो प्रतिपत्ति दी गई है उनमें नैयायिक आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं, सांख्य अनुमान का विषय मानता है एवं वेदान्तो अनुभूति का और योग दर्शन आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय मानता है।

आत्मानिरवयव—सांख्य दर्शन में आत्मा को निरवयव कहा गया है। सांख्य प्रवचनभाष्यकार के अनुसार—**भागिनः पुरुषस्य प्रधानस्य चावयवो न युज्यते निरवयव श्रुतेः**। आशय यह कि पुरुष और प्रकृति का कोई अवयव नहीं है। क्योंकि श्रुति में इन दोनों को निरवयव कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.१९) में कहा गया है—**निष्फलं निष्क्रियं शान्तं निरवयवं निरञ्जम्**।

आत्माश्रय—लक्षण दोष। तर्कभाषाकार के अनुसार—**स्वज्ञान सापेक्ष ज्ञान विषयत्वम् आत्माश्रयः** (त०भा०, पृ० ९)। आशय यह कि किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिए अपेक्षणीय ज्ञान का विषय हो जाना आत्माश्रय है। जैसे 'गां' से भिन्न में न रहने वाली और सम्पूर्ण गां में रहने वाली जाति—गां का लक्षण है, यदि यह कहा जाय तो उस लक्षण में आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि 'गां' के लक्षण में 'गां' का प्रवेश हो जाने से गां के ज्ञान में गां का ही ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है। फलतः अपेक्षणीय ज्ञान के अभाव में अपेक्षक ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता।

आत्यन्तिक—प्रलय का भेद। **ब्रह्म साक्षात्कार निर्मितकः सर्व मोक्षः आत्यन्तिकः** (वे०परि०, पृ० ३२४)। आशय यह कि तत्व ज्ञान होने पर अविद्या और उसके समस्त कार्यों का जो विनाश होता है वह आत्यन्तिक प्रलय है।

आदान समिति—जैन दर्शन में समिति भेद। जैन दर्शन के अनुसार—

आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नतः ।
गृह्णीयान्निक्षिपेद्ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृता ।।

(सर्व० सं०, पृ० १६५)

आशय यह कि आसन आदि को अच्छी तरह देखकर यत्नपूर्वक उस पर बैठकर ग्रहण करना, रखना तथा ध्यान करना आदान समिति कही जाती है ।

आधिदैविक—दुःख-भेद । भारतीय दर्शन के लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इसे स्वीकार किया है । सांख्य तत्व कौमुदी में कहा गया है—**आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायक ग्रहाद्यावेश निबन्धनम्** (सां०त०कौ०, पृ० ३) । आशय यह कि यक्ष, राक्षस, विनायक (विघ्नकारी देव जाति विशेष), ग्रह आदि के आवेश से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है ।

आधिभौतिक—दुःख-भेद । सांख्य दर्शन के अनुसार—**आधिभौतिक मानुषपशुमृगपक्षी सरीसृतस्थावर निमित्तम्** (सां०त०कौ०, पृ० ३१) । आशय यह कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सर्पादि तथा स्थावर (स्थित शील वृक्षादि) से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक कहलाता है ।

आध्यात्मिक—दुःख-भेद । सांख्य दर्शन के अनुसार—**अन्तरोपाय साध्यत्वा-दाध्यात्मिक दुःखम्** (सां०त०कौ०, पृ० ३१) । आशय यह कि अभ्यान्तर उपायों से होने वाला दुःख आध्यात्मिक कहा जाता है । शरीर और मानस भेद से यह दो प्रकार का होता है । वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न दुःख को शरीर और काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय, ईर्ष्या एवं विषाद से उत्पन्न तथा अभीष्ट विषय की अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख को मानस कहते हैं ।

आनन्द—आध्यात्मिक सुख । योग दर्शन के अनुसार—**आनन्दोह्लादः** (यो०सू०, १.१७) । अर्थात् आह्लाद यानि सुख या प्रसन्नता आनन्द है । यहाँ आनन्दोह्लादः के द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने आनन्दानुगत या सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप की चर्चा की है । अद्वैत वेदान्ती आनन्द को ब्रह्म का स्वरूप लक्षण मानते हैं । तैत्तिरीयोपनिषद् (३.१) में कहा गया है—**आनन्दात् एव खल्विमानिभूतानिजायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्देन प्रयन्त्यभि संविशन्तीति** । तात्पर्य यह कि आनन्द से ही ये सभी भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में यानि विनष्ट होते समय आनन्द में ही लीन हो जाते हैं ।

आनुश्रविक—गुरु के उपदेश के अनन्तर भी सुने जाने के कारण वेद को अनुश्रव कहते हैं । अनुश्रव में उत्पन्न अर्थात् अनुश्रव से प्राप्त या ज्ञात होने वाला

उपाय आनुश्रविक कहलाता है। आनुश्रविक कर्म कलाप भी लौकिक उपाय के सदृश हैं क्योंकि दोनों ही उपाय त्रिविध दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति करने में समान रूप से असमर्थ हैं।

आन्वीक्षिकी—प्रत्यक्ष दृश्य तथा शास्त्र श्रुतविषयों के तात्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या आन्वीक्षिकी है। न्याय दर्शन में आन्वीक्षिकी को सर्वश्रेष्ठ विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है। न्यायसूत्र के प्रारम्भ में ही कहा गया है—

> **प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायं सर्वकर्मणाम् ।**
> **आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता ॥**

वात्स्यायन ने न्याय भाष्य के प्रथम सूत्र में कहा है कि—**प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा । तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी** (न्या०सू०, १.१)। आशय यह कि आन्वीक्षिकी में स्वयं न्याय का तथा न्याय की प्रणाली से अन्य विषयों का प्रतिपादन होने से उसे न्यायविद्या या न्यायशास्त्र कहा जाता है।

आप्त—इसका सामान्य अर्थ होता है—जिसकी इच्छा पूर्ण हो गई है या जिसने सांसारिक वासनाओं और आसक्तियों का त्याग कर दिया है, वह आप्त है। वात्स्यायन के अनुसार—**साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः तथा प्रवर्तत इत्याप्तः । ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्** (वात्स्या०, १.१-७)। तात्पर्य यह कि जिसने साक्षात् किया है यानि कि जिस पुरुष ने विषय को सुदृढ़ प्रमाण से निश्चित किया है तथा जिस प्रकार से विषय को देखा है उसी प्रकार से उसकी प्रसिद्धि करने की इच्छा से प्रेरित होकर दूसरे को यथार्थ उपदेश करता है, वह आप्त है। यह ऋषि, आर्य या म्लेच्छ कोई भी हो सकता है। न्यायदर्शन में सर्वज्ञ और असर्वज्ञ भेद से आप्त दो प्रकार का माना गया है। सर्वज्ञ में अप्रमाणिकता के कारण द्वेष आदि दोषों की संभावना न होने से उसके अस्तित्व के बोधक प्रमाणों से ही उसके वचनों की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। असर्वज्ञ आप्त के प्रमाण के लिए वर्णनीय का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ को प्रकट करने की इच्छा तथा वाक् इन्द्रिय का ठीक होना इन तीन बातों की आवश्यकता है।

आभास—**आपाततः भाषा आभासः।** जीव और ईश्वर के अभेद सम्बन्ध को प्रतिपादित करने के लिए शंकराचार्य ने अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद के साथ-साथ आभासवाद को भी स्वीकार किया है। शंकर के ही आधार पर

आधार पर सुरेश्वराचार्य ने अद्वैत वेदान्त में एक अलग परम्परा की स्थापना की। अद्वैत वेदान्त में वार्तिककार सुरेश्वर ने आभास को प्रतिबिम्ब का पर्याय स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

अप्रविष्ट स्वभावस्य दिग् देशाद्यभिरप्लुतेः।
प्रवेशोव्याकृते क्लृप्तो जल पात्रार्कबिम्बवत्॥

(बृ०भा०वा०, १.४.६०८)

आशय यह कि जैसे जल पात्र में सूर्य बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट होता है वैसे ही अप्रविष्ट स्वभाव वाले तत्व का जगत में प्रवेश उस सूर्य प्रतिबिम्ब के समान ही कल्पित है। आचार्य शंकर एवं सुरेश्वर दोनों ने ही जीव को आत्मा का आभास रूप प्रतिपादित किया है। इस सन्दर्भ में शंकराचार्य का मन्तव्य है—**आभास एव चैव जीवः परमात्मनो जल सूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः** (ब्र०सू०, शां० भा०, २.३.५०)। तात्पर्य यह कि जीव, जल सूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास है। इसी तरह छान्दोग्योपनिषद् (६.३.२) के भाष्य में भी उन्होंने इसी बात की चर्चा करते हुए कहा है—**जीवोहि नाम देवताया आभासभासम्**—अर्थात् जीव देवता (ईश्वर) का आभास मात्र है। स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी में ईश्वर तथा जीव दोनों को आभास स्वरूप माना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है—

मायाभासेन जीवेशो करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितामेव जीवेशोत्म्यां सर्व प्रकल्पितम्॥ (पं०द०, ६.३११)

न्याय दर्शन के अनुसार—**अनुमानं प्रत्यक्षागम विरुद्धं न्यायाभासः**। आशय यह कि जो अनुमान, प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण के विरुद्ध होता है वह आभास है। यहाँ आभास का तात्पर्य अयथार्थ ज्ञान से है। जैसे शुक्ति में रजताभास इत्यादि।

आभोग—इसका सामान्य अर्थ होता है—परिधि या परिसर। योग दर्शन के अनुसार—**वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः** (यो०सू०, १.१७) तात्पर्य यह कि चित्त का आलम्बन रूप स्थूल पंच महाभूत रूप ग्राह्य विषय को आभोग कहते हैं।

आयुकर्म—**आयुर्वचनं तत्समीपेतन्निबंधनत्वात्** (भा०, पृ० ७४४)। अर्थात् शरीर स्थिति का हेतुभूत कर्म आयुकर्म है। जैन दर्शन की मान्यता है कि आयुकर्म शारीरिक बंधन में डालता है। जैसे—जल तैरने में शरीर को धारण

करता है उसी प्रकार आयु कर्म भी देह धारण करता है (सर्व० सं०, पृ० १६१) ।

आर्थीभावना—जहां पर अभिधा-भावना के द्वारा अध्ययन की ओर पुरुषों की प्रवृत्ति सिद्ध होती है, यह प्रवृत्ति ही आर्थीभावना है । यह आर्थीभावना किसी भाव्य (साध्य, उद्देश्य) की अपेक्षा रखती है ।

आलम्बन—बौद्ध दर्शन में ज्ञान का कारण । बौद्ध दर्शन के अनुसार—विषय के आधार को आलम्बन कहते हैं । इस पर आश्रित होकर प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होता है (सर्व०सं०, पृ० ८६) । अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**यस्मिन्विज्ञाने यद्वभासते तत्तदालम्बनम्** (सर्व०सं०, पृ० ८०४) । तात्पर्य यह कि जिसके ज्ञान में जो प्रतीति होती है वही उसका आलम्बन (विषय) होता है । जैसे सीपी को आलम्बन मानेंगे तो सीपी का ही अनुभव होगा । शालिकनाथ ने प्रकरण पंजिका (४.२३-२४) में कहा है—

अथ ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते ।
वेद्यसः एव तन्यद्धि वेद्यावेद्यत्व लक्षणम् ॥
इदं रजतमित्यम् रजतं तत्वभासते ।
तदेव तेन वेद्यस्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥

तात्पर्य यह कि जिस विज्ञान में जो पदार्थ प्रतीत होता है, वही उस ज्ञान का आलम्बन होता है । वैध या अवैध होने का लक्षण किसी दूसरे में नहीं होता । 'यह चाँदी है' इसमें चांदी की ही प्रतीति होती है । अतः इस प्रतीति का आलम्बन चाँदी ही हो सकती है, सीपी नहीं ।

आलस्य—योग दर्शन में विक्षेप का भेद । योग दर्शन के अनुसार—**आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः** (यो० सू०, १.३०) । अर्थात् शरीर और चित्त की जो भारी होने से अप्रवृत्ति है उसे आलस्य कहा जाता है । जिस समय कफ के आधिक्य से शरीर और तमोगुण के आधिक्य से चित्त भारी होता है उस समय आलस्य होता है ।

आशय—**फलविपाकाचित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः धर्माधर्मसंस्काराः** (सर्व० सं०, पृ० ७०३) । अर्थात् फल के पूर्णतः परिणत होने के समय तक जो चित्त की भूमि में अवस्थित रहते हैं वे आशय हैं । कहने का तात्पर्य यह कि धर्म और अधर्म का संस्कार ही आशय है ।

आश्रयासिद्ध—हेतु दोष । न्याय दर्शन के अनुसार—**यस्य हेतोराश्रयो**

नावगम्यते स आश्रयासिद्धः (त०भा०, पृ० ३४७) । अर्थात् जिस हेतु का आश्रय सिद्ध न हो, वह आश्रयासिद्ध होता है। जैसे—आकाश कमल सुगन्ध युक्त है, कमल होने से, सर में उत्पन्न कमल के समान, इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर अरविंदत्व हेतु आश्रयासिद्ध होता है। क्योंकि उसका आश्रय आकाशकमल असत् है—सिद्ध नहीं है। नव्यनैयायिक इसका लक्षण अन्य प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार—पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव असिद्धि है। यह अभाव सम्बन्ध से जिस हेतु में रहे, वह आश्रयासिद्ध है।

आसत्ति—पद जन्य पदार्थ के अव्यवधान से उपस्थित होना ही आसत्ति है (वे० परि०, पृ० १८३)। जैसे गाय और आनय दोनो पर, एक के बाद एक ऐसे क्रम से; बीच में अन्य पद के व्यवधान से रहित, उच्चारण करने से ही उससे वाक्यार्थ बोध होता है। परन्तु यदि कोई 'गाँ' कहकर चुप हो जाये तो श्रोता को उस वाक्य से कुछ भी अर्थ बोध नहीं होगा। इसलिए आसत्ति शब्द बोध में कारण रहती है।

आसन—**आस्यतेऽनेन इति आसनम्**। हस्त पदादि अंगों को किसी स्थिति विशेष में स्थिरता पूर्वक रखना आसन कहलाता है। योग सूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार—**स्थिर सुखमासनम्** (यो०सू०, २.४६)। तात्पर्य यह कि शरीर को सुख देने वाली तथा चित्त को स्थिर रखने वाली स्थिति को आसन कहते हैं। व्यास भाष्य में ग्यारह आसनों की चर्चा की गई है—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्य्यंकासन, कौचनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, समसंस्थानासन इत्यादि। आचार्य शंकर ने अपरोक्षानुभूति में आसन के सन्दर्भ में कहा है—

> **सुखनैव अवेधस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।**
> आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम्॥ (अपरो०, १२)

अर्थात् जिस स्थिति में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मचिन्तन होता रहे, उसे ही आसन समझना चाहिए।

इ-ई

इन्द्रिय—**इन्द्रस्य लिंगम् इति इन्द्रियम्** । यह व्याकरण सम्मत 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति है । इसका भाव यह है कि जो इन्द्रय का अनुमान करा दे वह इन्द्रिय है । दार्शनिक दृष्टि से 'इन्द्र' शब्द का अर्थ है—अन्तरात्मा । इन्द्रिय के स्वरूप के संबंध में भारतीय दर्शन में भिन्न-भिन्न दृष्टि मिलती है । बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार—इन्द्रिय वे बाह्य आकार या गोलक हैं जिन्हें शरीर से भिन्न-भिन्न भागों में देखा जाता है । **गोलकस्थेन्द्रियत्वमिति बौद्धः** (न्या०सू०वृ०, ३.१.३०) । इनके अनुसार आंख की पुतली नेत्रेन्द्रिय है, क्योंकि वस्तु तभी देखी जाती है जब नेत्र दोष रहित होता है । मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार—इन्द्रिय दृश्य शारीरिक अंग नहीं, बल्कि अंग की एक विशेष शक्ति है । जैनियों के अनुसार—इन्द्रिय एक विशेष शक्ति से युक्त शारीरिक अंग है (प्र०क०मा०, पृ० ६१) । सांख्य दर्शन के अनुसार—इन्द्रिय शारीरिक अंग जैसे आंख की पुतली आदि नहीं है बल्कि अहंकार की वृत्ति या विकार है । वे मानते हैं कि भौतिक अंगों को इन्द्रिय मानने से दूरस्थ वस्तुओं के ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती है । प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और वस्तु का संयोग आवश्यक होता है, लेकिन आंख की पुतली का संयोग दूरस्थ वस्तुओं अथवा शीशे के पीछे की वस्तुओं से नहीं हो सकता है । यह तभी सम्भव है जब इन्द्रियां सर्वव्यापी हों तथा वह सीमित भौतिक द्रव्य न हो । इसलिए सांख्य के अनुसार इन्द्रिय सूक्ष्म सर्वव्यापी अहंकार का विकार है तथा स्वयं भी सर्वव्यापी है—**अहंकारोपादान व्यनिनिदयम्** (सां०त०कौ०, पृ० २६) । अद्वैत वेदान्त भी मानता है कि सत्वगुणों से युक्त अपंचीकृत महाभूतों से पंचेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है (वे०परि०, पृ० १२१) । न्यायदर्शन में इन्द्रिय को शरीर से संयुक्त अतीन्द्रिय ज्ञान के कारण के रूप में परिभाषित किया गया है—**शरीर संयुक्तं ज्ञान करणमतीन्द्रियमिन्द्रियम्** (त०भा०, पृ० १६) ।

इन्द्रियजय—**ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः** (यो०सू०, ३.४७) । तात्पर्य यह कि ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, इन्वय तथा अर्थत्व इन पांच इन्द्रिय के रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय रूप फल प्राप्त होता है ।

इन्द्रियजन्य—अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष-भेद । अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्व-रीन्द्र के **अनुसार**—इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष कहते

इन्द्रियां पांच हैं—चक्षु, श्रोत, नासिका, त्वचा तथा जिह्वा। परिभाषाकार के अनुसार—**सर्वाणियेन्द्रियाणि स्वस्व विषयसंयुक्तान्येय प्रत्यक्ष ज्ञानं जनयन्ति** (वे०परि०, पृ० ५०)। आशय यह कि पांचों ज्ञानेन्द्रियां, (चक्षु, श्रोत्र, नासिका, त्वचा तथा जिह्वा) अपने-अपने विषय से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष ज्ञान की जो उत्पत्ति करती है वह इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है। यहां ध्यातव्य यह है कि अद्वैत वेदान्तियों का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नैयायिकों के बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष के समान ही है।

इन्द्रियाजन्य—अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष-भेद। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—जिसमें प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न नहीं होता वह इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। जैसे—सुख-दुःख इत्यादि। अद्वैत वेदान्तियों की यह मान्यता है कि सुख, दुःख आदि अन्तःकरण वृत्ति का बोध किसी इन्द्रिय के माध्यम से न होकर सीधे साक्षी आत्मा को होता है। इस संदर्भ में नैयायिक अद्वैत वेदान्तियों से अलग विचार रखते हैं। नैयायिक सुख दुःखादि का ज्ञान आन्तर इन्द्रिय मन द्वारा मानते हैं, किन्तु वेदान्ती मन को इन्द्रिय न मानने के कारण इन्हें इन्द्रियाजन्य मानते हैं।

ईर्याकालुष्य—योग दर्शन में कालुष्य-भेद। अपने से भिन्न पुरुष के सद्गुण तथा वैभव आधिक्य को देखकर यानि कि सुखी देखकर जो चित्त में दाह होता है उसे ईर्याकालुष्य कहा जाता है (यो०सू०, १.३३)। किन्तु सभी सुखी पुरुषों के प्रति मैत्रीभावना करने से दाह रूप कालुष्य निवृत्त हो जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार सर्वसाधारण पदार्थ को लेने की इच्छा करने वाले को रोकना रूप इर्या है।

ईर्यासमिति—जैन दर्शन में समिति-भेद। जैन दर्शन के अनुसार—**लोकातवाहिते मार्गं चुम्बिते भास्वदंशुभिः। जन्तुरक्षार्थमालोच्य गतिरीर्या मता सताम्** (सर्व०सं०, पृ० १६४)। आशय यह कि जिस मार्ग पर मनुष्यों का आवागमन अधिक हो यानि कि जीव जंतु उस मार्ग पर कम चलते हों, सूर्य की किरणों से चुम्बित हों, उस पर जन्तुओं की रक्षा के लिए देखभाल कर चलना सज्जनों के लिए ईर्यासमिति है।

ईश्वर—ईश्वर शब्द की उत्पत्ति ईश धातु में ईस्ट प्रत्यय लगाने पर होती है, जिसका सामान्य अर्थ सब कुछ जानने वाला, शक्ति सम्पन्न, समर्थवान इत्यादि होता है। योग दर्शन में ईश्वर के लक्षण के प्रसंग में कहा गया है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः (यो०सू०, १.२४)। आशय यह कि अविद्यादि क्लेश, पाप-पुण्य रूप कर्म, उन कर्मों के फल एवं वासनाओं से रहित विशेष को ईश्वर कहते हैं। अद्वैत वेदान्ती सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है—माया से उपहित हुआ चैतन्य समस्त अज्ञान राशि का प्रकाशक होने से सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वनियामकता आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त अन्तर्यामी जगत का कारण ईश्वर कहा जाता है (वे०सा०, पृ० ७८)। ब्रह्मसूत्रकार के **जन्माद्यस्य यतः** सूत्र से वेदान्तसार में कही गई उक्त बात की पुष्टि होती है। साँख्य दर्शन में ईश्वर के प्रसंग में दो मत प्राप्त होते हैं—एक मत जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता, उसे निरीश्वरवादी मत कहा जाता है और दूसरा वह मत जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है उसे ईश्वरवादी मत कहा जाता है। जो मत ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है उसके अनुसार—जड़ प्रकृति में क्रिया का उन्मेष ईश्वर के द्वारा ही होता है।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वरं प्रणिधानं सर्वक्रियाणं परमगुरावर्पणं तत्फल-संन्यासो वा (यो०भा०, २.११)। आशय यह कि फल की कामना न करते हुए, कृत कर्मों को परम गुरु ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। श्रीमद्भगवत गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

> **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
> **यत्पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥** (गी०, ९.२७)

आशय यह कि सभी कर्मों को भगवान को अर्पण करना और उनके ध्यान में ही मग्न होकर एकाग्रता से उन्हीं का चिन्तन तथा नामोच्चारण सदा करते रहना ईश्वर प्राणिधान है। महर्षि पतञ्जलि ने **ईश्वर प्रणिधानाद्वा** इस सूत्र से यह प्रतिपादित किया है कि कायिक, वाचिक, मानसिक जो कुछ भी कर्म करे उन सबको परमगुरु परमात्मा को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए व्यास भाष्य में कहा गया है—

> **कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।**
> **तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥**

तात्पर्य यह कि फल की इच्छा से अथवा निष्काम भाव से जो कुछ भी कर्म मनुष्य करता है उसे ईश्वर अर्पण करके करना चाहिए, क्योंकि अन्तर्यामी की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सभी कर्म सम्पन्न होते हैं। इसी बात को श्रीमद्भगवतगीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन! कर्मानुष्ठान में

में ही तेरा अधिकार है, फल में नहीं। तू कर्मों के फल की वासना वाला भी न हो तथा तेरी कर्म न करने में प्रीति भी न हो। तात्पर्य यह कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए मृत्युवत् निष्काम कर्मानुष्ठान का नाम ईश्वर प्रणिधान है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (गी० २.६७)

उ-ऊ

उच्छेदवाद—जिसमें मृत्यु के अनन्तर आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता उसे उच्छेदवाद कहा जाता है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार तत्वों से बना हुआ शरीर मरने के बाद इन्हीं तत्वों में विलीन हो जाता है, तत्पश्चात् कुछ शेष नहीं रहता।

उत्कर्षसम—जब वादी किसी उदाहरण के आधार पर अपना वाद प्रस्तुत करता है और उसका विरोध प्रतिवादी किसी अधिक उत्कृष्ट विशेषणों से युक्त उदाहरण के आधार पर करता है, तब उत्कर्षसम होता है। जैसे वादी का कथन है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि यह कृतक है जैसे घट। अब प्रतिवादी कहता है— शब्द अनित्य तथा मूर्त्त है, क्योंकि यह कृतक है जैसे—घट। यहां पर दोनों पक्षों के वादों की समता उदाहरण के उत्कृष्ट गुण के आधार पर दिखाई देती है। अतः यह उत्कर्षसम का उदाहरण है (सर्व०सं० पृ० ४७६)।

उत्पत्तिसम—जिनमें पृथक-पृथक हेतुओं से साध्य और उसके विरोध दोनों की सिद्धि की जा सके उसे उत्पत्तिसम कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ४८१)।

उत्सर्ग—जैन दर्शन में समिति-भेद। जैन दर्शन के अनुसार—

कफ मूलमल प्रायैनिर्जन्तु जगतीतले।
यत्नाधद्वत्सृजेत्साधु सोत्सर्ग समिति भवेत्॥ (सर्व०सं०, पृ० १६५)

आशय यह कि जन्तु से रहित पृथ्वी पर यत्न पूर्वक सावधानी से कफ, मल, मूत्र, प्राय (नासिकामल) को जो साधु छोड़ता है वही उत्सर्ग समिति है।

उदान—वायुभेद। नासिका के अग्रभाग से आरम्भ कर शिर पर्यन्त जो जीवनवृत्तिविशेष रसादि को उर्ध्व नयन करने से उदान कहा जाता है (यो० सू०, ३.३९)।

उदानजय—उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च, (यो०सू०, ३.३९)।

अर्थात् जिस प्राण के जय से जल, पंक, कण्टकादि में योगी को प्रतिघात नहीं करता तथा जैसे रम्य स्थल पर वह सुख पूर्वक गमन करता है वह उदानजय कहलाता है। योग दर्शन के अनुसार उदानजय से ही योगी प्रयाण काल में अर्चिरादि मार्ग (उत्तरायण मार्ग) द्वारा उर्ध्व गमन करता है।

उदार—क्लेश का अवान्तरभेद। योग दर्शन के अनुसार—**विषये यो लब्ध-वृत्तिः स उदारः** (यो०सू०, २.४)। अर्थात् जो क्लेश अपने विषय में उत्कट रूप से बाहर अपने कार्य में तत्पर होकर भासमान होता है, वह उदार क्लेश कह-लाता है।

उदाहरण—हेतु में साध्य की अथवा साध्याभाव में हेत्वाभाव की व्याप्ति का दृष्टान्त द्वारा बोध करने वाला वाक्य उदाहरण है (त०भा०, पृ० ३९१)। जैसे यह पर्वत बन्हिमान है, धूमत्वात् इन दोनों अवयवों के प्रयोग के पश्चात् प्रयुक्त होने वाला जो-जो धूमवान है वह-वह अग्निमान है, यह उदाहरण वाक्य है।

उद्देश्य—**उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तु संकीर्तनम्** (त०भा०, पृ० ४)। आशय यह कि जब किसी वस्तु के सम्बन्ध में और कुछ न कहकर केवल उसके नाम मात्र का कथन किया जाता है, तब वह कथन उस वस्तु का उद्देश्य कहलाता है।

उद्घात—प्राण को उर्ध्वगमन करता हुआ स्थिर होना उद्घात कहा जाता है। योग दर्शन के अनुसार—**संख्याभिः परिदृष्टा एतावदभिः श्वास प्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वग्नि गृहीतस्यैतावदभिर्द्वितीय उद्घात एव तृतीयः** (यो० सू०, २.५०)। आशय यह कि द्वादश मात्र कालपर्यन्त प्राण स्थिर रहना अर्थात् प्राणायाम सम्पन्न होना प्रथम उद्घात है, चौबीस मात्रा कालपर्यन्त प्राण स्थिर रहना द्वितीय उद्घात एवं छत्तीस मात्रा काल पर्यन्त प्राण का स्थिर रहना तृतीय उद्घात कहा जाता है।

उपकार—सहकारी लाभ। बौद्ध दर्शन के अनुसार—सहकारियों से उत्पन्न भाव (स्थायी) में रहने वाला उपकार है। जैसे घट की उत्पत्ति में दण्डादि उपकार है।

उपक्रम—आरम्भ। अद्वैत वेदान्त में तात्पर्य के निर्णायक हेतु विशेष को उप-क्रम कहा जाता है। शंकर के अनुसार किसी प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसका उल्लेख प्रकरण के आदि में करना उपक्रम है (सर्व०सं०, पृ० ७७०)। आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में कहा है कि 'ऋषियों ने ध्यान याग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से अत्यन्त छिपी हुई देवात्म शक्ति का साक्षात्कार किया' इस प्रकार के वाक्य के उपक्रम में सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न

करने वाली परमेश्वर की शक्ति अवगत होती है—**इत्युपक्रम्य 'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगुढाय' इति परमेश्वर्या शक्तेः समस्त जगद्विधामिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्** (ब्र०सू०, शां० भा०, १.४.६)।

उपचार—यह छल का एक भेद है। जब किसी शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग देखकर छलवादी उसे वाच्यार्थ में लेकर बातें काटता है तब इसे उपचार वृत्ति कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४७५)। जैसे—मंच चिल्ला रहे हैं, इसका लक्ष्यार्थ है कि मंच पर बैठे हुए लोग चिल्ला रहे हैं। छलवादी इसे वाच्यार्थ में ही लेकर कहता है कि अचेतन लकड़ी के बने मंच कैसे चिल्ला सकते हैं।

उपनय—जिस वाक्य में पक्ष का उपसंहार किया जाता है वह वाक्य उपनय है। जैसे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण का प्रयोग करने के अनन्तर प्रयुक्त किया जाने वाला। यह वाक्य उपनय है।

उपपत्तिसम—न्यायदर्शन में इसका अर्थ जाति से है। न्याय सूत्र (५.१.२५) में कहा गया है—**उभयकारणोपपत्ते रूपपतिसमः**। अर्थात् दोनों यानि कि नित्य तथा अनित्य का कारण होने से उपपत्तिसम नामक जाति होती है। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह कि शब्द में प्रयत्न से उत्पन्न होना रूप अनित्यता का कारण होने के कारण शब्द अनित्य है, यदि ऐसा है तो आकाश के साथ अस्पर्शता रूप कारण होने के कारण शब्द नित्य है यह भी हो सकता है। इस अनित्यता तथा नित्यता दोनों का कारण हो सकने से निषेध को उपपत्तिसम जाति कहते हैं। भाष्यकार वात्स्यायन इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द में प्रयत्न से उत्पन्न होना रूप अनित्यता का कारण हो सकने से शब्द अनित्य हो तो स्पर्श रहित होना रूप नित्यता का कारण होने से शब्द नित्य भी हो सकेगा। इस प्रकार अनित्यता तथा नित्यता दोनों का कारण होने से आपत्ति देने को उपपत्तिसम जाति कहते हैं (वात्स्या०, ५.१.२५)।

उपमान—प्रमाण। उपमान के लक्षण के प्रसंग में न्याय सूत्र (१.१.६) में कहा गया है—**प्रसिद्ध साधमर्यात्साध्य साधनमुपमानम्**। अर्थात् प्रसिद्ध (ज्ञात) से साधर्म्य (सादृश्य) से साध्य (जानने योग्य) के साधन को उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे जिस पुरुष ने 'गो' को अपनी आँखों से देखा है एवं जैसी गो होती है वैसे गवय होता है—इस बात को भी सुना है उस पुरुष को जंगल में जाने पर गवय को देखने से 'असौ गवयः', इस आकार का जो गोसादृश्य विशिष्ट गवय का ज्ञान उत्पन्न होता है, वही उपमान प्रमाण है। तर्कभाषाकार ने उपमान का लक्षण करते हुए कहा है—**अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण सहकृतं गोसादृश्य विशिष्ट**

विष्ट ज्ञानम् उपमानम् (त०भा०, पृ० १३१)। अर्थात् जब किसी अज्ञात नामा पदार्थ में ज्ञात नामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अज्ञात नामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भी हो जाता है तब वह ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है। जैसे कोई पुरुष जिसने कभी गवय नहीं देखा है किन्तु किसी के यह बतलाने पर कि **गो सदृशः गवय भवति**—गो के सदृश गवय होता है, अब वह पुरुष जब अरण्य में जाता है और गो के सदृश किसी पशु को देखता है तब उसे अतिदेश वाक्य गो सदृश गवय होता है, इस अर्थ का स्मरण होता है। इस प्रकार इस स्मरण का सम्मिधान होने पर गो सदृश पशु का ज्ञान को जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, उपमान प्रमाण कहा जाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**उपमानमादि सादृश्यम् असकिकृष्टऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवय दर्शन गो स्मरणस्य** (श०भा०, पृ० ३७)। आशय यह कि सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात गो का जब अरण्य में स्मरण होता है उसके बाद गवय के देखने पर जो **एतत्सदृशी मदीयागोः**, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वही उपमान प्रमाण है। मीमांसा दर्शन की तरह ही वेदान्ती भी उपमान के लक्षण को स्वीकार करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तदनन्तरं भवति निश्चयः 'अनेन सदृशी मदीया गौरिति' तत्रान्वय व्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठ गो सादृश्य ज्ञानं करणं गौनिष्ठ गवय सादृश्य ज्ञानं फलम्** (वे०परि०, पृ० १६३)। आशय यह कि सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान कहते हैं। जैसे—गौ नीलगाय के सदृश होती है यह उपमान है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि नैयायिक गो सादृश्य विशिष्ट गवय को उपमान मानते हैं, किन्तु मीमांसक एवं वेदान्ती गवय सादृश्य विशिष्ट गो को। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रमाण नहीं मानते। उनके अनुसार—**प्रत्यक्षाभासमेतत तु निर्विकल्पकणादिनाम्। प्रमेयवस्त्वभावाच्च नाभिप्रेता प्रमाणतः** (श्लो०वा०, उप०, श्लोक १७)। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार गवादि का विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्षाभास ही है उसी प्रकार गौ सादृश्य विशिष्ट गवय का विशिष्ट ज्ञान भी प्रत्यक्षाभास ही है। बौद्ध दार्शनिकों की तरह सांख्य दर्शन में भी उपमान को प्रमाण नहीं माना गया है। सांख्यतत्वकौमुदीकार के अनुसार—गवय का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर उसमें रहने वाले गो सादृश्य का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है। गवयगत गोसादृश्य का प्रत्यक्ष होने के कारण स्मर्यमाण गो में गवय सादृश्य का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है उपमान नहीं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गोगत गवय सादृश्य से गवयगत गोसादृश्य पृथक है, क्योंकि एक जाति में प्राप्त अनेक अवयवों की समानता का सम्बन्ध ही अन्य जाति में सादृश्य कहलाता है और यह समानता योग एक है इसलिए यदि वह सादृश्य गवय में प्रत्यक्ष है, तो गो

में भी प्रत्यक्ष होगा। अस्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रत्यक्ष सिद्धि होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमान प्रमाण का कोई पृथक प्रमेय विषय नहीं है जिसके लिए उपमान को पृथक प्रमाण माना जाए।

उपमिति—अनुभव। न्याय दर्शन में कहा गया है—**सादृश्य दर्शनं यत् जातं तदुपमिति करणम्** (न्या०मु०, पृ० ३५१)। आशय यह कि सादृश्य ज्ञान के स्थान पर सादृश्य के दर्शन को ही उपमिति का कारण माना गया है। तर्क भाषाकार के अनुसार—**संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध प्रतीतिरूपमिति:** (त०भा०, पृ० १३१)। तर्क संग्रहकार के अनुसार—**संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध ज्ञानमुपमिति:** (त०सं०, पृ० ११९)। आशय यह कि संज्ञा (नाम) संज्ञी (नाम वाले) के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते हैं। जैसे गौ के सदृश गवय होता है, **अयमसौ पिण्ड: गवय शब्दस्य वाच्य:**—गौ के समान दिखने वाला वह पशु पिण्ड गवय शब्द का वाच्यार्थ है। अर्थात् इसी पशु का नाम गवय है। इस प्रकार गाय संज्ञी के साथ गवय संज्ञा के वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध की जो यह प्रमा होती है वही उपमिति है। सादृश्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन, असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन तथा वैधर्म्य विशिष्ट पिण्डदर्शन के भेद से उपमिति तीन प्रकार की मानी गई है।

उपरति—**निर्वतिता नामेतेषां तद् व्यतिरिक्त विषयेभ्य उपरमणमुपरति: अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्याग:** (वे०सा०, पृ० ५३)। अर्थात् अन्तरिन्द्रिय और श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त होने का उत्साह न रह जाने से स्थिर हो जाना उपरति है अथवा वेद विहित कर्मों का श्रुति एवं स्मृति में बताई गई विधि से परित्याग कर देना अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना उपरति है।

उपराग—योग दर्शन में चित्त का धर्म। योग दर्शन के अनुसार—आकार का सम्पर्क ही उपराग कहलाता है। उपराग के होने पर विषय का ज्ञान होता है। जिस-जिस अर्थ (वस्तु) के साथ चित्त उपरक्त होता है उस दृष्ट वस्तु की छाया चित्त शक्ति पर पड़ती है। इसीलिए इसे चित्त का परिणामी कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ६८०)।

उपलब्धिसम—जिसमें वादी का खण्डन करने के लिए यह कहा जाता है कि आपके द्वारा निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी दूसरे कारणों से (प्रत्यक्षादि से) हम साध्य का ज्ञान पा लेते हैं, उसे उपलब्धिसम कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४८१)।

उपलक्षण—एक पदार्थ का अपने सदृश अन्य पदार्थों का बोध कराना उपक्षण है। जैसे—**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**—में दधि के विनाशक 'काक' मात्र

की ओर संकेत नहीं किया जाता, अपितु बिल्ली, बन्दर आदि जीवों से रक्षा का भी बोध कराता है। अतः दधि के विनाशक काक के अतिरिक्त अन्य जीवों की ओर भी जो संकेत है, वह उपलक्षण है (सर्व०सं०, पृ० १५९)।

उपसर्ग—पद-भेद। पाणिनि सूत्र (१.४.५७) में कहा गया है—**उपसर्गाः क्रियायोगे**। आशय यह कि जब प्र, परा आदि अवयव क्रिया के पूर्व प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें उपसर्ग कहते हैं। जैसे—कृ धातु का अर्थ है करना, किन्तु उसके पूर्व उपसर्ग लगाकर उपकार, अपकार आदि शब्द बनते हैं। पाणिनि के अनुसार—जब किसी धातु के पूर्व उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है तो उससे उसका अर्थ परिवर्तित हो जाता है। नैयायिकों की मान्यता है—**उपसर्गाणां द्योतकत्वं**—अर्थात् अर्थ का द्योतक उपसर्ग है। द्योतक का तात्पर्य है अपने निकटस्थ पद की वृत्ति का ज्ञान कराना। कौमुदीकार के अनुसार—

> **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।**
> **प्रहारा हारसंहारविहार परिहारणत्॥**

अर्थात् उपसर्ग से कभी धातु का अर्थ विपरीत हो जाता है, कभी उसके मूल अर्थ से विशिष्ट हो जाता है और कभी उसका मूल अर्थ ही रहता है। पाणिनि व्याकरण में २२ उपसर्गों की चर्चा की गई है। वे इस प्रकार हैं—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस, निर, दुस, दुर, वि, आङ्, नि अधि, अपि, अति, सु, उद, अभि, प्रति, पति तथा उप।

वाचस्यत्यम् में कहा गया है—**उपसर्गस्य त्रिधा प्रवृत्ति धात्वर्थ बाधते कश्चित् कश्चितमनुवर्तते। तमेव विशिष्ट्ययन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा।** आशय यह कि उपसर्ग की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है। एक के द्वारा उपसर्ग धातु के बाधित यानि कि विपरीत अर्थ को प्रदान करता है, दूसरे के द्वारा उपसर्ग विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है तथा तीसरे के द्वारा यह वही अर्थ देता है जो उसका रूप होता है। योग दर्शन के अनुसार—**ते समाधातुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः** (यो०सू०, ३.३७)। अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि में पुरुष साक्षात्कार के हेतुभूत को उपसर्ग कहते हैं। इस सूत्र के भाष्य में व्यास ने कहा है—**प्रातिभादयः समाहित चित्तस्योत्पद्यमानाः उपसर्गाः**। अर्थात् समाहित चित्त योगी को प्रातिभ आदि ऐश्वर्य विशेष का उत्पन्न होना उपसर्ग है।

उपशम—इसका सामान्य अर्थ होता है—शान्त होना। जैन दर्शन में किसी विषय का कुछ समय तक के लिए अवरुद्ध हो जाना या उत्पन्न न होना उपशम है। जिस प्रकार फिटकरी के प्रयोग से पानी में कीचड़ बैठ जाता है 'यह पंक

का उपशम है', वैसे ही आत्मा में कर्म का अपनी शक्ति के कारणवश दब जाना उपशम है (सर्व०सं०, पृ० १४६)।

उपसंहार—अद्वैत वेदान्त में लिंग (साधन) भेद। अद्वैत वेदान्ती छः प्रकार के लिंग मानते हैं जो तात्पर्य का निर्णय करते हैं। सर्व दर्शन संग्रह में कहा गया है—'**उपक्रमोपसंहारावभ्यासऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंग तात्पर्य निर्णये**' (सर्व०सं०, पृ० ७७०)। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—किसी प्रकरण में जिस विषय का प्रतिपादन करना है उसका उल्लेख प्रकरण के अन्त में करना उपसंहार है (सर्व०सं०, पृ० ७७१)। इस विषय में आगे कहा गया है—**एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्वमसि श्वेतकेतो इत्युपसंहारः** (सर्व०सं०, पृ० ७७१)। अर्थात् यह सब कुछ उसके रूप में ही है, वह सत्य है, वह आतमा है और हे श्वेतकेतो! 'वह तुम ही हो'—यह उपसंहार है। न्याय दर्शन के अनुसार—**उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्यम्** (वात्स्या०, १.१.३८)। अर्थात् जिससे उपसंहार किया जाता है, उसे उपसंहार कहते हैं। नैयायिक साधर्म्य तथा वैधर्म्य के भेद से उपसंहार के दो भेद मानते हैं। जैसे—साधर्म्ययुक्त उदाहरण में थाली आदि पार्थिव द्रव्य उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य देखने में आता है, उसी प्रकार शब्द भी उत्पत्ति धर्मवाला है इस प्रकार साधन करने योग्य शब्द रूप धर्म वाले उदाहरण में आतमा, आकाश, इत्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्म से रहित नित्य देखने में आते हैं, वैसा (अनुत्पत्ति धर्मयुक्त नित्य) शब्द रूप धर्म नहीं है, इस प्रकार अनुत्पत्ति धर्म के उपसंहार के निषेध द्वारा शब्द में उत्पत्ति धर्म का उपसंहार किया जाता है।

उपादान—इसका सामान्य अर्थ है—कारण। न्याय दर्शन में उपादान को समवायि कारण के रूप में माना गया है। इनके अनुसार—जिससे किसी कार्य का उत्पादन होता है, वह उपादान है। जैसे—मिट्टी से घट का निर्माण किया जाता है। यहाँ पर मिट्टी घट का उपादान है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**कारण व्यापारात् प्राक सदैव कार्यमित्याह उपादानम्** (सां०त० कौ०, पृ० १)। अर्थात् कारण व्यापार होने से पूर्व कार्य के विद्यमान होने का अन्य हेतु उपादान है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—विषयों की आसक्ति उपादान है। जैन दर्शन के अनुसार—**अननुनिष्ठतस्यानुष्ठानमुपादानम्** (जै०न्या०, १.४)। अर्थात् अननुष्ठित के अनुष्ठान को उपादान कहते हैं। रामानुज दर्शन में कहा गया है—**उपादानं गंध पुष्पादि पूजासाधन सम्पादनम्** (सर्व० सं०, पृ० २२६)। तात्पर्य यह कि गन्ध, पुष्प आदि पूजा की सामग्री को एकत्र करना उपादान है।

उपादान कारण—जिससे किसी कार्य की उत्पत्ति होती है उसे उपादान

कारण कहते हैं। जैसे—मिट्टी घट का उपादान कारण है। क्योंकि मिट्टी के अभाव में घट का निर्माण नहीं हो सकता। आचार्य शंकर के अनुसार—जगत के विवर्त्त का उपादान कारण ब्रह्म है। रामानुज के अनुसार—संसार का उपादान कारण ब्रह्म सूक्ष्म शरीर में है, जबकि कार्य संसार स्थूल शरीर में है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को जगत का उपादान कारण कहा गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में परमाणु को जगत का उपादान कारण माना गया है। चार्वाक दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार महाभूतों को जगत का उपादान कारण माना गया है।

उपाधि—**उप समीपवर्तिनी पदार्थे आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममिति उपाधिः**। अर्थात् सन्निकृष्ट पदार्थ में जो अपने धर्मों का आधान (संक्रमण) कर देता है, उसे उपाधि कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—**साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वउपाधिः** (त०भा०, पृ० ६६)। अर्थात् जो साध्य में व्यापक हो परन्तु साधन में व्यापक न हो वह उपाधि है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है किन्तु जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम का होना अनिवार्य नहीं है। धूम प्रायः इंधन के आर्द्र होने पर ही होता है, अतः यह उपाधि है। तर्कभाषाकार ने **प्रयोजकश्चोपाधिः** (त०भा०, पृ० ६६) के आधार पर प्रयोजक को उपाधि कहा है। जैसे—**यत्र-तत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वमपि**। अर्थात् जहाँ-जहाँ मैत्री के पुत्र हैं वे सभी काले हैं। यहाँ मैत्री-तनयत्व और कालेपन में स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर औपाधिक सम्बन्ध है जो अन्न, शाक तथा पूर्वजन्मादि का प्रभाव है, अतः यह प्रयोजक ही उपाधि कहलाता है। विश्वनाथ ने मुक्तावली में कहा है—

> **साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।**
> **स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते॥** (भा०परि०, १३८)

आशय यह कि साध्य के रूप में स्वीकृत वस्तु का जो व्यापक हो तथा साधन के रूप में स्वीकृत वस्तु का व्यापक न हो वह उपाधि है। वाचस्पत्यम् में उपाधि के लक्षण के सन्दर्भ में कहा गया है—**अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशनरूपे**। अर्थात् जब कोई वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित हो तो भिन्न रूप में प्रकाशित होने का जो प्रयोजक हेतु होता है, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे—जब रस्सी अपने स्वरूप से भिन्न स्वरूप के रूप में प्रकाशित होती है, तो उसका प्रयोजक हेतु अज्ञान है, अतः अज्ञान ही उपाधि है। सदानन्द ने वेदान्तसार में उपाधि के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है। उन्होंने वेदान्तसार में कहा है—**समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्ध सत्व प्रधाना** (वे०सा०, पृ० ७७)। आशय यह

कि समष्टि यानि कि माया उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण सत्व गुण के प्राधान्य से युक्त होती है।

उपाय—नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**साधकस्य शुद्धि हेतुरूपायो** (सर्वं०सं०, पृ० ३०१)। अर्थात् साधक की शुद्धि के कारणों को उपाय कहते हैं। यह वासचर्या (अच्छी तरह निवास करने के नियम) जप, ध्यान, रुद्र का सदा स्मरण करना और प्रपत्ति (शरणागति) के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

उपासना—मुक्ति प्रयोजक विद्या। शांकर वेदान्त में समान, प्रत्यय, प्रवाह एवं करण को उपासना कहा जाता है। रामानुज के अनुसार—**तदुपासनं पञ्चविधं अभिगमनमुपादानभिज्या स्वाध्यायो योग** इति (सर्वं०सं०, पृ० २२६)। तात्पर्य यह है कि अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग उपासना है। देव मंदिर के पथ को साफ करना अभिगमन है। गन्ध, पुष्प आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना उपादान है। देवता की पूजा करना इज्या है। तत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय है। देवता का ध्यान करना योग है। इस तरह रामानुज दर्शन में ईश्वर की उपासना पाँच रूपों से करने का संकेत प्राप्त होता है।

उपेक्षा—योग दर्शन के अनुसार—**अपुण्य शीलेषूपेक्षाम्** (यो०सू०, १.३३)। अर्थात् किसी पापात्मा पुरुष के कठोर वचन सुनने से अपने को अपमानित जान-कर भी उसके प्रति उदासीनता या तटस्थता की भावना रखना उपेक्षा है।

उपोद्घात—प्रकृति विषय की सिद्धि के लिए जो विचार किया जाय उसे उपोद्घात कहते हैं। जैमिनि दर्शन में कहा गया है—**चिन्ता प्रकृति सिद्धयर्थामु-पोद्घातं प्रचक्षते** (सर्व०सं०, पृ० ५३३)।

ऊह—सिद्धि का भेद। इसका सामान्य अर्थ होता है—तर्क करना, परीक्षण करना, अनुमान करना इत्यादि। सांख्य तत्व कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने कहा है —**ऊह तर्कः**(सां०त०कौ०, पृ०२९४)। अर्थात् ऊह तर्क है। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र के अविरोधी युक्ति से शास्त्रों का प्रतिपादन करना ऊह है। सांख्य दर्शन में तत्व निर्णय को ऊह सिद्धि कहा गया है। मीमांसा दर्शन में ऊह शब्द का प्रयोग मंत्रों की अर्थवत्ता को सिद्ध करने के लिए किया गया है। मीमांसा शाबर भाष्य (१.२.५२) में कहा गया है—**ऊह दर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति**। अर्थात् मंत्रों को अर्थवान मानने पर ही ऊह का विधान हो सकता है। मीमांसा दर्शन में ऊह मंत्रोह, समारोह और संस्कारोह भेद से तीन प्रकार का माना गया

है। इनमें से मंत्रोह के भी नामोह, लिंगोह और विभक्त्यूह तीन भेद हैं।

ए-औ

एकाग्र—योग दर्शन में चित्त भूमि का प्रकार। योग दर्शन के अनुसार—बाह्य-वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त एकाग्र कहलाता है। पा०सू० (१.२) में कहा गया है—एकाग्र अवस्था में केवल चतुर्भुजादि ध्येकार वृत्ति को छोड़कर बाह्य आभ्यन्तर सकल वृत्तियों का निरोध होता है।

एकाग्रतापरिणाम—योग दर्शन के अनुसार—**ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः** (यो०सू०, ३.१२)। अर्थात् विक्षिप्तता का निःशेष रूप से क्षय होने से जो अतीत तथा वर्तमान (विनष्ट तथा उत्पद्यमान) का निरन्तर समान विषयक वृत्तिद्वय का तुल्य होना है वह चित्त का एकाग्रतापरिणाम है। कहने का तात्पर्य यह कि इसमें सजातीय एक-एक वृत्ति नष्ट होती जाती है और सजातीय अन्य-अन्य वृत्ति उत्पन्न होती जाती है। इस प्रकार उस काल में जो चित्त का परिणाम है वह एकाग्रतापरिणाम कहा जाता है।

एषणासमिति—जैन दर्शन में समिति भेद है। जैन दर्शन के अनुसार—

> **द्विचत्वारिंशताभिक्षा दोषैर्नित्यमदूषितम्।**
> **मुनि पर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता** ॥ (सर्व०सं०, पृ० १६५)

तात्पर्य यह कि भिक्षा के बयालीस भेदों से नित्य रूप से अदूषित (मुक्त) अन्न को मुनि द्वारा लेना एषणा समिति कहलाती है।

औदयिक—जैन दर्शन के अनुसार—**कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः** (सर्व०सं०, पृ० १४७)। तात्पर्य यह कि कर्म का उदय होने पर जो भाव उत्पन्न होता है वह औदयिक है।

औदारिक—शरीर भेद। जैन दर्शन में दृश्यमान स्थूल शरीर को औदारिक कहा जाता है।

औपशमिक—जैन दर्शन में कहा गया है—**अनुदय प्राप्ति रूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्योत्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पंके कलुषतां कुर्वति कतकादि द्रव्य सम्बन्धादधः पतिते जलस्य स्वच्छता** (सर्व०सं०, पृ० १४७)। आशय यह कि जब कर्म का उपशम हो जाये और भविष्य को प्रभावित करने के

लिए नये कर्म का उदय न मिले तब जीव में उत्पन्न होने वाले भाव को औपशमिक कहते हैं। उदाहरणार्थ—गंदा करने वाले पंक के कतक (पानी को साफ करने वाला एक द्रव्य) आदि द्रव्यों के संयोग से नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आती है।

औलूक्य—वैशेषिक सूत्रकार को औलूक्य कहा जाता है। पा०सू० (४.१.१०५) में कहा गया है—**उलूकस्य गोत्रापत्यं पुमानौलूक्यः**। तात्पर्य यह कि उलूक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न सन्तान या उनके पौत्र को औलूक्य कहा जाता है। इनका दूसरा नाम कणाद भी है।

ऋ

ऋतम्भरा—ऋतं सत्यमेव विभर्तीति ऋतम्भरा—अर्थात् जो बुद्धि-वृत्ति सत्य को ही धारण करने वाली हो वह ऋतम्भरा कहलाती है। योग दर्शन के अनुसार—**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** (यो०सू०, १.४८)। आशय यह कि निर्विचार योग के वैशारद्य काल में जो अध्यात्मप्रसाद रूप बुद्धि योगी को प्राप्त होती है वह ऋतम्भरा कही जाती है।

क

करण—करोति येन तत् करणम्—अर्थात् जिससे क्रिया की जाती है वह करण कहलाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के पद काण्ड में करण के सन्दर्भ में अपना मंतव्य देते हुए कहा है—

क्रियायाः परिनिस्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तद् तदा स्मृतम्॥

तात्पर्य यह कि जिसके व्यापार से व्यवधान रहित क्रिया की निष्पत्ति होती है, तथा जिस वाक्य में जब वैसा कथनीय होता है तब उस वाक्य में करण कहलाता है। सांख्य दर्शन में तेरह प्रकार के करणों की चर्चा की गई है। सांख्यकारिका में कहा गया है—

अंतः करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्त विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ।।
(सां० का०, ३३)

तात्पर्य यह कि अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार तथा मन के भेद से तीन प्रकार के हैं। ये शरीर के अन्तर्गत रहने से अन्तःकरण कहलाते हैं। बाह्य करण दस प्रकार का है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। ये बाह्य करण तीन अन्तःकरणों के विषयाख्यक हैं। तीन अन्तःकरणों के जनक हैं। अर्थात् ये विषयों के सम्बन्ध में होने वाले संकल्प, अभिमान और निश्चय में साधन बनते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार---क्रिया की शक्ति से युक्त द्रव्य अथवा उस द्रव्य में निहित शक्ति करण है (तं०वा०, १.४.१.१)। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के ३९वें श्लोक में कहा है---

एवमेवेन्द्रियैस्तुल्यं व्यवहारोपलम्भनम् ।
येषां स्यात् तेऽवभोत्स्यन्ते ततोऽर्थं नेतरेऽन्धवत् ।।

आशय यह कि जो कुछ किसी के साधकतम स्वरूप में कहा जाय वह करण है। जैसे---रूप के ग्रहण का करण चक्षु है। इस विषय में यदि कोई यह कहे कि रूप का ग्रहण दीपक है तो असंगत होगा, क्योंकि सैकड़ों दीपक के रहने पर भी अन्धे व्यक्ति को रूप का ग्रहण नहीं होता है। अस्तु रूप का करण चक्षु ही है, यह सिद्ध होता है। न्याय दर्शन के अनुसार---**साधकतमम् करणम्** (त०भा०, पृ० २४)। अर्थात् जो किसी कार्य का साधकतम हो---अतिशयेन साधक हो, वह उस कार्य का करण होता है। करण दो प्रकार का होता है---साधारण और असाधारण। साधारण करणों की अपेक्षा सभी को होती है। इनकी संख्या आठ है---ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय इच्छा, ईश्वरीय प्रयत्न, अदृष्ट, धर्माधर्म, कार्य का प्राभाव, दिक् और काल। इन आठ करणों से भिन्न जो करण होता है वह असाधारण करण है। इस सन्दर्भ में तर्कभाषाकार का मन्तव्य है कि---**अतिशयितं साधकतमं प्रकृष्टं करणम्** (त०भा०, पृ० २४)। तात्पर्य यह कि असाधारण करण में जो अतिशय प्रकृष्ट हो वह करण है। नव्य नैयायिक गंगेश उपाध्याय भी इसको स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार---**व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्**---अर्थात् जो व्यापार द्वारा जिस कार्य का असाधारण कारण होता है वह उस कार्य का करण होता है। जैसे---दण्ड, चक्षु आदि कपाल द्वय संयोग द्वारा घट का करण है। मध्वदर्शन के अनुसार---**अवान्तर व्यापारवत्तां हि करणस्य करणम्**। आशय यह कि जो कर्त्तव्यव्यापार और क्रियाफल की उत्पत्ति के मध्य

अवान्तर व्यापार वाला हो वह करण है। अद्वैत वेदान्ती भी करण की व्याख्या इसी प्रकार से करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार---**करणत्व सति असाधारण करणत्वे**। अर्थात् किसी कार्य के असाधारण कारण को करण कहते हैं।

कर्म---इसका सामान्य अर्थ किसी कार्य का सम्पादन करना होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार---**एक द्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्षकारमिति कर्म लक्षणम्** (वै०सू०, १.१.१७)। अर्थात् एक द्रव्य के आश्रित होना, गुण रहित होना, संयोग और विभाग में अन्य की अपेक्षा न रखते हुए कारण होना, कर्म का लक्षण है। वैशेषिक दर्शन में कर्म को पदार्थ का एक प्रकार माना गया है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण एवं गमन के भेद से वैशेषिक दर्शन में कर्म पाँच प्रकार का माना गया है। मीमांसा दर्शन में वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अनुष्ठान को कर्म कहा जाता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार---चलनात्मक रूप क्रिया ही कर्म है। जैमिनि सूत्र (२.१.१) में कहा गया है कि कर्म से अपूर्व होती क्रिया फलित होती है। वैद्यनाथ भट्ट के अनुसार---जो अपूर्व का निश्चायक हैं, वह कर्म है (न्या०वि०, पृ० १७)। मीमांसा दर्शन में नित्य, नैमित्तिक तथा प्रतिषिद्ध के भेद से कर्म तीन प्रकार का माना गया है। योग दर्शन विहित और प्रतिषिद्ध के रूप में दो प्रकार के कर्म को स्वीकार करता है। जैसे---ज्योतिष्टोम विहित कर्म है और ब्रह्महत्या प्रतिषिद्ध कर्म है (सर्व०सं०, पृ० ७०३)। अद्वैत वेदान्त में प्रारब्ध, संचित एवं संचितमाण भेद से कर्म तीन प्रकार का माना गया है।

कर्मयोग---श्वेताश्वतरोपनिषद् (६.४) में कहा गया है---

> **आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।**
> **तेषां भावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्व तोऽन्यः॥**

आशय यह कि वर्णाश्रम विहित कर्तव्य कर्मों की अहन्ता, ममता, आसक्ति रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से करना कर्मयोग है। ईशोपनिषद् (मंत्र-१) में कहा गया है---

> **ईशा वास्यमिदं ृ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।**
> **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥**

श्रीमद्भगवतगीता में कर्मयोग को निष्ठा यानि कि साधन की तरह पराकाष्ठा माना गया है। गीता (३.३) में कहा गया है---

> **लोकेऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
> **ज्ञानयोगन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥**

अर्थात् इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा कही गई है। ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से। गीता के अनुसार अहंकार से रहित होकर कर्म करना ही कर्मयोग है। क्योंकि —**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते** (गी०, ३.२७)। अर्थात् यद्यपि सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा किये हुए हैं फिर भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेता है। इसलिए इस कर्तापन रूपी अहंकार से रहित होना ही कर्मयोग है। गीता में दो प्रकार के कर्मों की चर्चा की गई है—सकाम कर्म एवं निष्काम कर्म। सकाम कर्म प्राणि मात्र को बन्धनों में डालने वाले हैं, किन्तु निष्काम इन बन्धनों का उच्छेदक है। इसलिए गीता निष्काम कर्म को ही कर्मयोग मानती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि गीता में निष्काम कर्म का तात्पर्य 'कर्म न करना' नहीं है, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है—**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत** (गी० ३.५)। अस्तु यहां पर निष्काम कर्म का तात्पर्य—अनासक्त कर्मफल से है। कहने का तात्पर्य यह कि गीता में कर्म के प्रति आसक्ति का न होना ही निष्काम कर्म है, और इसे ही कर्मयोग कहते हैं। इस बात का संकेत गीता (१८.२) में किया गया है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

शंकराचार्य के अनुसार किए हुए कर्म का कर्मफल की इच्छा से रहित होकर कर्म करने वाले के अन्तःकरण को पवित्र करना कर्मयोग है(गी०भा०, १७.१५)। मीमांसक यह मानते हैं—**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधन**—अर्थात् यज्ञ के लिए किए गये कर्म बाधक नहीं होते, अस्तु इनके अनुसार जिससे कर्म बंधन का निवारण हो सके वह कर्मयोग है। यहां ज्ञातव्य यह है कि मीमांसकों के अनुसार यज्ञ कर्म ही कर्मयोग है। तुलसीदास ने रामचरित मानस (३.१६) में कहा है—

वचन कर्म मन मोहि मति भजन करहि निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमलमहुं करउँ सदा विश्राम॥

आशय यह कि कर्मयोगी वह है जो सभी कामनाओं का त्याग करके मन, वचन और कर्म से परमेश्वर की शरण में जाता है, उनके हृदय में वह निवास करता है। रसेश्वर दर्शन के अनुसार—

कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणया ।
रसश्च पवनश्चेति कर्म योगो द्विधास्मृत: ।। (सर्व०सं०, पृ० ३८०)

तात्पर्य यह कि जिससे शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है, वह कर्मयोग है । रस और वायु के भेद से कर्मयोग दो प्रकार का होता है ।

कल्प—**नानाशाखाधीतानां मंत्राणां विनियोगजं सूत्रं कल्पः । सच यर्जुविद्या** (का०मी०, पृ० ७) । अर्थात् भिन्न-भिन्न शाखाओं में पढ़े गये मंत्रों का यथोचित कर्मों में विनियोग करने वाले सूत्रों का नाम कल्प है । जैसे—कात्यायन, बौधायन तथा गोभिल आदि ऋषियों के प्रणीत सूत्र ग्रन्थ । यह कल्पविद्या मुख्यत: यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है ।

कषाय—जैन दर्शन में बन्धन का कारण । जैन दर्शन के अनुसार—क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय कहलाता है । इनकी मान्यता है कि कषाय के कारण ही पुद्‌गल जीव की ओर आकृष्ट होता है । अस्तु कषाय को बंधन का मुख्य कारण माना गया है ।

काम—भारतीय दार्शनिक परम्परा में पुरुषार्थ भेद । इसका सामान्य अर्थ होता है—इच्छा, कामना, वासना, तृष्णा इत्यादि । महाभारत में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है—

इन्द्रियाणां च पन्यान्तं मनसो हृदयस्य च ।
विषयो वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।।
स काम इति मे बुद्धि: फलमुत्तमम् ।

आशय यह कि इन्द्रियों का विषयों के साथ जो सम्पर्क होता है एवं उस सम्पर्क से जो सुख प्राप्त होता है, वह काम है । अथर्ववेद (१९ अ० ६ सू० ५२) में कहा गया है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेत: प्रथमं यदासीत ।
सकाम कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ।।

तात्पर्य यह कि सृष्टि प्रक्रिया में काम सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ जो परमात्मा को सयोनि तथा यजमान को,धन देने वाला है । अथर्ववेद में काम को देवता के रूप में माना गया है । प्रश्नोपनिषद् (१.४) में काम को प्रजा का विधाता, प्रजापति एवं प्रजा की उत्पत्ति में हेतु मिथुन की सृष्टि करने वाला कहा गया है । बौद्ध दर्शन में काम को 'मारतत्व' के नाम से अभिहित किया जाता है । बुद्धचरित

(११.२१) में कहा गया है— काम विपत्ति का मूल है। इससे मद की उत्पत्ति होती है, जिससे पुरुष विनाश की दशा को प्राप्त करता है। इसमें आगे कहा गया है—**लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरि वार्णवस्य।** आशय यह कि जिस प्रकार समुद्र को असंख्य नदियों के जल से भी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार कामी की काम से तृप्ति नहीं होती। यहां पर काम को अनर्थ कहा गया है। संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट महाकाव्य रामायण का प्रारम्भ काम से मोहित क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को मिथुनावस्था यानि कि कामावस्था में व्याध द्वारा मार दिये जाने के कारण कवि में उत्पन्न करुणा से होता है—

> **मा निषादप्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतिः समाः।**
> **यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधी काम मोहितम्॥**

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड (सर्ग-५३ श्लोक १३) में कहा गया है—धर्म का त्यागकर जो व्यक्ति मात्र काम को अपनाता है वह उसी तरह विनाश को प्राप्त होता है जैसे दशरथ ने प्राप्त किया। श्रीमद्भगवतगीता में कहा गया है—

> **बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।**
> **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥** (गी०, ७.११)

आशय यह कि प्राणियों में धर्म या शास्त्र के अनुकुल कामना का होना ही काम है।

काययोग—जैन दर्शन में आस्त्रवभेद। जैन दर्शन के अनुसार शरीर के चलने से आत्मा के प्रदेश का चलना काययोग है। आत्म-प्रदेश का संचालन एक प्रकार से नली का छेद है जिससे होकर बाहर से कर्म के पुद्गल आत्मा के प्रदेश के बीच चले जाते हैं (सर्व०सं०, पृ० १५७)।

कायव्यूह—**नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम्** (यो०सू०, ३.२९)। अर्थात् नाभिचक्र के संयम करने से शरीर में स्थित वात, पित्त तथा श्लेष्मा ये तीन दोष और त्वचा, रुधिर, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र (वीर्य) आदि धातुओं के समूह का ज्ञान कायव्यूह कहलाता है। रामानुज दर्शन में कहा गया है—योग के बल से योगी लोग जो एक ही साथ अनेक शरीर धारण करते हैं, ऐसे शरीरों के समूह का नाम कायव्यूह है।

कायसम्मत—सिद्धिभेद। योग दर्शन के अनुसार—कायसम्मत वह सिद्धि

कहलाता है जिसकी प्राप्ति होने पर योगी का शरीर दर्शनीय रूपवाला, कान्ति-वाला, बलवाला, बज्रसदृश दृढ़ अवयव वाला हो जाता है (यो०सू०, २.४६)।

कारक—**क्रिया निष्पादकत्वं कारकत्वम्**—अर्थात् क्रिया के उत्पादक रूप धर्म से युक्त होना कारकत्व है। तात्पर्य यह कि जो भी क्रिया की उत्पत्ति में कारण हो, वह कारक कहलाता है। जैसे—राम ने रावण को बाण से मारा। इस वाक्य में 'मारने' क्रिया के सम्पादन के लिए जिन-जिन वस्तुओं का उपयोग हुआ है वे कारक कहलायेंगी। यहां पर मारने की क्रिया राम के द्वारा हुई, इसलिए राम कारक है, जिसको मारा गया यानि रावण कारक है, जिससे मारा गया यानि कि बाण कारक है। क्रिया के सम्पादन में जिन कारकों की आवश्यकता होती है वे इस प्रकार हैं—

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥

अर्थात् कर्ता, कर्म, करण सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक हैं।

कारण—नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**समस्त सृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणम्** (सर्व०सं०, पृ० ३०९)। तात्पर्य यह कि समस्त वस्तुओं की सृष्टि, संहार और अनुग्रह करने वाले तत्व को कारण कहते हैं। यद्यपि यह एक है फिर भी गुण (सत्व, रज, तमस) और कर्म (सृष्टि, पालन, संहार) के भेद से इसके विभाग भी किये गये हैं। सांख्य दर्शन में कहा गया है—**कार्यस्याव्यक्तावस्था कारणमेवेति** (सां०त०कौ०, का० १५)। अर्थात् कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है। कहने का तात्पर्य यह कि कार्य उत्पन्न होने के पूर्व जिसमें स्थित रहता है वह कारण है। जैसे—महत्तत्वादि कार्य अपनी अव्यक्तावस्था में प्रकृति में स्थित रहते हैं, अस्तु प्रकृति इनका कारण है। न्यायदर्शन के अनुसार—**यस्य कार्यात् पूर्वभावोनियतोऽनन्यथा तत् सिद्धश्च कारणम्। यथा तन्तु पटस्य कारणम्** (त०भा०, पृ० २६)। आशय यह कि कार्य के पूर्व जिसकी उपस्थिति नियत हो और जो अन्यथासिद्ध न हो वह कारण है। जैसे कार्य पट के पूर्व तन्तु, वेमा आदि की उपस्थिति नियत होती है और वे अन्यथा-सिद्ध नहीं होते, अतः तन्तु, वेमा आदि पट के कारण हैं।

कारिका—**अर्थ प्रदर्शन कारिका कारिका** (का०मी०, पृ० ११)। अर्थात् सूत्र में अर्थ का सार प्रदर्शन मात्र करना कारिका कही जाती है। जैसे—सांख्य कारिका, माण्डूक्य कारिका इत्यादि।

कार्य—नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं विद्या कला पशुश्चेति** (सर्व०सं०, पृ० ३०७)। अशाय यह कि जो कुछ भी अस्वतन्त्र है वह सब कार्य कहलाता है। बह तीन प्रकार का है—विद्या, कला और पशु। पाशुपत दर्शन में जीवों को पशु, जीवों के गुणों को विद्या और गुण सहित पृथिवी आदि जड़ द्रब्यों को कला कहते हैं। न्याय दर्शन में प्राग्भाव का प्रतियोगी कार्य है (त०सं०, पृ० ७७)। जैसे— घट-पट आदि सभी प्राग्भाव भिन्न अनित्य होने से कार्य हैं। नैयायिक कार्य को प्राग्भाव आदि मानने से उसको नित्य नहीं मानते। सांख्य दर्शन के अनुसार—कार्य प्रकृति के सदृश और उससे विसदृश होते हैं। सांख्य दार्शनिकों का मन्तव्य है कि **कार्यात् कारणमात्रं गम्यते** (सां०त०कौ०, का० ८)। अर्थात् किसी कार्य को देखने से इतना ही ज्ञात होता है कि उसका कोई कारण अवश्य है। यहां पर महततत्वादि को कार्य माना गया है। सांख्य सूत्र (१.१३३) में विज्ञान भिक्षु ने कहा है—यदि कोई पदार्थ कार्य नहीं है तो या तो वह प्रकृति होगा अथवा पुरुष होगा। यदि कोई पदार्थ कार्य नहीं है और साथ ही साथ न पुरुष है और न प्रकृति तो वह तुच्छ है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—कार्य वस्तु सत् पदार्थ नहीं है। सभी कार्य एक ही सत् वस्तु के विवर्त्त हैं।

कार्यसम—जहां किसी प्रयत्न के अनेक कार्य (परिणाम) दिखाकर किसी वाद का खण्डन करते हैं, वहां उसे कार्यसम कहते हैं।

काल—न्याय दर्शन के अनुसार दैशिक से भिन्न परत्व, अपरत्व, युगपद, चिर एवं क्षिप्र आदि प्रतीतियों का असमवायिकारण काल कहा जाता है (वै० सू०, २.२.६)। अन्नंभट्ट के अनुसार अतीत आदि के व्यवहार का जो कारण है वह काल है (त०सं०, पृ० ४६)। न्याय दर्शन में काल को नित्य तथा विभु माना गया है। सांख्य दर्शन में काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना गया है बल्कि उसे आकाश में सम्मिलित कर लिया गया है। मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि काल प्रत्यक्ष है। काल युगपद आदि प्रत्ययों द्वारा अनुमेय नहीं है। प्रभाकर के अनुसार—काल चिरादि विशिष्ट प्रत्ययों का लिंग है। इनकी धारणा है कि रूप रहित होने के कारण यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, बल्कि अनुमेय है। जैन दर्शन के अनुसार यद्यपि अनेक स्थानों में अवस्थित न होने के कारण काल अस्तिकाय नहीं है, फिर भी यह एक द्रव्य तत्व है। कहने का तात्पर्य यह कि जैन दर्शन में काल को एक द्रव्य के रूप में माना गया है। वेदान्ती यह स्वीकार करते हैं कि काल अमूर्त्त है इसलिए उसका प्रत्यक्ष

दर्शन नहीं होता, वह केवल कार्य से अनुमेय है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—ज्ञान तथा ज्ञेय से संबंध रखने वाला, ज्ञाता, सब आवरणों के क्षय का कारण है अतः वह कार्य कहलाता है। यहां पर काल, उपाय तथा करुणा को एक ही तत्व का पर्याय माना गया है।

कालातीत—बाधित—हेत्वाभास। न्याय दर्शन के अनुसार—**कालात्ययोपदिष्टः कालातीतः** (न्या०सू०, १.२.९)। अर्थात् समय के उल्लंघन से कहा हुआ बाधित हेत्वाभास कालातीत है। वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—जो हेतु साध्य का उलंघन कर अथवा साध्य विषय का बाधकर साध्य की सिद्धि करने के लिए दिया जाता है उसे कालातीत कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है, भेरी दण्ड आदि के संयोग से व्यंग्य (प्रकट) होने से, इस अनुमान में शब्द के ग्रहण के समय भेरी दण्ड आदि का संयोग नहीं रहता, अर्थात् उपरोक्त हेतु में विशेषण रूप संयोग शब्द के ग्रहण के समय को छोड़ देता है, क्योंकि जिस समय में शब्द का ग्रहण होता है उस समय भेरी दण्डादि संयोग नहीं रहता, इस कारण यह 'संयोग से प्रकट होना' हेतु कालात्ययापदिष्ट होने के कारण कालातीत कहा जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—जिस समय जिसका प्रयोग होना चाहिए उस समय उसका प्रयोग नहीं करना कालातीत हेतु है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित कालातीत को स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं मानते। उनके अनुसार कालातीत पक्षाभास है। इस प्रकार नैयायिक कालातीत को हेत्वाभास मानते हैं किन्तु बौद्ध दार्शनिक उसे पक्षाभास स्वीकार करते हैं।

कृतप्रणाश—वस्तुओं की सत्ता के विषय में बौद्ध दर्शन क्षणभंगवाद को स्वीकार करता है। इसके अनुसार कोई वस्तु बिना फल को प्रकट किये ही समाप्त हो जाती है। जो कार्य का सम्पादन करने वाला व्यक्ति है उसे उसका फल नहीं मिल पाता है, क्योंकि उस समय तक उस वस्तु के साथ-साथ व्यक्ति का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसका कारण वस्तुओं का क्षण-क्षण परिवर्तन है। इसे ही कृतप्रणाश कहते हैं। वास्तव में कृतप्रणाश के द्वारा बौद्ध दर्शन के क्षणभगवाद में विसंगति का प्रदर्शन किया जाता है।

कुम्भक—प्राणायाम का भेद। जिस प्राणायाम में एक ही बार के विधारक प्रयत्न से बाह्य एवं अभ्यन्तर दोनों प्रकार से प्राण की स्वाभाविक गति का नियंत्रण होता है, वह कुम्भक है (यो०सू०, २.५०)।

केवल—जैन दर्शन के अनुसार—**तपःक्रियाविशेषान्यदर्थं सेवन्ते तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम्** (सर्व० सं०, पृ० १३८)। आशय यह कि जिसके लिए तपस्वी लोग विशेष प्रकार की तपस्याएं करते हैं तथा जो अन्य किसी प्रकार के भी ज्ञान से पृथक (असंसृष्ट) हैं। वही केवल ज्ञान है। नैयायिक इसे योगज ज्ञान के द्वारा विश्लेषित करते हैं।

केवलव्यतिरेकी—अनुमान का भेद—जहां पर साध्य के अभाव के साथ-साथ हेतु का भी अभाव हो, वहां केवलव्यतिरेकी होता है। कहने का तात्पर्य यह कि इसमें व्याप्ति व्यतिरेक मूलक होती है। न्याय दर्शन के अनुसार—**असपक्षं विपक्षेभ्योव्यावृत्वं पक्षभूमिष्षु। सर्वासु वर्तमानं यत् केवलव्यतिरेकी तत्** (त०प्र०, पृ० १४५)। आशय यह कि यहां हेतु और साध्य पक्ष में रहते हैं विपक्ष में नहीं, साथ ही सपक्ष का अभाव हो तो उसे केवल व्यतिरेकी कहते हैं। तर्कभाषाकार ने केवल व्यतिरेकी का एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जीवित शरीर आत्मा से लिप्त होता है, क्योंकि वह प्राणादिमान होता है। जो जीवित शरीर प्राणादि हीन नहीं होता, इसलिए वह निरस्मक नहीं होता। इस अनुमान में जीवित शरीर में सात्मकत्व साध्य है और प्राणादिमत्व हेतु है। यह प्राणादिमत्व हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु है क्योंकि उसमें अन्वयव्याप्ति नही होती है (त०भा०, पृ० १०९)।

केवलान्वयी—हेतु व्यापक साध्य सामानाधिकरण्यकेवलान्वयी—अर्थात् जिसमें केवल अन्वय हेतु के व्यापक साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना होता है वह केवलान्वयी कहलाता है। यहां कहने का तात्पर्य यह है कि जो सदैव साध्य के साथ देखा जाता है किन्तु साध्य के अभाव के साथ जिसके अभाव की प्रतीति न हो वह केवलान्वयी होता है। जैसे—जो प्रमेय है वह अभिधेय है, घट प्रमेय है, अतः घट अभिधेय है। विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अभिधेय के द्वारा ज्ञेय न होता हो; क्योंकि जो अभिधेय नहीं होता वह ज्ञेय नहीं होता। तर्क भाषा प्रकाशिका में कहा गया है—

> **व्यावृत्तं यद्विपक्षेभ्यः सपक्षेषु कृतान्वयम्।**
> **व्याप्त्या पक्षे वर्तमानमन्वयव्यतिरेकितत्**॥ (त० प्र०, पृ० १४४)

आशय यह कि जिस हेतु में केवल सपक्ष उदाहरण प्राप्त हो, उस हेतु को ही केवलान्वयी कहा जाता है। केवलान्वयी का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए तर्कभाषाकार कहते हैं—**शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, यत् प्रमेयं तदभिधेयं यथा**

घटः, तथा चायं, तस्मात्तथेतिः अत्र शब्दस्य अभिधेयत्वं साध्यम्, प्रमेयत्वं हेतुः स च केवलान्वय्येव (त० भा०, पृ० १११)। आशय यह कि शब्द अभिधेय है—अभिधा अर्थात् शक्ति नामक वृत्ति के द्वारा पदबोध्य है, क्योंकि प्रमेय है, जो प्रमेय होता है वह अभिधेय होता है—जैसे घट प्रमेय होने से अभिधेय है, शब्द अभिधेयत्व व्याप्य प्रमेयत्व का आश्रय है। अतः प्रमेयत्व से व्याप्य अभिधेयत्व का आश्रय है, यह हेतु ही केवलान्वयी होता है।

कैवल्य – मोक्ष। सांख्य दर्शन के अनुसार—**आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्**—अर्थात् दुःख की जो एकान्त और अत्यन्त निवृत्ति है वह कैवल्य है (सां० त० कौ०, का० १)। सांख्यकारिकाकार के अनुसार—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते यथा नर्तकी नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥(सां० का०, ५९)

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कोई नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य कर चुकने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर देने के बाद निवृत्त हो जाती है। योग दर्शन में कहा गया है—**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितशक्तिरिति** (यो० सू०, ४.३४)। अर्थात् भोगापवर्गरूप पुरूषार्थ जिनका समाप्त हो गया है ऐसे कृतकार्यरूप से पुरुषार्थशून्य एवं बुद्धयादि रूप से परिणत गुणों का जो प्रतिलोम रूप से अपने-अपने कारणों में लय द्वारा प्रधान में लय होना यह प्रधान का और वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर शुद्ध स्वरूपमात्र अवस्थित चितशक्ति रूप पुरुष का होना, यह पुरुष का कैवल्य कहा जाता है। यहां पर दो प्रकार का कैवल्य कहा गया है—एक गुणों का प्रधान में लय होना और दूसरा पुरुष का स्वस्वरूप में अवस्थित होना। उनमें प्रथम कैवल्य प्रधान का होता है क्योंकि उस समय प्रधान पुरुषार्थ से मुक्त हो जाता है और द्वितीय कैवल्य पुरुष होता है क्योंकि उस समय पुरुष भी जपाकुसुम के अपाय से स्फटिक के समान उपाधि से मुक्त हो जाता है।

कोश—रशेश्वर दर्शन में त्वचा, रक्त, मांस, मेदस, अस्थि और मज्जा, जो शरीर को ढके रहते हैं, को कोश कहा जाता है। वेदान्त दर्शन में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पांच कोश माने गये हैं।

क्रम—योग दर्शन के अनुसार **क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः** (योग० सू०, ४.३३)। अर्थात् अनेक क्षण सम्बन्धी तथा परिणाम के

अवभास से ज्ञायमान जो सत्वादि गुणों के परिणामों का अव्ययरूप पूर्वापरिभावरूप अवस्थाविशेष है उसे क्रम कहा जाता है। कहने का आशय यह कि अनेक क्षण सम्बन्धी अनेक क्षणों में रहने वाला जो पदार्थ है वह क्रम है। इसका बोध परिणाम के अवसान यानि कि कार्य के अन्त से होता है। आचार्य शंकर ने ब्र० सू० शां० भा० (१.१.१) में क्रम की विवक्षा करते हुए कहा है—**क्रमोविवक्षितः**। यानि कि ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ होना, गृहस्थ होने के पश्चात् वानप्रस्थ ग्रहण करना, वानप्रस्थाश्रयी होकर संन्यास ग्रहण करना—क्रम है।

क्राथन—नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार- **तत्रासुप्तस्यैव सुप्तलिंगप्रदर्शनम् क्राथनम्** (सर्व० सं०, पृ० ३१२)। आशय यह कि बिना नींद आये ही सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टाएँ (आंखें बन्द करना, खर्राटे भरना आदि) प्रदर्शित करना क्राथन है।

क्रिया—नागेश के अनुसार—**सर्वकारकान्वयितावच्छेदक धर्मवती क्रिया**। अर्थात् सभी कारकों की अन्वयिता में रहने वाले धर्म (फलत्व तथा व्यापारत्व) से युक्त फल तथा व्यापार क्रिया हैं। इस विषय में वाक्यपदीयकार का मन्तव्य है—

> **यावत सिद्धं असिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।**
> **आश्रित कर्म रूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥** (वा० प०, ३.८१)

आशय यह कि सिद्ध तथा असिद्ध जितना भी साध्य रूप से अभिहित होता है उसे क्रमरूपता का आश्रय किये जाने के कारण क्रिया कहा जाता है। रामानुज के अनुसार—**श्रौत स्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया** (सर्व० सं०, पृ० २३९)। आशय यह कि अपनी शक्ति के अनुसार श्रुतियों और स्मृतियों में प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान करना क्रिया है। इसकी विशिष्टता को प्रतिपादित करते हुए रामानुज कहते हैं—**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**—अर्थात् जो पुरुष क्रियायुक्त है वह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ है। मीमांसा दर्शन में कहा गया है—**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनां तस्मादनित्यमुच्यते** (जै० सू०, २.१.१)। आशय यह कि मन्त्र एवं ब्राह्मणवाक्य ही क्रिया का निर्वचन करते हैं। जो वाक्य या वचन क्रिया के लिए नहीं है वे अनर्थक (प्रयोजन रहित) हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार—**इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना। तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया** (सर्व०, पृ० ३६४)। आशय यह

कि घट-पट आदि पदार्थों से भरे हुए संसार के रूप में स्थिर रहने के इच्छुक हेतुकर्ता (महेश्वर) में उत्पन्न जो इच्छा है, वही क्रिया है।

क्रियायोग—क्रिया के साधन को क्रियायोग कहा जाता है। योग दर्शन के अनुसार—**तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः** (यो० सू०, २.१)। तात्पर्य यह कि शरीर इन्द्रियादि का अनाशक रूप तप, प्रणव आदि ईश्वर के पवित्र नामों का जप तथा उपनिषद् आदि मोक्ष शास्त्रों का पाठ-अध्ययन रूप स्वाध्याय और सर्व कर्मों को ईश्वरार्पण अथवा उसके फल का त्यागरूप ईश्वर-प्रणिधान ये तीनों क्रियायोग कहे जाते हैं। यहां पर जप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान तीनों क्रिया के साधन हैं, अस्तु इन्हें क्रियायोग कहा जाता है। श्रीमद्भगवतगीता (६.३) में कहा गया है—**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण-मुच्यते**—अर्थात् समत्व बुद्धिरूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में क्रियायोग हेतु है।

क्रोध—न्याय दर्शन के अनुसार- शरीर तथा इन्द्रियों में विकार होने के कारण रूप को क्रोध कहते हैं (न्या० सू०, ४.१.३)। श्रीमद्भगवतगीता (२.८२) में कहा गया है—**कामात् क्रोधः अभिजायते**—अर्थात् कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्लेश—**सांसारिक विविध दुःखोपहारहेतुत्वेन पुरुषं क्लिश्नन्तीति क्लेशाः** (सर्व० सं०, पृ० ७०३)। अर्थात् क्लेश वह है जो विविध सांसारिक दुःखों की प्राप्ति कराने के कारण पुरुष को कष्ट देता है। योग दर्शन में पांच प्रकार के क्लेशों की चर्चा की गई है—**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः** (यो० सू०, २.३)। तात्पर्य यह कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पांच प्रकार के क्लेश हैं। पतञ्जलि ने अवान्तर रूप से क्लेश के चार और भेद किये हैं—प्रसुप्त, तनु, विछिन्न और उदार।

क्षणिक—बौद्ध दर्शन के अनुसार—**यत्सत्तत्क्षणिकम्** (सर्व० सं०, पृ० ३८)। अर्थात् जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है। जैसे मेघमण्डल। इस संदर्भ में आगे कहा गया है कि कोई भी काम किसी उद्देश्य से किया जाता है उक्त प्रकार से कार्य करने की शक्ति जब रहे तभी वह सत् होता है। यह सत्व नील आदि क्षणिक पदार्थों के प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। नील आदि पदार्थ क्षण भर में अपनी अर्थ-साधक क्रिया करके नष्ट हो जाते हैं। सांख्य प्रवचन भाष्य में कहा गया है—**स्थिर कार्यासिद्धेः** (सां० सू०, प्र० भा०, १-३४)। अर्थात् कार्य की स्थिरता

सिद्ध नहीं होती, इसलिए बन्ध (आत्मा की बन्धन दशा) क्षणिक ही है, ऐसा क्षणिकवादी कहते हैं ।

क्षमा—अमर्ष को सहन करना क्षमा है । देवता स्मृति में कहा गया है—

विगर्हातिक्रम क्षेप हिंसाबन्धात्मनाम् ।
अन्यमन्यु समुत्थाने दोषाणामर्पणं क्षमा ॥

अर्थात् दूसरों के द्वारा की गई निन्दा, अनादर, वध आदि दोषों को सहन करना ही क्षमा है । महाभारत में कहा है—

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदा क्षमाश्रुतम्. ।

अर्थात् क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद तथा क्षमा श्रुत है ।

क्षायिक—कर्मणाः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः (सर्वं० सं०, पृ० १४७) । तात्पर्य यह कि कर्म का क्षय हो जाने पर उत्पन्न होने वाले भाव का नाम क्षायिक है । जैसे—पंक में से बिल्कुल पृथक निर्मल तथा स्फटिक आदि के पात्र में रखे हुए जल की स्वच्छता । जैन दर्शन की मान्यता है कि जिसमें जीवकर्मों का पूर्व विनाश करके प्रवेश करता है वह क्षायिक है ।

क्षिप्त—योग दर्शन में चित्त भूमि । योग दर्शन के अनुसार—चित्त प्रकृति का सात्विक परिणाम होने से ज्ञान स्वरूप है तथापि जिस काल में सत्व गुण की न्यूनता होने से रजोगुण तथा तमो गुण सम्बद्ध हो जाते हैं उस काल में शब्दादि विषय तथा अणिमा आदि ऐश्वर्य को ही प्रिय जानकर उन्हीं में आसक्त होने से विह्वल हो जाता है । अतः इस अवस्था वाले चित्त को क्षिप्त कहते हैं ।

ख

ख्याति—ख्याति शब्द की व्युत्पत्ति 'ख्या' धातु में क्तिन् प्रत्यय करने पर होती है, जिसका सामान्य अर्थ प्रसिद्धि, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, नाम, शीर्षक, अभिधान, वर्णन तथा प्रशंसा इत्यादि होता है । किन्तु दर्शन में इसका अर्थ

ज्ञान अथवा उपयुक्त पद द्वारा वस्तुओं को विवेचित करने की शक्ति है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि ख्याति शब्द का प्रयोग जब हम ज्ञान के अर्थ में करते हैं तो यहां इसका संकेत भ्रमात्मक या अप्रमात्मक ज्ञान से है। भारतीय दर्शन में पाँच ख्यातियों की चर्चा विशेष रूप से की जाती है जिसका आधार अलग-अलग दार्शनिकों की अपनी-अपनी मान्यता या विचार हैं। ये ख्यातियां निम्नवत् हैं—

आत्मख्यातिरसतख्यातिरसतख्याति ख्यातिरन्यथा।
तथा अनिर्वचनीयख्यातिरित्येत् ख्याति पञ्चकम् ॥

अर्थात् आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथा ख्याति तथा अनिर्वचनीय ख्याति, ये पाँच ख्यातियां हैं जो क्रमशः विज्ञानवादी बौद्ध, शून्यवादी बौद्ध, मीमांसक, नैयायिक तथा अद्वैत वेदान्तियों द्वारा मान्य हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य एवं रामानुजादि वैष्णववादी दार्शनिकों द्वारा मान्य क्रमशः दो ख्यातियां हैं जिन्हें विपरीत ख्याति एवं सत् ख्याति के नाम से जाना जाता है।

ग

गन्ध—इसका सामान्य अर्थ होता है—निश्चित, अल्प इत्यादि। वैशेषिक दर्शन में माने गए चौबीस गुणों में गंध एक गुण है। गंध के लक्षण के संदर्भ में वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—**गंधो घ्राण ग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः घ्राण सहकारी सुरभि सुरभिश्च** (प्र०भा०, पृ० ४५)। अर्थात् गंध वह है जो घ्राण इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—सुरभि और असुरभि। पृथिवी द्रव्य में इसकी सत्ता रहती है। इसलिए पृथिवी की परिभाषा 'पृथिवी गंधवती होती है'—यह दी जाती है।

गमन—न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म-भेद। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**पदनियतदिक् प्रदेश संयोगविभागाकारणं तद् गमनमिति** (प्र०भा०, पृ० २४४)। तात्पर्य यह कि जिस कर्म से दिशा प्रदेशों के साथ संयोग तथा विभाग होने का

नियम न हो उसे गमन कर्म कहते हैं। जैसे—भ्रमण। तर्कभाषाकार के अनुसार—**भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते** (त०भा०, पृ० ३००)। तात्पर्य यह कि भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, उर्ध्वज्वलन और तिर्य्यगमन ये पाँच कर्म गमन हैं।

गुण—वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-भेद। कणाद ने वै०सू० (१.१.१६) में कहा है—**द्रव्याश्रय्यगुणवान संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।** तात्पर्य यह कि संयोग विभाग के अनपेक्ष कारण से भिन्न, द्रव्य पर आश्रित, गुण शून्य पदार्थ को गुण कहते हैं। विश्वनाथ ने कारिकावली (८६) में कहा हैं—द्रव्य आश्रित होते हुए गुण और क्रियाहीन होना गुण का लक्षण है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार—**सामान्यवान् असमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुणः** (त०भा०, पृ० २६०)। अर्थात् जो पदार्थ सामान्य का आश्रय होता है, किसी पदार्थ का समवायिकारण नहीं होता तथा कर्म से भिन्न होता है उसे गुण कहा जाता है। जैसे—सत्ता, गुणत्व आदि सामान्य, जाति के आश्रय होते हैं, रूप रस आदि पदार्थ किसी कार्य के समवायि कारण नहीं होते तथा कर्म से भिन्न होते हैं अतः वे गुण हैं। तर्क दीपिका (पृ० १८) में कहा गया है—**द्रव्य कर्म भिन्नत्वे सति सामान्यवान्गुणः गुणत्वाजातिमान्वाः।** अर्थात् जाति से युक्त अथवा द्रव्य और कर्म से भिन्न जातियुक्त पदार्थ को गुण कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। न्यायवैशेषिक की तरह मीमांसा में भी गुण को पदार्थ-भेद माना गया है। कुमारिल भट्ट के अनुसार—कर्म से व्यतिरिक्त अवान्तर जाति में रहने वाला, उपादानता से निर्मुक्त गुण कहलाता है। प्रभाकर के अनुसार—द्रव्य पर आश्रित गुण रहित, कर्म से भिन्न गुण कहलाता है। मीमांसा दर्शन में भी चौबीस गुण माने गये हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, प्राकट्य तथा संस्कार।

यहां ध्यातव्य यह है कि वैशेषिक दर्शन एवं मीमांसा दर्शन में शब्द को द्रव्य और गुण दोनों माना गया है। कुमारिल भट्ट ने शब्द को गुण न मानकर केवल द्रव्य माना है। किन्तु प्रभाकर शब्द को गुण भी मानते हैं। सांख्य की गुण सम्बन्धी व्याख्या न्याय-वैशेषिक और मीमांसा से भिन्न है। सांख्य के

अनुसार—गुण इति परार्था: (सां०त०कौ०, का० ११)। अर्थात् गुण का अर्थ है—परार्था। विज्ञान भिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य (१.१६) में कहा है—गुणशब्द: पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषबंधक त्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते। तात्पर्य यह कि पुरुष को बंधन में डालने वाला, त्रिगुणात्मक, महत-आदि का निर्माता गुण है। आगे उन्होंने कहा है—जिस प्रकार रस्सी के द्वारा पशु को बंधन में बांधा जाता है उसी प्रकार सांख्य का गुण भी पुरुष को बंधन में बांधता है। सांख्य दर्शन में सत्व, रज और तम तीन प्रकार के गुण माने गये हैं। ये तीनों गुण प्रकृति के स्वरूपधायक हैं। जैन दर्शन के अनुसार—द्रव्याश्रया: निर्गुणा: गुणा: (त०सू०, ५.३९) अर्थात् द्रव्य में रहने वाले को, स्वयं गुण न धारण करने वाले को गुण कहते हैं। जैसे—जीव के गुण, ज्ञानत्व आदि धर्मों के रूप में है। सांख्य की तरह वेदान्त में भी तत्व, रज और तम तीन गुणों को मान्यता दी गई है। शांकर वेदांत में ब्रह्म की शक्ति माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। आचार्य शंकर ने विवेक चूड़ामणि में कहा है—

> विक्षेपशक्तिरजस: क्रियात्मिका यत: प्रवृत्ति: प्रसृतापुराणी।
> रागादयोऽस्या: प्रभवन्ति नित्यं दु:खादयो ये मनसो विकारा: ॥
> एषा वृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्ययावस्त्वभासतेऽन्यथा।
> सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्ते प्रवणस्य हेतो: ॥
> सत्वं विशुद्धं जल व तथापि ताभ्यां मिलित्वा शरणाय कल्पते।
> यत्रात्मबिम्बं प्रतिबिंबित: सन् प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जड़म् ॥
>
> (वि० चूड़ा०, ११३, ११५,११६)

आशय यह कि सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों में जो जल के समान शुद्ध है वह सत्व है, जिससे राग एवं दु:खादि उत्पन्न होते हैं वह रज है तथा जिससे अन्यथा प्रतीत हो वह तमोगुण हैं।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के अनुसार—गुण का अर्थ है—विशेषण विशेषता प्रकट करना। उन्होंने वाक्यपदीय (१.६४) में कहा है—

> गुण: प्रकर्ष हेतुर्य: स्वतन्त्रयेणोपदिश्यते।
> तस्याश्रितादगुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ॥

आशय यह कि गुण जो द्रव्य के प्रकर्ष के प्रति निमित्त होता है, जब उसका प्रयोग प्रधानता के साथ द्रव्य के रूप में किया जाता है तो उसमें आश्रित गुण के कारण एक अन्य प्रकर्ष की प्रतीति होने लगती है। जैसे- रूपवती कन्या। रूप

कन्यागत गुण है और कन्या का प्रकर्ष प्रकट कर रहा है, पर जब इसी 'रूप' को गुण की अपेक्षा विशेष्य या प्रधान मानकर प्रयोग करते हैं तो इसके साथ-साथ अन्य विशेषण भाषित होने लगता है। 'रूपमस्याः कन्यायाः' इस वाक्य के साथ ही कीदृशम् यह प्रश्न खड़ा हो जाता है और उत्तर में 'शोभनम्' कहना पड़ता है।

गुप्ति—गुप्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'गुप्' धातु में क्तिन् प्रत्यय करने पर होती है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—प्ररक्षा करना, छिपाना इत्यादि। जैन दर्शन के अनुसार—**संचार कारणयोगादात्मनो गोपनं गुप्तिः** (सर्व० सं०, पृ० १६४)। आशय यह कि जिससे आत्मा में प्रवेश करने वाला कर्म रुक जाय, वह गुप्ति हैं। इसके तीन भेद है—कायगुप्ति, वाक्गुप्ति, तथा मनोगुप्ति।

गुरु—नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—

पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेतानवगणस्यास्य संस्कर्ता गुरुरुच्यते॥ (सर्व० सं०, पृ० २९९)

आशय यह कि आठ पञ्चक (पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त गण) और एक गण तीन अवान्तर भेदों से युक्त हैं। इन नव गुणों का ज्ञाता और जो संस्कार करने वाला हो वह गुरु कहलाता है। इस दर्शन में जो नव गण माने गये हैं वे इस प्रकार हैं—लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारिन, बल और वृत्ति। इनमें प्रथम आठ के पांच अवान्तर भेद हैं और अन्तिम एक (वृत्ति) के तीन अवान्तर भेद हैं। मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर के मत को गुरु मत से व्यवहृत किया जाता है। इस संदर्भ में एक किवदन्ती यह है कि एक बार कुमारिल अपने शिष्यों को कुछ पढ़ा रहे थे उसी क्रम में एक पंक्ति में यह उद्धरण मिला—**अनादि नोक्तं तत्र तु नोक्तमिति द्विरुक्तम्**—अर्थात् यहां भी नहीं कहा, वहाँ भी नहीं कहा—इस उद्धरण ने कुमारिल को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि एक ही अभिप्राय दो बार कैसे कहा गया? बात स्पष्ट न हो सकने के कारण, उन्होंने पाठ को वहीं पर स्थगित कर दिया और किसी कार्य से कहीं बाहर चले गये। तत्पश्चात् प्रभाकर ने उस उद्धरण का अर्थ स्पष्ट कर इस प्रकार लिखा—**अत्र अपिना उक्तम्, तत्र तुना उक्तम्**—(अर्थात् यहां यह बात अपि शब्द से और वहाँ तु शब्द से कही गई, इस प्रकार एक ही बात दो बार कही गई) और उसको वे गुरुपत्नी को देकर चले गये। कुमारिल के बाहर से आने पर जब उनकी पत्नी ने उन्हें उस लेख को दिया तो उन्होंने उनसे पूछा कि यह किसने

लिखा ? तब उनकी पत्नी ने कहा—प्रभाकर। तब कुमारिल दूसरे दिन अध्यापन के समय प्रभाकर से कहा—**त्वमेव गुरुः** । उसी समय से प्रभाकर के लिए गुरुनाम अभिहित किया जाने लगा।

गुरुत्व—न्याय-वैशेषिक दर्शन में गुण-भेद। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्म कारणम्**। (प्र० भा०, पृ० २१७)। आशय यह कि जिस गुण से जल अथवा पृथ्वी द्रव्य की पतन क्रिया होती है, वह गुरुत्व गुण होता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**गुरुत्वम् आद्यपतना समवायिकारणम्। पृथ्वी जल वृत्ति। यथोक्तम्-संयोगवेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति** (त० भा०, पृ० २८३)। आशय यह कि किसी वस्तु के ऊपर से नीचे की ओर जाने की क्रिया का नाम पतन है। यह क्रिया जिस वस्तु में होती है वह उसका समवायिकारण होती है और उस वस्तु का भारीपन उसका असमवायिकारण होता है। वस्तु का यह भारीपन ही गुरुत्व है। गुरुत्व पृथ्वी और जल में रहता है। परमाणु का गुरुत्व नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पृथ्वी और जल का गुरुत्व अनित्य होता है। अनित्य गुरुत्व अपने आश्रय द्रव्य के समवायि-कारणों में रहने वाले गुरुत्व से उत्पन्न होता है और अपने आश्रय के नाश से नष्ट होता है। जैसे—वृक्ष के साथ फल का संयोग फल के पतन का, बाण का वेग बाण के पतन का, आकाश में उड़ते पक्षी आदि का प्रयत्न उनके शरीर के प्रयत्न का प्रतिबंधक होता है। इन प्रतिबंधकों का अभाव होने पर फल, बाण और पक्षी आदि के शरीर में विद्यमान गुरुत्व से उनका पतन होता है। स्वाभाविक और नैमित्तिक भेद से गुरुत्व दो प्रकार का होता है। किसी वस्तु में स्वयं भारीपन होने से उसकी पतनशीलता स्वाभाविक गुरुत्व कहलाती है और किसी भारी वस्तु का उस वस्तु पर गिरना जो उसे स्वयं भारी बनाकर नीचे की ओर उन्मुख कर देता है उसे नैमित्तिक गुरुत्व कहते हैं।

गोत्र—जैन दर्शन में कर्म-भेद। **गर्हितेषु तन्नीचैर्गोत्रम्** (भामती, पृ० ७४५)। अर्थात् सम्पन्न और विपन्न जातियों में जन्म देने वाले कर्मों को गोत्र कर्म कहते हैं।

गौण—चर्या (प्रधान विधि) के अनुग्राहक (सहायक) अनुस्नान आदि को गौण कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न भोजन, उच्छिष्ट भोजन आदि के द्वारा शरीर में जो अयोग्यता (अपवित्रता) आ जाती है, उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है (सर्व० सं०, पृ० ६३)।

गौणी—लक्षणा-भेद। नागेशभट्ट के अनुसार—**स्वनिरूपित सादृश्याधि-**

करणत्व सम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थ प्रतिपादिका गौणी (प० ल० म०; पृ० ६३)। अर्थात् स्व यानि शक्य अर्थ से उपस्थित जो सादृश्य उसका अधिकरण होना; रूप संबंध के द्वारा वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली लक्षणा गौणी लक्षणा कही जाती है। जैसे—गौर्वाहीका। यहाँ गौ पद का शक्य अर्थ है—बैल। बैल में जो जड़ता आदि अवगुण हैं उसी के सदृश जड़ता आदि वाहिक में भी है। इस प्रकार सादृश्य रूप सम्बन्ध के द्वारा वाहिक अर्थ का बोध यहाँ गौणी लक्षणा से होता है। तंत्रवार्तिककार के अनुसार—**लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद् वृत्ते, इष्टा तु गौणता**—अर्थात् जो सादृश्य संबंध पर आश्रित रहती है उसे गौणी लक्षणा कहते हैं।

घ

घ्राण—घ्राण शब्द की उत्पत्ति 'घ्रा' धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर होती है जिसका सामान्य अर्थ होता है—गंध की उपलब्धि का कारण। तर्कभाषाकार के अनुसार—**गंधोपलब्धि साधनमिन्द्रियं घ्राणम्** (त० भा०, पृ० २८८)। अर्थात् गंध की उपलब्धि का कारणभूत इन्द्रिय घ्राण है।

च

चक्रक—चक्रमिव चक्रक:—तात्पर्य यह कि जो मण्डलाकार या गोलाकार है वह चक्रक है। न्याय दर्शन के अनुसार—**स्वज्ञान सापेक्षज्ञान सापेक्ष ज्ञान विषयत्वं चक्रकम्** (त० भा०, पृ० १०)। आशय यह कि किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिए अपेक्षणीय ज्ञान को अपेक्षित ज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय ज्ञान का

विषय हो जाना चक्रक है। जैसे—गौ के ज्ञान के लिए गोत्व का ज्ञान और गोत्व के ज्ञान के लिए सास्ना का ज्ञान।

चक्षु—चष्टेनेन इति चक्षुः—अर्थात् जिससे रूप देखा जाता है उसे चक्षु कहते हैं। नेत्र, नयन, लोचन आदि इसके पर्याय हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**रूपोपलब्धि साधनमिन्द्रिय चक्षुः**। अर्थात् जो इन्द्रिय रूप की उपलब्धि—प्रत्यक्ष का साधन हो उसे चक्षु कहा जाता है।

चरित्र—सर्वथावधयोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते (सर्व० सं०, पृ० १४०)। अर्थात् पाप के साथ संबंध का सर्वथा त्याग करना चरित्र है।

चार्वाक—चार्वाक शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—चर्वन करना। कुछ दार्शनिक चारु+वाक् यानि कि सुन्दर वचन से चार्वाक का अर्थ ग्रहण करते हैं। चार्वाक का लोक यानि कि जगत में विस्तार (प्रचार) होने से लोकायत भी कहा जाता है।

चित्त—चित्त शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्' धातु से होती है जिसका अर्थ चेतना, ज्ञान, इत्यादि होता है। योग दर्शन में अन्तःकरण, मन, बुद्धि और अहंकार का सामूहिक नाम चित्त है। प्रकृति में सत्व, रज एवं तम तीन गुण रहते हैं उनमें लाघव तथा प्रकाश, स्वभाव वाला जो सत्व गुण है उसका परिणाम विशेष चित्त कहा जाता है। यद्यपि चित्त एक है तथापि तीन गुणों से निर्मित होने के कारण एवं गुणों में विषमता के कारण वह अनेक अवस्था वाला हो जाता है। योग दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं की चर्चा की गई है—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**प्रमाणमात्र व्यंग्या विवेकप्रवृत्तिः चित्तः** (सर्व० सं०, पृ० ३८८)। अर्थात् प्रमाणों के ज्ञान से व्याप्त विवेक प्रवृत्ति चित्त है।

चेष्टा—इसका सामान्य अर्थ होता है—प्रयत्न, प्रयास, गति इत्यादि। न्याय सूत्र (१.१.१) में कहा गया है—**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्**। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है कि प्राप्त करने की इच्छा के विषय पदार्थ को उद्देश्य कर प्राप्ति की अथवा त्याग की इच्छा से प्रेरणा किए हुए प्राणी की प्राप्ति तथा त्याग के उपायों के आचार रूप समीहा को चेष्टा कहते हैं। वार्तिककार के अनुसार—हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते हैं। परिशुद्धिकार का मत है कि प्रयत्न से प्रेरित आत्मा का व्यापार चेष्टा है।

चैतन्य—भारतीय दर्शन में चैतन्य के संदर्भ में अलग-अलग दार्शनिकों का अलग-अलग विचार देखने को मिलता है। चार्वाक दर्शन भौतिकवादी होने के कारण वह चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को स्वीकार नहीं करता। किन्तु चैतन्य की सत्ता का वह निषेध भी नही करता। उसके अनुसार इन चार तत्वों के संयोग से चैतन्य अपने आप उत्पन्न हो जाता है। इस संदर्भ में एक दृष्टान्त देते हुए यहां कहा गया है—

> **जड़ भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।**
> **ताम्बूलपूग चूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥** (स०सि० सं०, २.७)

आशय यह कि जिस प्रकार ताम्बूल, खैर, चूना, तथा सुपारी में अलग-अलग लाल रंग नहीं होता किन्तु इनको संयुक्त रूप से खाने वाले के मुंह में लाल रंग उत्पन्न हो जाता है इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार तत्वों का एक साथ संयोग होने पर चैतन्य स्वतः उत्पन्न हो जाता है। जैन दर्शन में चैतन्य को जीव का स्वभाव माना गया है। यहाँ पर चैतन्य को ही चेतना, ज्ञान और उपयोग इत्यादि शब्दों के द्वारा सम्बोधित किया गया है। बौद्ध दर्शन में पांच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) की चर्चा की गई है। इनमें से विज्ञान स्कंध को ही चैतन्य माना गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में चैतन्य ज्ञान का पर्याय है। इनके अनुसार—ज्ञान ही चैतन्य है। नैयायिक यह मानते हैं कि चैतन्य में किसी आश्रय द्रव्य का होना आवश्यक है और वह आश्रय द्रव्य आत्मा है एवं चैतन्य उसका गुण है।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि जहां न्याय-दर्शन में चैतन्य को आत्मा का गुण माना गया है। वहीं सांख्य दर्शन में चैतन्य को आत्मा का स्वभाव माना गया है। अद्वैत वेदान्ती यह मानते हैं कि एक मात्र विशुद्ध चैतन्य की ही सत्ता है। जीव, जगत आदि का कारण वह चैतन्य ही है। यह तत्व की मात्रा के कारण जीव, जगत आदि अलग-अलग रूपों में प्रकट होगा है। शैव दर्शन के अनुसार—दृष्टि, शक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में चैतन्यात्मक शिव तत्व की प्राप्ति होती है। दृक् और क्रिया के रूप में जो चैतन्य है वह आत्मा में सब समय सब तरह से है, क्योंकि मुक्त होने पर सभी ओर मुख वाला चैतन्य सुना जाता है।

चोदना—मीमांसा दर्शन में विधिवाक्य। मीमांसा शाबर भाष्य (१.१.२) में कहा गया है—**चोदना इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः।** तात्पर्य यह कि क्रिया के प्रवर्तक वचन को चोदना कहते हैं। उस चोदना से जो अर्थ लक्षित

होता है वह पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है। चोदना निश्चय से भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, व्यपहित और दूर आदि सभी प्रकार के अर्थ को बोधित कराने में समर्थ है अन्य कोई इन्द्रिय उक्त प्रकार के अर्थ को बतलाने में समर्थ नहीं है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में कहा है—

तेनैवैमर्थशब्दस्य प्रयोजनमिहोच्यते।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्द श्रवणेन धीः॥
सा चोदनेति सामान्यं लक्षणं हृदये स्थितम्।
प्रवर्तक गृहीतेस्तु स्यादुदाहरणार्थता॥

(श्लो० वा०, चो० श्लोक, २११-१२)

कहने का तात्पर्य यह कि प्रवर्तक एवं निवर्तक वाक्य ही चोदना का लक्षण है। इनमें से प्रवर्त्तक स्वरूप चोदना से निर्दिष्ट कर्मकलाप है अर्थ एवं निवर्तक रूप चोदना से निदृष्ट कर्म कलाप है अनर्थ। इस लक्षण से श्लोक वार्त्तिककार चोदना के दो प्रकार मानते हैं—प्रवर्त्तक वाक्य रूपा चोदना और निवर्तक वाक्य रूपा चोदना। इसमें अर्थ विषयक प्रवृति के उत्पादक वाक्य को प्रवर्त्तक वाक्य रूपा चोदना और अनर्थ विषयक निवृत्ति के उत्पादक वाक्य को निवर्तक वाक्य रूपा चोदना कहते हैं।

छ

छल—वचन विघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम् (न्या० सू०, १.२.१०)। अर्थात् अर्थ भेद को ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है उसका नाम छल है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्याऽर्थान्तरम् परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्** (त० भा०, पृ० ३६०)। आशय यह कि एक अर्थ के तात्पर्य से प्रयुक्त किये गये शब्द के किसी दूसरे अर्थ की कल्पना कर दिये जाने वाले दोष कथन को छल कहते हैं। जैसे 'नवीन' अर्थ के तात्पर्य से 'नव' शब्द का प्रयोग करते हुए कोई व्यक्ति देवदत्त के बारे में कहता है—**नवकम्बलोऽयं देवदत्तः**—देवदत्त के पास नया कम्बल है। इस कथन को सुनकर दूसरा व्यक्ति यदि 'नव' शब्द के नौ संख्या अर्थ को ग्रहण कर

उक्त कथन में इस प्रकार का दोष बताता है कि देवदत्त तो दरिद्र है, उसके पास दो कम्बल भी नहीं हैं, तो फिर उसके पास नव कम्बल कैसे होगा ? अतः यह कहना असत्य है कि देवदत्त के पास नव कम्बल हैं। छल के उक्त लक्षणानुसार यह दोष कथन छल है।

ज

जगत—विश्व, संसार, प्रपञ्च इत्यादि जगत के पर्याय हैं। मुण्डकोपनिषद् (१.१.६) में कहा गया है—

> **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च,**
> **यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
> **यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि,**
> **तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥**

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाले बनाती है और निगल जाती है, जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं, और जिस प्रकार जीवित मनुष्य के केश उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त जगत उत्पन्न होता है। श्रीमद् भागवत् (१.१२.३९) में कहा गया है कि—

> **यथाक्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।**
> **इच्छया क्रीडतुः स्यातां तथैवसेच्छया नृणाम् ॥**

तात्पर्य यह कि परमेश्वर इच्छा ही जगत की उत्पत्ति का हेतु है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**जगत्सत्यत्वम् दृष्टकारण जन्यत्वाद्बाधकाभावात्** (सां॰ सू॰, ६.४२)। तात्पर्य यह कि जगत तीन गुणों (सत्व, रज, तम) का व्यवसाय-व्यवसेय परिणाम है। रज्जु में प्रतीयमान सर्प की तरह यह अलीक नहीं बल्कि पूर्ण सत्य है। गीता में प्रतिपादित जगत की सत्यता सांख्य के अनुकूल है। गीता (१६.८) में कहा गया है—**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्**। अर्थात् आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य ही जगत को आश्रय रहित और अलीक कहते हैं,

इनके विपरीत सभी जगत को सत्य निरूपित करते हैं। आचार्य शंकर 'आत्मकृते परिणामात् (ब्र० सू० शां० भा०, १.४.२६)। सूत्र से जगत को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि यहां पर शंकर द्वारा प्रयुक्त परिणाम का अर्थ सांख्य की तरह नहीं, बल्कि विवर्त्त के रूप में है। शंकर अपने मंतव्य को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से श्रुति वाक्य को उद्धृत करते हुए कहते हैं— **सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलान** (वृ० उप०, ३.१४.१)। तात्पर्य यह कि यह जगत ब्रह्म रूप है। यह ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में स्थित रहता है और अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में जगत परमाणुओं का विस्तार है। उनके अनुसार जब दो परमाणुओं का संयोग होता है तो द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों के संयोग से त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। चार त्रसरेणु के संयोग से चतुरणुक उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् इससे जगद् की उत्पत्ति होती है। बौद्ध दर्शन में जगत पुद्गल का विस्तार है। इनके अनुसार— पुद्गल ही परमाणु है। चूंकि बौद्ध दार्शनिक सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं, अस्तु उनके अनुसार पुअ्गल भी क्षणिक होने के कारण अनित्य है। नागार्जुन ने माध्यमिक सूत्र (२३.८) में जगत को लोक संवृत्ति सत्य कहा है। मीमांसकों के अनुसार जगत की न तो कभी उत्पत्ति होती है और न कभी प्रलय। यह सतत् प्रवाहशील है। श्लोक वार्त्तिककार के असनुार—

तस्माद् यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत् तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथवेतरत्॥

आशय यह कि जगत् जिस रूप में दिखाई देता है उसी रूप में वह सत्य है। कुछ मीमांसकों की मान्यता है कि जगत परमाणुओं द्वारा निर्मित होता है। यहां ध्यातव्य यह है कि मीमांसकों के अनुसार परमाणु इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है जिस परमाणु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है उसी से जगत की रचना होती है; किन्तु नैयायिकों के अनुसार परमाणु योगज प्रत्यक्ष का विषय है। इस योगज प्रत्यक्ष परमाणु से ही वे जगत की सृष्टि मानते हैं।

जनन—इसका सामान्य अर्थ होता है—उत्पत्ति, जन्म, आविर्भाव इत्यादि। योग दर्शन में मंत्र संस्कार का भेद। योग दर्शन के अनुसार—**मंत्राणां मातृकायन्त्रा यु्द्धारो जननं स्मृतम्** (सर्व० सं०, पृ० ७०६)। तात्पर्य यह कि मातृका यंत्र (अक्षरों का बना हुआ यंत्र) से मंत्रों का उद्धार करना जनन संस्कार है।

जन्म—सांख्य दर्शन के अनुसार—**लिंग शरीरस्य देहसंचारएव जन्म**—अर्थात् सूक्ष्म शरीर का स्थूल लोक में जाकर आतिवाहिक शरीर की सहायता से जीव जो शरीर को ग्रहण करता है वह जन्म कहलाता है (सां० त० कौ०; पृ० २४८)। न्याय दर्शन में कहा गया है—**शरीरेन्द्रिय बुद्धीनां निकाय विशिष्टः प्रादुर्भावः जन्मः** (न्या० सू०, १.१.२)। अर्थात शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धियों के समान जाति के समुदाय सहित प्रादुर्भाव होना जन्म कहलाता है। आगे इसी बात की चर्चा करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—**उत्पन्नस्य क्वचित्सत्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः जन्मः** (वात्स्या०, १.१.१९)। अर्थात् किसी प्राणी समूह में उत्पन्न होकर मरण के पश्चात् जो पुनः उत्पत्ति होती है वह जन्म कहलाता है। जन्म के समय जीवात्मा के शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा हर्ष शोक, भय आदि रूप संवेदनाओं के कर्मानुसार होता है।

जल—आप। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः** (वै० सू०, २.१.२)। अर्थात् जो रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व तथा स्नेह आदि गुण से युक्त है वह जल है। प्रशस्तपाद भाष्य में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व तथा संस्कार ये चौदह गुण जल में माने गए हैं। जल नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। यह परमाणु रूप से नित्य, किन्तु कार्य रूप से अनित्य होता है। इसका स्वाभाविक रूप शुक्ल, स्वाभाविक रस, मधुर तथा स्वाभाविक स्पर्श शीतल है (प्र० भा०, पृ० २०-२१)। जल के शरीर, इन्द्रिय तथा विषय भेद से वैशेषिक-दर्शन में तीन कार्य माने गए हैं, किन्तु मीमांसक इन्द्रिय और विषय भेद से जल के दो ही कार्य मानते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तन्मात्राओं से जल उत्पन्न होता है (सां० त० कौ०, पृ० २४४)। श्रीमद् भागवत में जल की आठ वृत्तियों की चर्चा की गई है—

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम्।
तापापनोदो भूयस्त्वमभ्यो वृत्तयस्त्विमाः॥

(श्रीमद्भागवत्, ३.२६.४३)

अर्थात् क्लेदन, पिण्डन, तृप्ति प्राणन, आप्यायन, नोदन, तापापनोद और भुयस्त्व इन आठ वृत्तियों (कार्यों) से जो युक्त है, वह जल है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**अप्त्वसामान्य युक्ता आपः** (त० भा०, पृ० २२६)। अर्थात् जलत्व जाति ही जल का लक्षण है। नैयायिक स्नेहत्व को जल का विशेष गुण

मानते हैं। वैशेषिक दर्शन की तरह न्याय दर्शन में भी नित्य तथा अनित्य भेद से जल दो प्रकार का माना गया है।

जल्प—**उभय साधनवती विजिगीषुकथा जल्पः** (त०भा०, पृ० ३४५)। तात्पर्य यह कि विजय की कामना से जो कथा की जाती है तथा जिसमें पक्ष प्रतिपक्ष दोनों पक्षों का साधन किया जाता है, उस कथा का नाम है—जल्प।

जहद—लक्षणा भेद। जिस लक्षणा में वाक्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ न होकर अन्यार्थ (शक्य भिन्न अर्थ) की प्रतीति होती है उसे जहद लक्षणा कहते हैं। जैसे—विष खाओ—इस पद से विष भक्षण रूप वाक्यार्थ का ज्ञान न होकर 'शत्रु के घर मत जाओ' इस लक्षणार्थ की प्रतीति होती है, अतः यह जहद लक्षणा है (वे० परि०, पृ० २०४)।

जहदजहद—लक्षणा भेद। **यत्र हि विशिष्ट वाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहद लक्षणा** (वे०परि०, पृ०२०७)। अर्थात् जिस वाक्य में विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषण रूप एक देश को (एक अंश को) छोड़कर विशेष्य रूप एक अंश का बोधक होता है, वहाँ जहदजहद लक्षणा होती है। जैसे—'**सोऽयं देवदत्तः**' इस वाक्य में 'स' पद का '**तत्काल विशिष्ट**' और '**अयम्**' पद का '**एतद्कालविशिष्ट**' अर्थ है। परन्तु देवदत्त परोक्ष और अपरोक्ष विरुद्ध उभय कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता। इसलिए सः और अयं दोनों पद केवल देवदत्त रूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं। स्वार्थपरक (वाच्यार्थपरक) नहीं है। इसलिए यह जहद-जहद लक्षणा है, इस लक्षणा का एक उदाहरण इस प्रकार से भी दिया जाता है—कौवे से दधि की रक्षा करो। ऐसे वाक्य में 'काक' शब्द के वाच्यार्थ (काकत्व विशिष्ट काक) का परित्याग कर और अशक्यार्थ (दध्युपघातकत्व) का पुरस्कार कर 'काक' शब्द की काक तथा अकाक (काकभिन्न) अर्थात् दही को दूषित करने वाले मार्जादि (प्राणी) अर्थ में प्रवृत्ति है। इसलिए यह जहदजहद लक्षणा का उदाहरण है।

जाति—न्याय दर्शन के अनुसार साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर किसी का विरोध करना जाति है (सर्व० सं०, पृ० ४२५)। यहाँ पर जाति के चौबीस भेद किए गए हैं—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम्, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्त-सम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, और

कार्यसम। बौद्ध दार्शनिक इन चौबीस जातियों के अतिरिक्त तीन और जातियों को मानते हैं—कार्यभेद, अनुक्ति और स्वार्थविरुद्ध। जैन दार्शनिक नैयायिकों के चौबीस भेदों के अतिरिक्त जाति के ग्यारह अन्य भेदों की चर्चा करते हैं—भेदाभेद, प्रश्नबाहुल्य-उत्तराल्पता, प्रश्नाल्पता-उत्तरबाहुल्य, हेतुसम, व्याप्तिसम, अव्याप्तिसम, विरुद्ध, अविरुद्ध, असंशय, श्रुतिसम, श्रुतिभिन्न।

जिज्ञासा—'ज्ञा' धातु में सन् प्रत्यय करने पर जिज्ञासा शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ होता है—जानने की इच्छा। **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** (ब्र०सू०, १.१.१), **अथातो धर्मजिज्ञासा** (मी०सू०, १.१), **दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा** (सां०का०, १) इत्यादि विचार जिज्ञासा पदार्थ हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि जिज्ञासा पद के द्वारा जहाँ वेदान्ती ब्रह्म ज्ञान की बात कहकर मोक्ष की बात करते हैं, वहीं मीमाँसक धर्मबोध के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की बात करते हैं। सांख्य दर्शन इस पद के द्वारा तीनों दुःखों (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) का विनाश करके कैवल्य का निर्देश देता है।

जिन– जिन शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—विजेता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति ने अपने इन्द्रियों एवं विषयों पर विजय प्राप्त करके इस सांसारिक प्रपञ्च से छुटकारा पा लिया है वह जिन है। जिन के उपदेशों का पालन करने वालों को जैन कहा जाता है तथा इनके सम्प्रदाय को जैन सम्प्रदाय, जैन धर्म आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

जीव—**जीवेनात्मनानुऽप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि** (छा०उप०, ६.३.२)। अर्थात् जीव ब्रह्म का शरीर रूप में अवस्थित होना है। कठोपनिषद् (२.१.७) में कहा गया है—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति या भूतेभिर्व्यजायत॥

अर्थात् सर्वदेवतामयी अदिति जो प्राण रूप से प्रकट होकर बुद्धि रूप हृदयाकाश में स्थित होकर रहती है वही जीव है। वृहदारण्यकोपनिषद् (२.१.२०) में कहा गया है—**यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिंगा व्युच्चरंत्येवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।** अर्थात् ब्रह्म से समस्त प्राण, लोक, अन्तःकरण तथा सच्चरित और असच्चरित जीव वैसे ही प्रकट होते हैं जैसे अग्नि से छोटे-छोटे अग्निकण उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। (गी०, १५.७)

अर्थात् जीव ईश्वर का सनातन अंश है । जैसे विभाग रहित स्थित हुआ भी महाकाश घटों में पृथक-पृथक प्रतीत होता है वैसे ही सब भूतों में एकीरूप से स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक-पृथक प्रतीत होता है । शंकराचार्य के अनुसार— **जीव ईश्वर स्वांशो यथाऽग्नेर्विस्फुलिंग** (ब्र०सू०शां०भा०, २.३.४३)। अर्थात् जीव ईश्वर का अंश है, जैसे अग्नि का विस्फुलिंग । इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए भाष्यकार (१.३.१९) कहते हैं—जब तक स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैत लक्षण अविद्या की निवृत्ति कूटस्थ, नित्य, ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार नहीं जान लेता तब तक जीव में जीवत्व है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**अविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः जीवः** (भा०, १.४.२२) । आशय यह कि अविद्या की उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीव रूप में प्रतीत होता है । इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है—घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश घटाकाश एवं मठाकाश से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार है वैसे ही जीव ब्रह्म से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार । स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी में कहा है—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंग देहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिंग देहस्था तत्संगो जीव उच्यते ।। (पं०द०, ४.११)

अर्थात् जीव अविद्या का अधिष्ठान चैतन्य, अविद्या तथा उसमें स्थित चैतन्य आभास का समिश्रण है । सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक में कहा है—**कार्योपाधिरयं जीवः**—अर्थात् कार्यरूप उपाधि जीव है । मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिंदु (पृ० ४६) में कहा है—**अन्तःकरणतत्संकारावच्छिन्नाज्ञान-प्रतिबिम्बं चैतन्यं जावः** । अर्थात् अन्तःकरण एवं उसके संस्कारों से युक्त अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है । रामानुज के अनुसार—जीव चित् तत्व है। श्री भाष्य (२.३.१३) में उन्होंने कहा है—**ज्ञातृत्वमेव जीवात्मा स्वरूपम्**— अर्थात् ज्ञातृत्व (जानना) ही जीवात्मा का स्वरूप है। जीव विभु होने से एक ही साथ कई शरीरों में निवास कर सकता है । रामानुज की मान्यता है कि जीव शरीर के अनुरूप परिणाम धारण करता है । चार्वाक दर्शन के अनुसार— **चैतन्य विशिष्ट देह एवात्मा** (सर्व०सं०, पृ० ४) । अर्थात् चैतन्य से युक्त शरीर को ही जीव कहा जाता है । इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार किण्व आदि से

मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के रूप में बदल जाने पर पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार तत्वों से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैन दर्शन में कहा गया है—**बोधात्मको जीवः** (सर्व० सं०, पृ० १४३)। अर्थात् जो ज्ञान रूप है वह जीव है। यहाँ पर जीव और आत्मा दोनों को एक ही माना गया है। इनकी मान्यता है कि चैतन्य सभी जीवों में समान रूप से पाया जाता है। इनके अनुसार संसारी और मुक्त भेद से जीव के दो भेद हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं—समनस्क और अमनस्क। इसमें से अमनस्क जीव के त्रस और स्थावर दो भेद किये गए हैं। त्रस जीव के चार प्रकार हैं—द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, एवं पंचेन्द्रिय। नकुलीश पाशुपत दर्शन में जीव को पशु कहा गया है। उनके अनुसार —**पशुत्व सबंधी पशुः** (सर्व० सं०, पृ० ३०९)। अर्थात् पशुत्व यानि कि पुनर्जन्मादि गुण जिसमें हो वह पशु (जीव) है। यह दो प्रकार का होता है—साजन यानि कि शरीर एवं इन्द्रियों से युक्त और निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय से रहित)। शैवदर्शन में भी जीव को पशु शब्द से अभिहित किया जाता है। शैव दर्शन के अनुसार—**अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः** (सर्व०सं०,पृ० ३३२)। अर्थात् जो अणु नहीं है, क्षेत्रज्ञ शब्दों से जिसका बोध हो वह जीवात्मा पशु है। सांख्य दर्शन के अनुसार अन्तःकरण से उपलक्षित आत्मा जीव है। न्याय दर्शन में कहा गया है—**इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्** (न्या० सू०, १.१.१०)। अर्थात् जीव वह है जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान इन छः गुणों से युक्त है। वैशेषिक सूत्र (३.१.२) में कहा गया है—**इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः**। आशय यह कि इन्द्रिय एवं उनके ग्राह्य विषयों की प्रसिद्धि ही इन्द्रिय एवं उनके ग्राह्य विषयों से भिन्न जीव रूप पदार्थ की सिद्धि में हेतु है।

जीवन—योग दर्शन में मंत्र संस्कार का भेद। योग दर्शन के अनुसार —

प्रणवान्तरितान्कृत्वा मंत्रवर्णाज्जपेत्सुधीः।
मंत्रार्णसंख्यया तद्धि जीवनं संप्रचक्षते॥

(सर्व० सं०, पृ० ७०९)

तात्पर्य यह कि मंत्र के अक्षरों को प्रणव (ॐकार) से घेरकर मंत्र के वर्णों की संख्या के अनुसार जप करना ही जीवन संस्कार है। किसी मंत्र में जितने वर्ण हों, जप की संख्या भी उतनी ही होगी। जैसे—'नमः शिवाय' इस मंत्र में पाँच वर्ण हैं, तो इसका जप भी पांच बार ही करना चाहिए। न्याय दर्शन के

अनुसार—**विपच्यमानकर्माशय मात्रं जीवनम्** (वात्स्या०, ३.२.२७)। आशय यह कि फल देने वाला कर्माशय ही जीवन है।

जीवन मुक्ति—निःश्रेयस। मुण्डकोपनिषद् (२.२.८) में कहा गया है—

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥**

अर्थात् जीवन मुक्ति वह है जिसमें कारणकार्यरूप ब्रह्म का आत्मभाव से दर्शन कर लेने पर अहंकार रूप हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध के अतिरिक्त सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**जीवनमुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञान तत्कार्य संचित कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः** (वे०सा०, पृ० २२८)। अर्थात् अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मविषयक अज्ञान का बाध होने के द्वारा, स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, अज्ञान, उसके कार्य (स्थूल एवं सूक्ष्मप्रपञ्च), संचित कर्म, संशय और विपर्यय आदि का विनाश हो जाने से समस्त बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन्मुक्त होता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (१.१.४) के भाष्य में कहा है—**तद्यथाऽहि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। स चक्षुर चक्षुरिव सकर्णोकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राणा इव।** अर्थात् जीवन्मुक्ति की अवस्था में शरीर के रहने पर भी शरीर में स्थित यह आत्मा अशरीर है, अमृत, प्राण, ब्रह्म है स्वयं प्रकाश ही है। वस्तुतः वह नेत्र रहित भी सनेत्र के समान, श्रोत्र रहित भी श्रोत्र सहित सा, वाणी रहित भी वाणी सहित सा, मनरहित भी मनसहित सा, प्राण रहित भी प्राणसहित सा प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए शंकराचार्य ने कहा है जैसे—सांप अपनी कांचुली में अपनापन छोड़कर जहाँ चाहे उसे उतार फेंक देता है, उसके प्रति फिर ममता नहीं करता, वैसे ही आत्मवित अपने स्थूल शरीरादि में अहंता, ममता त्यागकर उसमें रहता हुआ भी न रहने के समान रहता है (ब्र०सू०शां० भा०, १.१.४)। ईशावास्योपनिषद् (मंत्र ६) में कहा गया है—

> **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।**
> **सर्वभूतेषु चात्मानंततो न विजुगुप्सते॥**

तात्पर्य यह कि जो पुरुष सभी भूतों को अपने आत्मा में ही देखता है तथा

अपने आत्मा को उन सब भूतों में देखता है वह जीवन्मुक्त है । श्रीमद्भगवत्-गीता में कहा गया है—

> यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
> ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।
> न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
> तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। (गी०, ४.३७-३८)

अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है । इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है उस ज्ञान को कितने काल से अपने आप समत्वबुद्धि रूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है । योग दर्शन के अनुसार—**ततः क्लेश कर्मनिवृत्तिः** (यो०सू०, ४.३०) । आशय यह कि क्लेश कर्म वासना से युक्त जो कर्माशय है वही जाति, आयु और भोग का हेतु है । जब धर्ममेध समाधि के लाभ से क्लेश कर्म वासना का क्षय हो जाता है तब कारण का अभाव होने से जात्यादि का भी अभाव होना स्वाभाविक है । अतः जन्म-मरण के कारण क्लेश कर्म वासना का अभाव होने से विद्वान जीवन्मुक्त हो जाता है । सांख्य दर्शन के अनुसार—

> सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ ।
> तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।

तात्पर्य यह कि तत्वज्ञान के अधिगम होने के कारण धर्म, अधर्म आदि की कारणता (भोगादि उत्पादकत्व) नष्ट हो जाती है । प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के बल से पुरुष उसी प्रकार शरीर धारण किए रहता है जिस प्रकार दण्ड से चलाया गया कुम्हार का चक्र दण्ड का चालन न होने पर भी संस्कार (वेग) से कुछ काल पर्यन्त घूमता रहता है । मीमांसक एवं रामानुज जीवन्मुक्ति को नहीं मानते । इनके अनुसार शरीर ही बन्धन का कारण है । अतः शरीर के रहते जीवन्मुक्ति मानना स्वतोव्याघाती है । रसेश्वर दर्शन के अनुसार—**पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय** (सर्व० सं०, पृ० ३७५) अर्थात् जीवन्मुक्ति वह है जिसमें आत्मकत्व का साक्षात्कार हो जाता है । इसमें अभ्यास के आधिक्य से मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्म को भोगने के लिए जीव शरीर धारण किये रहता है । इसे अपरमुक्ति भी कहते हैं ।

ज्ञान—ज्ञान शब्द की उत्पत्ति 'ज्ञा' धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर होती है, जिसका अर्थ होता है—जानना, समझना, परिचित होना इत्यादि। वाचस्पति मिश्र के अनुसार—जिससे अर्थ प्रकाशित हो वह ज्ञान है (भामती, पृ० ३४)। यह सृजनात्मक नहीं बल्कि ज्ञानात्मक प्रक्रिया। जैसे प्रकाश किसी वस्तु को प्रकाशित मात्र करता है उसका निर्माण नहीं करता, उसी प्रकार ज्ञान किसी वस्तु का सृजन नहीं करता उसके स्वरूपमात्र को प्रकट करता है। चार्वाक दर्शन ज्ञान को भौतिक पदार्थों का आगन्तुक गुण मानता है। उसके अनुसार जब भूत विघटित होते हैं तो उसी के साथ यह गुण भी समाप्त हो जाता है (सर्व० सं०, पृ० ४)। नैयायिक ज्ञान को आत्मा का आकस्मिक गुण मानते हैं। जैन एवं वैष्णववादी रामानुजादि ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं। बौद्ध तथा भट्ट मीमांसक ज्ञान को आत्मा की क्रिया मानते हैं—**ज्ञान क्रिया सकर्मिका** (शा० दी०, पृ० ५६)। मीमांसकों की मान्यता है कि जब तक ज्ञाता आत्मा में किसी क्रिया को नहीं स्वीकार करता तब तक उसे किसी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके अनुसार जैसे पकाना चावल में पकने का गुण उत्पन्न करता है उसी प्रकार ज्ञान क्रिया अज्ञात विषय का बोध कराता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ज्ञान के लक्षण के प्रसंग में कहते हैं कि—**ज्ञानं तु प्रमाण जन्यं। प्रमाणं च यथाभूतं वस्तु विषयम्। यतो ज्ञानं कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् वा अशक्यम्, केवलम् वस्तु तंत्रमेव तत्** (ब्र० सू० शां० भा०, १.१.४)। आशय यह कि ज्ञान प्रमाणजन्य है। प्रमाण यथाभूत वस्तुविषयक होता है, अतः ज्ञान कारक, अकारक या अन्यथाकारक नहीं होता। वह वस्तुतंत्र होता है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान का प्रयोग निरपेक्ष ज्ञान और सम्बन्धात्मक अथवा व्यावहारिक दोनों अर्थों में किया जाता है। निरपेक्ष ज्ञान जो अतीन्द्रिय है और असम्बन्धात्मक है, इसका व्यावहारिक वस्तुओं से वास्तविक सम्बन्ध नहीं है जबकि अनुभवात्मक या व्यावहारिक ज्ञान अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या की सृष्टि है। यदि निरपेक्ष ज्ञान को स्वरूप ज्ञान कहा जाये तो व्यावहारिक ज्ञान वृत्ति है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—स्वरूप ज्ञान को शुद्ध चेतना कहा गया है जो स्वतंत्र एवं सर्वव्यापी तत्व है।

ज्ञान लक्षण—नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अलौकिक प्रत्यक्ष का भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—जब किसी वस्तु को देखने के साथ ही व्यक्ति अपने संस्कारवश उस वस्तु में विद्यमान धर्म का भी ज्ञान करता है तो उसे ज्ञान

लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं। विश्वनाथ ने भाषा परिच्छेद (कारिका ६५) में ज्ञान लक्षण के संदर्भ में कहा है—**विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञान लक्षणः**—अर्थात् जब किसी वस्तु के ज्ञात होने पर उस वस्तु के ज्ञान का उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है तब वह ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है। जैसे—चन्दन का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर बिना घ्राण का आश्रय लिए चन्दनगत सौरभ का ज्ञान हो जाता है, सौरभ की यह प्रतीति ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष है। वात्स्यायन में न्यायभाष्य (३.१.१२) में कहा है—पूर्वकाल में जिस पुरुष ने किसी आम्रफल ने उसके मीठे रस अथवा सुगन्ध को साथ में जान लिया है, बाद में रस के साथ गंध को आम में वही पुरुष देखता है तो इस रसरहित रूप को चक्षु से देखने तथा रसरहित उस आम की सुगंध को घ्राणेन्द्रिय से सूंघता है, तो उसके चक्षु आदि से भिन्न दूसरे रसना रूप इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होता है, क्योंकि आंख से रूप अथवा घ्राणेन्द्रिय से अनुमान द्वारा उस आम के रस का स्मरण होकर उस पुरुष को मीठे रस की प्राप्ति की आशा रूप तृष्णा से दाँत से पानी गिरने लगता है—यह ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वात्स्यायन के अनुसार—एक विशेष इन्द्रिय द्वारा अन्य इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान, ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष है। अद्वैत वेदान्त नैयायिकों द्वारा मान्य ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष को नहीं स्वीकार करता। इस संदर्भ में अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र का विचार द्रष्टव्य है—**'सुरभिचन्दनम्' इत्या-विज्ञानमपि चन्दनखण्डांशे सौरभांसे परोक्षम्** (वे० परि०, पृ० ४६)। आशय यह कि नैयायिकों के ज्ञानगत प्रत्यक्ष में विद्यमान वस्तु के संबंध में प्रत्यक्ष की क्रिया तथा अतीत में ज्ञात वस्तु के संदर्भ में अनुमान की क्रिया होती है। इसलिए उपर्युक्त प्रकार से वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से हो सकता है न कि नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष से।

ज्ञानाध्यास—अध्यास भेद। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—

प्रमाण दोष संस्कारजन्मान्यस्य परात्मता।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः॥

(सर्व० सं०, पृ० ८०१)

आशय यह कि जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तब उसे ज्ञानाध्यास कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रिय—इन्द्रिय भेद—ज्ञान के उत्पादक इन्द्रिय को ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है। न्याय दर्शन में दो प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों की चर्चा की गई है—बाह्य

ज्ञानेन्द्रिय और आन्तर ज्ञानेन्द्रिय। बाह्य ज्ञानेन्द्रिय पांच प्रकार की मानी गई है—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। इनके क्रमशः विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। आन्तर ज्ञानेन्द्रिय मन को माना गया है। जिसके द्वारा संकल्प-विकल्प, सुख-दुःख इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार पांच बाह्य और एक आन्तर इन्द्रिय को लेकर नैयायिक छः ज्ञानेन्द्रिय स्वीकार करते हैं। नैयायिकों की तरह सांख्य दर्शन भी इन्हीं छः ज्ञानेन्द्रियों को मानता है। अद्वैत वेदान्त मात्र पांच ज्ञानेन्द्रिय मानता है जो हैं—आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। ये इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ज्ञान की उत्पत्ति करती हैं। अद्वैत वेदान्ती मन को ज्ञानेन्द्रिय नहीं मानते। मन को इन्द्रिय न मानने के पक्ष में वेदान्ती तर्क देते हुए कहते हैं कि जिस सुख-दुःख आदि के ज्ञान के लिए नैयायिक मन को ज्ञानेन्द्रिय के रूप में मानते हैं वास्तव में यह ज्ञान मनरूपी आन्तर इन्द्रिय से नहीं बल्कि इनकी जानकारी साक्षी आत्मा को सीधे हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आन्तरिक अवस्थाएं केवल साक्षी वेद्य होती हैं। अस्तु मन को ज्ञानेन्द्रिय मानने की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानशक्ति—प्रतिभा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार—

या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमनिरूपिता।
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥

(सर्व० सं०, पृ० ३६१)

तात्पर्य यह कि जीवों में जो प्रतिभा है वह ज्ञानशक्ति है। वह देश, काल और उपाधियों के द्वारा सीमित है। यह ज्ञानशक्ति प्रमाता महेश्वर है जो क्रम से रहित (उपाधि से रहित) होने पर आनन्द और चित् के रूप में प्रकट होती है।

ट

टिप्पणी—टिप्पणी टीका व्याख्यारूपतयैव व्यवह्रियते।

(न्या० को०, पृ० ३०६)

आशय यह कि टिप्पणी टीका की व्याख्या के रूप में व्यवहृत होती है। जैसे—चिन्तामणि की टीका दीधिति उसकी व्याख्या जागदीशी टिप्पणी है।

टीका—यथासम्भवमर्थस्यटीकनं टीका (का० मी०, पृ० ११)। अर्थात् यथा सम्भव सरल अर्थों का संकेत करना टीका है।

त

तटस्थ लक्षण—लक्षण भेद । अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**कदाचितकत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ लक्षणम्**। अर्थात् जो लक्षण स्वलक्ष्य में कभी रहकर अपने लक्ष्य का अन्य अलक्ष्यों से पृथक बोध करता है वह तटस्थ लक्षण है। जैसे—**जन्माद्यस्य यतः**—जन्म, स्थिति और लय की कारणता ब्रह्म में सदा नहीं रहती, केवल माया की अधिष्ठानता काल में रहती है। इसलिए कदाचित् ही व्यावर्तक होने से जन्म, स्थिति तथा लय की कारणता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यः सर्वज्ञः सर्ववित** इत्यादि श्रुति वाक्य भी ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं।

तत्त्व—न्याय दर्शन के अनुसार—**सतश्च सद्भावोऽसतश्चाऽसद्भावः। सत्सदितिगृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चाऽसदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति** (न्या०सू०, १.१.१)। आशय यह कि भावरूप पदार्थ का सद्भाव यानि कि वर्तमान होना अर्थात् प्रमाण का विषय होना तथा अभावरूप पदार्थ का वर्तमान न होना यानि कि निषेध प्रमाण का विषय होना ही पदार्थों का तत्त्व होता है। क्योंकि यह सत् है, यह सत्य है, भावरूप अमुक पदार्थ है इस प्रकार जाना जाता हुआ जैसा उसका स्वरूप है यदि अभाव रूप न हो तो वह उस अभाव रूप पदार्थ का तत्त्व कहलाता है। यह असत् है, यह असत् है (अर्थात् नहीं है) इस प्रकार अभाव रूप से जाना जाता हुआ जैसा उसका अभाव रूप है यदि उसके विपरीत (भावरूप) न हो तो वह उस अभाव पदार्थ का तत्त्व कहलाता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार—**पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि** (सर्व०सं०, पृ० ४)। अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु ये चार महाभूत ही तत्त्व हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मक चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यमेव तत्त्वम्** (सर्व०सं०, पृ० ६३)। तात्पर्य यह कि

शून्य ही तत्त्व है जो सत्, असत्, सत्-असत्, न सत् न असत् इन चार कोटियों से नितान्त मुक्त है। जैन दर्शन में **जीवाजीवाख्ये द्वे तत्वे स्तः** (सर्व०सं०, पृ० १४३)। अर्थात् जीव और अजीव ये दो तत्व हैं। कुछ जैन दार्शनिक जीव और अजीव तत्त्व का वर्गीकरण दूसरी दृष्टि से करते हैं, जिसके अनुसार—**जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलस्तिकायभेदात्** (सर्व०सं०, पृ० १४६)। अर्थात् जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल तत्त्व है। ये पांचों तत्त्व भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में स्थित हैं। अनेक स्थानों में रहने के कारण शरीर की भाँति इनका बोध काय शब्द से होता है। उमास्वामी ने त०सू० (१.४) में सात तत्त्वों की चर्चा की है—**जीवाजीवास्त्रवबंधसंवर निर्जरमोक्षस्तत्त्वानि**। अर्थात् जीव, अजीव, आस्त्रव, बंधन, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। रामानुज दर्शन के अनुसार—

द्रव्याद्रव्य प्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः।
द्रव्य द्वेधा विभक्तं जडमजड़मिति प्राच्यमव्यक्त कालौ ॥

(त०मु०क०, १.६)

अर्थात तत्त्व द्रव्य और अद्रव्य भेद से दो प्रकार का होता है। द्रव्य भी जड़ और अजड़ भेद से दो प्रकार का होता है। शैव दर्शन की मान्यता है—**पृथिव्यादि कलापर्यन्तस्त्रिशतत्त्वात्मकः** (सर्व०सं०, पृ० ३३८)। अर्थात् पृथ्वी आदि कलापर्यन्त तीस तत्वों से निर्मित होती है। इस संदर्भ में यहाँ पर कहा गया है कि पृथ्वी से लेकर कला पर्यन्त जो तत्त्वों का समूह है वह प्रत्येक पुरुष के लिए नियत है तथा कर्मसिद्धान्त के अनुसार भुवन में उत्पन्न होने वाले पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीवों के शरीर में घूमता रहता है। शैव दर्शन में पुरुष की भोग क्रिया के आधार पर सात तत्त्वों का संकेत किया गया है—**पुंसोभोगक्रियायामन्तरंगाणिकला-काल-नियति-विद्या-राग-प्रकृति गुणाख्यानानि सप्त तत्त्वान्युपलक्ष्यन्ते** (सर्व० सं०, पृ० ३३९)। अर्थात् पुरुष की भोग क्रिया में अन्तरंग रूप से विद्यमान कला, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति और गुण ये सात तत्व हैं। अद्वैत वेदान्ती **'ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्'** कहकर एकमात्र ब्रह्म को तत्त्व मानते हैं। सांख्य दर्शन में २५ तत्त्वों की एवं योग दर्शन में २६ तत्त्वों की चर्चा की गई है।

तनु—क्लेश का अवान्तर भेद। योग दर्शन के अनुसार—**तनुत्वं प्रतिपक्ष-भावनया शिथिलीकरणम्** (सर्व०सं०, पृ० ६९४)। तात्पर्य यह कि जब क्लेशों के विरोधी तप आदि क्रिया योग के अनुष्ठान से अस्मितादि क्लेश क्षीण हो जाते हैं तब उनकी तनु अवस्था कही जाती है।

तंत्र—**तनयति विस्तारयति ज्ञानमनेन इति तंत्रम्।** आशय यह कि जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है वह तंत्र है। शैव सिद्धान्त के अनुसार—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्व मंत्र समन्वितान्।
श्रावणञ्च कुरुते यस्मात् तंत्रमित्यभिधीयते॥

आशय यह कि जो ज्ञान के द्वारा साधकों की रक्षा करता है वह तंत्र है।

तन्मात्र—जो अहंकार का उपादेय तथा स्थूल भूतों का उपादान है, वह तन्मात्र है। सांख्यकारिकाकार के अनुसार—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेष विषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्च विषयाणि॥
(सां० का०, ३४)

प्रस्तुत कारिका में अविशेष शब्द से तन्मात्र का अर्थ ग्रहण किया गया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को तन्मात्र कहा जाता है। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी महाभूत उत्पन्न होते हैं।

तप—**तपो द्वन्द्वसहनं** (यो०भा०, २.३२)। अर्थात् द्वन्द्व का सहन करना तप है। तात्पर्य यह कि क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, खड़ा रहना, बैठा रहना, संकेत से भी अपने अभिप्राय को न प्रकट करना, वाणी का प्रयोग न करना आदि द्वन्द्वों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सहन करना तप कहा जाता है। श्रीमद्‌भगवतगीता में कहा गया है—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गी०, ६.१७)

अर्थात् यथायोग्य आहार और विहार करने वाले तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले और यथायोग्य शयन करने वाले तथा जागने वाले को ही योगी कहते हैं। श्रीमद्‌भगवतगीता में शरीर, वाणी और मनस के भेद से तप को तीन प्रकार का माना गया है—

देवद्विज गुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्‌मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
(गी०, १७. १४-१६)

तात्पर्य यह कि देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है, जो उद्वेग को न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता एवं शांतभाव तथा भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता को मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त गीता में सात्त्विक, राजस् और तामस रूप से तप के और तीन भेद किये गये हैं—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गी०, १७.१७-१९)

आशय यह कि फल को न चाहने वाले निष्काम योगी पुरुषों द्वारा परमश्रद्धा से किये हुए तप को सात्त्विक कहते हैं। जो सत्कार, मान, और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फल वाला राजसतप कहा जाता है। जो मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है वह तामस तप कहा जाता है।

मनुस्मृतिकार के अनुसार—

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवांग मूर्तिभिर्जना।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥ (मनु०, ११.२४१)

आशय यह कि पापों के विनाश के लिए जो प्रायश्चित्त व्रत आदि किया जाता है वह तप है।

उपदेश साहस्री में कहा गया है—**मनश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।** तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही तप है। जैन दर्शन के अनुसार—**केशोल्लुञ्चमधिकम् तप उच्यते** (सर्व० सं०, पृ० १६६)। अर्थात् केशों को उखाड़ना आदि तप कहा जाता है।

तम—अन्धकार। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**आलोकाभावस्तम :**—अर्थात् कि आलोक के अभाव को तम कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**द्रव्य, गुण कर्म निष्पत्ति वैधर्म्याद् भावस्तमः** (वै० सू०, ५.२.१९)। तात्पर्य यह कि द्रव्य, गुण तथा कर्म कि सिद्धि के लक्षण के अभाव रहने से तेज का अभाव ही तम है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि मीमांसक तम को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं जबकि न्याय-वैशेषिक दर्शन में इसे द्रव्य नहीं माना गया है। तम को द्रव्य सिद्ध करते हुए मीमांसक यह तर्क देते हैं—

तमः खलु चलं नीलं परापर विभागवत।
प्रसिद्ध द्रव्य वैधर्म्यान्निवभ्यो भेत्तुमर्हति॥

आशय यह कि तम में गति होती है, नील रूप होता है तम की उत्पत्ति क्रम से होती है, दूर तथा समीप के स्थानों में होती है। अतः उसमें कालकृत तथा दिक्कृत परत्व तथा अपरत्व रहता है। तम एक स्थान से विभक्त होकर दूसरे स्थान पर संयुक्त दिखाई देता है, अतः उसमें संयोग और विभाग भी होता है। छोटे-बड़े स्थानों में तम छोटा और बड़ा दिखाई देता है, अतः उसमें कई प्रकार का परिणाम भी होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ने से उसमें विभिन्न संख्याएं भी होती हैं। एक स्थान का तम दूसरे स्थान के तम से पृथक दिखाई देता है अतः उसमें पृथकत्व भी है। इस प्रकार जाति और गुणों का आश्रय होने और उक्त रीति से पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से पृथक होने से तम एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसके विपरीत नैयायिकों का मत है कि नील और गतिशील दिखाई देने से तम को द्रव्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि जो द्रव्य नहीं होता वह भी कभी-कभी नील और गतिशील दिखाई देता है। जैसे—कबूतर के उड़ते समय उसके गले का रंग।

तमोगुण—गुण-भेद। सांख्य दर्शन के अनुसार—**तमो निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकमिति**। अर्थात् मोह तमोगुण का स्वरूप है जो निद्रा, आलस्य आदि से देही में आसक्ति उत्पन्न करता है। गीता में भी विवेचित तमोगुण का लक्षण सांख्य के अनुकूल ही है। गीता में कहा गया है—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (गी०; १४.८)

अर्थात् सर्व देहाभिमानियों के मोहने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है तथा वह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है। गीता में इस सन्दर्भ में आगे कहा गया है—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥

अर्थात् तमोगुण के बैठने पर अन्तःकरण और इन्द्रियादि में अप्रकाश, कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रा आदि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियां इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।

तर्क—व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः (सर्व० सं०, पृ० ४६७)। आशय यह कि व्याप्य पदार्थ का आरोपण करके व्यापक पदार्थ का आरोपण करना तर्क है। जैसे—यदि यहाँ अग्नि का अभाव हो तो धूम का भी अभाव हो जाता है, ऐसा कहना तर्क है। इसमें अग्नि का अभाव व्याप्य है जिसका आरोपण हुआ है; उसी के आधार पर व्यापक—धूमाभाव का भी आरोपण हुआ । न्याय दर्शन में कहा गया है कि जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नहीं हो उसके तत्व को जानने के लिए जो विचार (उह), कारणों का औचित्य दिखलाते हुए, किया जाता है, वह तर्क है । यहाँ पर तर्क को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु इसे प्रमाणों का उपकारक अवश्य माना जाता है । अद्वैत वेदान्त में तर्क शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है । आचार्य शंकर ने अपने दर्शन में तर्क की कहीं पर निन्दा की है तो कहीं पर स्तुति। इसका कारण यह है कि इन्होंने तर्क को दो रूपों में माना है—कुतर्क एवं सुतर्क । कुतर्क के रूप में वे तर्क की निन्दा करते हैं तथा सुतर्क के रूप में वे उसकी स्तुति करते हैं। श्रुतिमूलक वाक्यों को स्वीकार करने के लिए उन्होंने कहा है कि हमें उन्हीं श्रुतियों को स्वीकार करना चाहिये जो तर्कसम्मत हों। यदि श्रुति वाक्यों में परस्पर विरोध पाया जाये तो जिसकी तर्क द्वारा पुष्टि हो उन्हीं श्रुति वाक्यों को हमें स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि श्रुति की अपेक्षा तर्क अनुभव के अधिक निकट है । नैयायिकों की तरह अद्वैत वेदान्त में भी तर्क को प्रमाण भिन्न माना गया हैं। यही कारण है कि पंचपादिकाकार ने इस सन्दर्भ में अपना मन्तव्य देते हुए कहा है कि तर्क का कार्य केवल अप्रत्यक्ष वस्तु की असम्भाव्यता को प्रदर्शित करना है । जगदीश तर्कालंकार ने पांच प्रकार के तर्कों का उल्लेख किया है—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था और प्रमाणबाधितार्थक ।

तर्पण—योग दर्शन में मन्त्र संस्कार का भेद । योग दर्शन के अनुसार—**मंत्रेवारिणा मंत्रे तर्पण तर्पणं स्मृतम्** (सर्व० सं०, पृ० ७११) । अर्थात् मन्त्रयुक्त जल से मन्त्र में तर्पण यानि कि जल छोड़ना तर्पण कहलाता है ।

तात्पर्य—**तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्** (वे० परि०, पृ० २२६)। अर्थात् पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना ही तात्पर्य है। जैसे—घर में घट है—यह वाक्य घर और घट के सम्बन्ध का अनुभव कराने में योग्य है। नैयायिकों के अनुसार—**वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्**। अर्थात् वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति—छल-भेद। जब एक ही शब्द के तात्पर्य के भेद से कई अर्थ होते हैं तथा एक तात्पर्यार्थ का दूसरे तात्पर्यार्थ से प्रतिषेध करते हैं तब तात्पर्यवृत्ति होती है। जैसे—सामान्य अर्थों में कोई कहता है कि ब्राह्मण में विद्या होती है, अब छलवादि उसका तात्पर्य यह समझकर कि सभी ब्राह्मणों में नियमतः विद्या होती है, इस उक्ति का निषेध करता है कि ब्राह्मण में विद्या कैसे सम्भव है, मूर्ख ब्राह्मण भी तो होते हैं। इस प्रकार सामान्यार्थ को विशेषार्थ में लेकर छलवादि बात का निषेध करता है (सर्व० सं०, पृ० ४७५)। न्याय सूत्र में इसे सामान्य छल कहा जाता है।

तादात्म्य—दो वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध तादात्म्य कहलाता है। सर्व० सं०, (पृ० २६) में कहा गया है—**तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामबिनाभावस्य**। आशय यह कि दो वस्तुओं की एकरूपता को तादात्म्य कहा जाता है। जैसे—शिशपा वृक्ष है। यहाँ पर शिशपा और वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है। क्योंकि दोनों का धर्म एक ही वृक्षत्व है। शिशपा में भी वृक्षत्व है और वृक्ष में भी। यहाँ ध्यातव्य यह है कि तादात्म्य सम्बन्ध न तो दो पदार्थों में अत्यन्त भेद होने पर ही हो सकता है और न अत्यन्त अभेद रहने पर ही। बौद्ध दार्शनिक तादात्मय सम्बन्ध द्वारा अविनाभाव की स्थापना करते हैं। नागेश भट्ट ने परमलघुमंजूषा के शक्ति निरूपण प्रकरण में कहा है—**तादात्म्यं च तदभिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् इति भेदाभेद समनियतम्**। अर्थात् तादात्म्य वह है जो भेद तथा अभेद दोनों के ज्ञान में समान रूप से तथा नियत रूप से रहता है। जैसे—शब्द और अर्थ की भिन्नता होने पर भी उनकी अभेद रूप से प्रतीयमानता होती है। नैयायिक तादात्म्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं—**व्यापकत्वे सति व्यापकत्वम्**—अर्थात् तादात्म्य वह है जो स्वयं ही व्याप्य भी हो तथा व्यापक भी। जैसे—अभिधेयता तथा पदार्थता में समनियत है। जहाँ-जहाँ अभिधेयता होगी वहाँ-वहाँ पदार्थता भी होगी; जहाँ-जहाँ पदार्थता होगी वहाँ अभिधेयता भी होगी।

तितिक्षा—**तितिक्षा शीतोष्णादि द्वन्द्व सहिष्णुता** (वे० सा०, पृ० ५३)।

अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों को सहन करना तितिक्षा है। गीता (२.१४-१५) में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।

आशय यह कि सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग क्षणभंगुर और अनित्य हैं इसलिए सुख-दुःखादि को समान समझने वाले धीर पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं कर सकते।

तेज—द्रव्य भेद। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**तेजो रूपस्पर्शवत्** (वै० सू०, २.१.३)। अर्थात् रूप तथा उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज है। प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है—**तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः** (प्र० भा०, पृ० २२)। अर्थात् तेजस्त्व जाति के साक्षात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्य का नाम तेज है। वैशेषिक दर्शन में तेज में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार के भेद से ग्यारह गुण माने गए हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**तेजस्त्वसामान्यवत तेजः** (त० भा०, पृ० २)। तात्पर्य यह कि तेजत्व जाति जिसमें रहती है वह तेज है। नित्य तथा अनित्य भेद से तेज दो प्रकार का होता है। परमाणु रूप से तेज नित्य होता है उससे भिन्न सम्पूर्ण तेज अनित्य होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में तेज के भौम, दिव्य, औदर्य और खनिज ये चार कार्य माने गये हैं। सांख्य दर्शन में तेज को महाभूत माना गया है, जिसका मुख्य गुण रूप है। अद्वैत वेदान्त में स्थूल भूतों की उत्पत्ति पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्वारा माना गया है जिसमें पांच भूतों की चर्चा की गई है। इन पांच महाभूतों में तेज को भी एक महाभूत माना गया है। पञ्चीकरण होने पर अद्वैत वेदान्त में तेज महाभूत का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—तेज = १/२ तेज + १/८ पृथ्वी + १/८ जल + १/८ वायु + १/८ आकाश।

तैजस—जैन दर्शन के अनुसार जो तेज में उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते हैं। सांख्य दर्शन में राजस अहंकार को तैजस कहा जाता है। इस सम्बन्ध में सांख्य कारिका में कहा गया है—

सात्विकः एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तान्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ।। (सां० का०, २५)

तात्पर्य यह कि तैजस नामक राजस अहंकार की सहायता से ही वैकृत नामक अहंकार की ग्यारह इन्द्रियों का सात्विक गुण उत्पन्न होता है तथा भूतादि संज्ञक तामस अहंकार से तामस तन्मात्र गण उत्पन्न होता है। मणि मञ्जरी (१/३) में कहा गया है—**तैजसः दशेन्द्रियजनकोहंकारतत्त्वप्रभेदः इति।** अर्थात् दस इन्द्रियों का उत्पादक जो अहकार तत्व है उसका प्रभेद तैजस है। मीमांसा दर्शन में सुवर्ण को अतिरिक्त द्रव्य मानकर यह कहा गया है कि सुवर्ण तैजस है। न्यायमुक्तावली के तेज प्रकरण में कहा गया है—**सुवर्ण तेजसद् असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानल संयोगे सत्यपि अनुच्छिद्यमानजन्य द्रवत्वाद्।** आशय यह कि अग्नि के बीच पर्याप्त समय तक रहने पर तथा द्रवत्व के उच्छेद का कोई प्रतिबन्धक न रहने पर भी सुवर्ण को द्रव्यत्व का उच्छेद नहीं होता है, अस्तु वह तैजस द्रव्य है।

त्रस--जैन दर्शन में त्रस को अमनस्क जीव का भेद माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार—**तत्र द्वीन्द्रियादयः शंखगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्य-प्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः** (सर्व० सं०, पृ० १५०)। आशय यह कि जो द्वीन्द्रिय (शंख), त्रीन्द्रिय (पिपीलिका), चतुरिन्द्रिय (भ्रमर), और पञ्चेन्द्रिय (मनुष्य और पशु) आदि से युक्त होता है, उसे त्रस जीव कहा जाता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि शुभ और अशुभ दोनों तरह के कर्मों का नाश त्रस है।

त्रिपुटी—मीमांसा दर्शन में प्रभाकर के अनुसार—प्रत्येक पक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की जो स्वतः अभिव्यक्ति होती है उसे ही त्रिपुटी के नाम से अभिहित किया जाता है। न्याय कोश में भी त्रिपुटी के इसी रूप को स्वीकार किया गया है—**सर्वस्व ज्ञानस्य मितिमातृमेय विषयकत्वात् त्रिपुटी प्रत्यक्षतेति।**

त्रुटि—न्याय दर्शन के अनुसार—**परं वात्रुटेः** (न्या० सू०, ४.२.१७)। अर्थात् द्वयणुक को त्रुटि कहते हैं। श्रीमद्भागवत (३.१२.६) में कहा गया है—**त्रस रेणुत्रिकं भुक्ते यः कालः सा त्रुटिः स्मृता।**

त्र्यणुक—**त्र्यणुकं तु त्रिभिरेवद्व्यणुकैरारभ्यत** (त० भा०, पृ० २४) अर्थात् तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसे त्रसरेणु भी कहते हैं। महत् परिमाण वाला होने के कारण त्र्यणुक का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। त्र्यणुक या त्रसरेणु के लक्षण के प्रसंग में मनुस्मृति में कहा गया है—

जलान्तगते भानौ सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथम तत्प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते॥ (मनु०, ८.१३२)

अर्थात् जंगल के बीच सूर्य की किरणों में उड़ने वाले सूक्ष्म यानि कि जो छोटे-छोटे कण होते हैं उन्हें त्रसरेणु या त्र्यणुक कहते हैं।

द

दण्ड—भारतीय नीतिशास्त्र में दण्ड को एक नीति माना गया है। साम, दाम, दण्ड एवं भेद के भेद से नीति चार प्रकार की मानी गई है। जर्मन दार्शनिक काण्ट दण्ड को अपराध का फल मानते हैं। दण्ड के लक्षण के प्रसंग में कहा जाता है कि किसी नियम के विरुद्ध किए गये कार्य हेतु किसी व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक त्रास पहुँचाना ही दण्ड है। मनुस्मृति में कहा गया है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥ (मनु०, १२.१०)

आशय यह कि वाक्‌दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड के भेद से दण्ड तीन प्रकार का होता है।

दम—**दमो वाह्येन्द्रियाणां तद् व्यतिरिक्त विषयेभ्यो निवर्त्तनम्।** (वे०सा०, पृ० ५३) अर्थात् श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को श्रवणादि के अतिरिक्त विषयों से हटाने को दम कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में दम को षट् सम्पत्ति का एक अंग माना गया है।

दम्भ—इसका सामान्य अर्थ होता है—अहंकार, धोखा, धार्मिक पाखण्ड इत्यादि। गीता में कहा गया है—

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ (गी०, १७.१२)

अर्थात् जो यज्ञ दम्भाचरण के लिए अथवा फल को भी उद्देश्य में रखकर किया जाता है वह यह राजस होता है। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह है कि जब

अपने उत्कर्ष की इच्छा से कोई व्यक्ति कपट पूर्वक यज्ञ आदि करता है तो वह दम्भ कहलाता है।

दर्शन—**दृश्यते प्रेक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति दर्शनम्।** अर्थात् जिसके माध्यम से पदार्थ का देखना, ज्ञान होना, साक्षात्कार करना हो, वह दर्शन है। दर्शन के लक्षण के विषय में कहा गया है—

> **यदाभ्युदेयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।**
> **सुख साधयितुं मार्गं दर्शयेत्तद्धि दर्शनम्॥**

अर्थात् अभ्युदय एवं निःश्रेयस का ज्ञान कराने वाले, उनकी प्राप्ति के पक्ष को प्रशस्त करने वाले, दिखलाने वाले साधन को दर्शन कहा जाता है। मनुस्मृति (६.७४) में कहा गया है—

> **सम्यक् दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते।**
> **दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥**

आशय यह कि सम्यक् दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति सभी प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इससे विहीन पुरुष संसार में भ्रमण करता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार—दर्शन वह है जो हृदय में विद्यमान कुंठा का विनाश करता है, सभी संशयों को दूर करता है सभी कर्मों को क्षीण करता है तथा मानव को उसके गन्तव्य स्थल यानि कि अपवर्ग को प्राप्त कराता है—

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावरे॥**

नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**तत्र सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टाशेष-चाक्षुष-स्पर्शादि विषयं ज्ञानं दर्शनम्** (सर्व० सं०, पृ० ३०५)। अर्थात् दर्शन उस ज्ञान शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों, स्पर्श सम्बन्धी विषयों का ज्ञान होता है। भारतीय दर्शन में मुख्यतः दो परम्पराएं हैं—आस्तिक परम्परा और नास्तिक परम्परा। आस्तिक और नास्तिक परम्परा किसे कहेंगे? इस विषय में विवाद है। पाणिनि के अनुसार—**अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** (पा० सू०, ४.६)। अर्थात् जो परलोक में विश्वास करता है वह आस्तिक है तथा जो इसमें विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। किन्तु यह आधार तर्क संगत नहीं है। कारण यह कि जैन और बौद्ध दर्शन जो कि पुनर्जन्म इत्यादि में विश्वास करते हैं, फिर भी उन्हें नास्तिक कहा जाता है। मनुस्मृतिकार ने आस्तिक और नास्तिक का विभाजन वेद के आधार पर माना

है। उनके अनुसार—जो वेद को प्रमाण के रूप में मानता है वह आस्तिक और जो वेद का निन्दक है वह नास्तिक है—

> **योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्र श्रयाद्विजः।**
> **स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः॥** (मनु०, २.११)

इस रूप में आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त को रखा जाता है तथा चार्वाक, जैन एव बौद्ध दर्शन को नास्तिक माना जाता है।

दर्शन शक्ति—बुद्धि। योग दर्शन के अनुसार—**दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता** (यो० सू०, २.६)। आशय यह कि विषयकार से परिणत होती हुई दृश्य विषय रूप को प्राप्त होने से दर्शनशक्ति बुद्धि कही जाती है।

दर्शनावरण—जिसमें देखने की शक्ति छिप जाती है उसे दर्शनावरण कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० १६०)। जैसे दीपक के प्रकाश का छिपना।

दान—सिद्धि-भेद। योग सूत्र में कहा गया है—**विवेकख्यातिरविप्लवादनोपायः** (यो० सू०, २.२६)। आशय यह कि संशय, विपर्यय रहित शुद्ध विवेक ज्ञान ही दान सिद्धि है।

दिक्—दिक् का अर्थ है—दिशा। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम्** (वै० सू०, २.२.१०)। तात्पर्य यह कि वह यहाँ से दूर है और यह यहाँ से नजदीक है इत्यादि प्रतीतियाँ जिसके कारण होती हैं वही दिशा है। प्रशस्तपाद भाष्य के दिक् प्रकरण में कहा गया है—यह इसके पूर्व दिशा में है, यह इसके दक्षिण दिशा में है, यह इसके पश्चिम दिशा में है, यह उत्तर में है, यह आग्नेय दिशा में है, यह नैऋत्य दिशा में है, यह ईशान्य दिशा में है, यह नीचे है, यह ऊपर है इस प्रकार की प्रतीतियाँ जिस द्रव्य के कारण होती हैं उसे दिक् या दिशा कहते हैं। नव्य नैयायिक विश्वनाथ के अनुसार—

> **दूरान्ति कादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते।**
> **उपाधि भेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक्॥** (कारि०, ४६)

आशय यह कि जिससे दूर, निकट आदि की प्रतीति होती है वह दिक् है। सांख्य दर्शन के अनुसार—दिक् वह है जिससे शब्दादि बाह्य गुण शून्य विस्तार मात्र की कल्पना की जाती है।

दिगम्बर—जैनों का धर्मगत भेद। जैन दर्शन के अनुसार—

लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः ।
उर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्यूर्जिनर्षयः ।।
(सर्व० सं०, पृ० १७८)

आशय यह कि केश उखाड़े हुए, मोर के पंख का झाड़न हाथ में लिए, हाथों को ही पात्र मानने वाले तथा देने वाले के घर पर ही खाने वाले जैन साधु दिगम्बर हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि दिगम्बर मतावलम्बी यह स्वीकार करते हैं कि स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, केवल पुरुष जाति ही उसका अधिकारी है। जब स्त्री पुरुष का जन्म ग्रहण करती है तभी उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, जबकि श्वेताम्बर मतावलम्बी इसे नहीं मानते हैं। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों साथ-साथ मोक्ष के अधिकारी हैं।

दिशा—वैशेषिक दर्शन में दिशा वह द्रव्य है जो पूर्व घट आदि की प्रतीति का कारण है (वै० सू०, २.२.६)। नव्य नैयायिक विश्वनाथ के अनुसार जो दूर, निकट आदि की प्रतीति का कारण है वह दिशा है (कारि०, ४६)। न्याय दर्शन में प्राची आदि के व्यवहार के हेतु को दिशा कहते हैं। मीमांसा दर्शन में काल की तरह दिशा को भी अनुमेय माना गया है।

दीक्षा—नियम। मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित किया गया है कि दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिए ग्रहण की जाती है जो उत्कृष्ट माना गया है। इसलिए उस काल में नियत कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं होती। दीक्षित पुरुष के लिए प्रति होम की आवश्यकता नहीं है। दीक्षा काल में शास्त्र में होम का विधान नहीं पाया जाता—**दीक्षाकालस्य सौष्ठत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात्** (मी० सू०, ६.५.३८)। वस्तुतः दीक्षा किसी धार्मिक संस्कार के लिए समर्पण है। जैसे—ज्योतिष्टोम के लिए बारह दिन का नियम लिखा है इसलिए उसका पालन करना चाहिए।

दीपन—योग दर्शन में मंत्र संस्कार का भेद। योग दर्शन के अनुसार—

तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मंत्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ।। (सर्व०सं०, पृ० ७११)

तात्पर्य यह कि तार (ॐ), माया बीज (ह्रीं) ओर लक्ष्मीबीज (श्री) से मंत्र को संयुक्त करना दीपन कहलाता है।

दुःख—प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्। अर्थात् प्रतिकूल प्रतीत होने वाला आत्मा का गुण दुःख कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—स्वकीय एवं परकीय।

सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के दु:खों का विवेचन किया गया है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक ।

दु:खान्त—मोक्ष । दु:ख (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से निवृत्त होने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति करना दु:खान्त है । नकुलीश पाशुपत दर्शन में दु:खान्त को पदार्थ का भेद माना गया है । उनके अनुसार—दु:खान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक । अनात्मक दु:खान्त उसे कहते हैं जिसमें सभी दु:खों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है । सात्मक दु:खान्त वह है, जिसमें दृक् शक्ति और क्रिया शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की भी प्राप्ति होती है ।

दुष्ट—**दुष्ट हिंसायाम्** (वै०सू०, १.२.७) । अर्थात् निबद्ध आचार में लीन पुरुष ही दुष्ट कहलाता है ।

दृकशक्ति—पाशुपत दर्शन के अनुसार—बुद्धि या ज्ञान की शक्ति को दृकशक्ति कहते हैं । यद्यपि दृकशक्ति एक है, फिर भी विषय की विभिन्नता के आधार पर यह पांच प्रकार से व्यक्त की जाती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान एवं सर्वज्ञता ।

दृष्टान्त—न्याय दर्शन में पदार्थ-भेद । न्याय दर्शन के अनुसार—**व्याप्तिसंवेदनभूमिर्दृष्टान्तः** (सर्व०सं०, पृ० ४६३) । अर्थात् व्याप्ति की स्थापना का जो आधार होता है उसे दृष्टान्त कहते हैं । तर्कभाषाकार के अनुसार—**वादिप्रतिवादिनो संप्रतिपत्ति विषयोऽर्थो दृष्टान्तः** (त०भा०, पृ० ३३८) । तात्पर्य यह कि जिस अर्थ में वादी और प्रतिवादी की समान प्रतिपत्ति हो अर्थात् जो अर्थ दोनों को समान रूप से मान्य हो, वह अर्थ दृष्टान्त है । जैसे—उत्पत्तिमत्व हेतु से वादी शब्द को अनित्य मानने वाले और प्रतिवादी शब्द को नित्य मानने वाले दोनों ही घट आदि को उत्पत्तिमान और अनित्य मानते हैं । न्याय सूत्र (१.१.२५) में कहा गया है—**लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि शाम्यं स दृष्टान्तः** । आशय यह कि लोक व्यवहार को जानने वाले लौकिक पुरुष तथा शास्त्र को जानने वाले परीक्षक, ऐसे दोनों प्रकार के प्राणियों को जिस पदार्थ से बुद्धि की समानता होती है वह पदार्थ दृष्टान्त कहा जाता है । न्याय दर्शन में दृष्टान्त साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का माना गया है । इसमें अन्वयी दृष्टान्त साधर्म्य दृष्टान्त है और व्यतिरेकी दृष्टान्त वैधर्म्य दृष्टान्त है । तर्कभाषाकार ने इन दोनों दृष्टान्तों की चर्चा करते हुए कहा है—साधर्म्य दृष्टान्त वह है जहां हेतु में साध्य के सहचार

का बोध होता है । जैसे—धूम-हेतु से पर्वत पक्ष में वन्हि साध्य के अनुमान से महानस पर्वत का समानधर्मा दृष्टान्त है। धूम और अग्नि पर्वत पक्ष के भी धर्म हैं और दृष्टान्त महानस के भी धर्म हैं। महानस एक ऐसा स्थल है जहां धूम में वन्हि के सहचार का ग्रहण होता है। वैधर्म्य दृष्टान्त का अर्थ है—पक्ष का विधर्मा दृष्टान्त । कहने का तात्पर्य यह कि जिसमें साध्याभाव में हेत्वाभाव के सहचार का अवगमन होता है उसे वैधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं । जैसे धूम से पर्वत में वन्हि के अनुमान में जलाशय । जलाशय पक्ष-पर्वत का विधर्मा है । क्योंकि पर्वत में धूम और अग्नि है किन्तु जलाशय में दोनों का अभाव है। जलाशय एक ऐसा स्थान है जहां वन्ह्याभाव में धूमाभाव के सहचार का अवगमन होता है (त०भा०, पृ० ३३८-३३९) ।

दृष्टार्थक—शब्द प्रमाण । **यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः** (वात्स्या०, १.१.८) अर्थात् जिस प्रमाण शब्द का विषय इस लोक में चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह दृष्टार्थक शब्द होता है ।

देवता—इस शब्द की उत्पत्ति 'दिव' धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—दिव्यशक्ति, दिव्य प्रकाश इत्यादि । निरुक्तकार के अनुसार—जिसके द्वारा कुछ देय होता है वह देवता कहलाता है । इसी रूप में हम इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, वायु को देवता मानते हैं । क्योंकि मनुष्य की अलग-अलग प्रकार की कामनाओं की पूर्ति इन अलग-अलग देवताओं के द्वारा होती है । वैदिक परम्पराओं में संहिता मंत्रों का मुख्य उद्देश्य देवताओं के स्वरूप एवं उनके कार्य पर प्रकाश डालना था । वृहद्देवता में कहा गया है—

वेदितव्यं देवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः ।
देवतज्ञो ही मंत्राणां तदर्थमवगच्छति ।।

अर्थात् जो पुरुष देवता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही वेद के अर्थ को समझ सकता है। वेदों में यह माना गया है कि **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**—अर्थात् सत् (देवता) एक ही है किन्तु विद्वान लोग उसकी अनेक शक्तियों के कारण उसे अलग-अलग नामों से सम्बोधित करते हैं । मीमांसा दर्शन में शब्द को ही देवता माना गया है, क्योंकि द्रव्य त्याग के समय देवता का विधिगत अर्थ शब्द के द्वारा ही किया जाता है। जैमिनि के अनुसार—**यज्ञ कर्मप्रधानं स्मात् गुणत्वे देवता श्रुतिः** । अर्थात् वस्तुतः यज्ञ कर्म प्रधान है और गुणत्व में श्रुति देवता है ।

देश—**येनार्थानुसंधान पूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः** (सर्व०सं०, पृ० ३०१)। तात्पर्य यह कि जिनके पास रहकर अर्थों (कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त) का अनुसंधान करते हुए साधक ज्ञान और तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है वह देश है। जैसे—गुरुजन, गुहा, स्मरण, श्मशान तथा रुद्र। इनके पास रहकर साधक ज्ञान की वृद्धि करता है अतः इन्हें देश कहा जाता है।

देहात्मवाद—चार्वाक दर्शन के अनुसार—**चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा** (सर्व०सं०, पृ० ४)। अर्थात् चैतन्य से युक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं। चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण को नहीं मानता। इसलिए उसके अनुसार ऐसी कोई आत्मा नहीं है जिसकी सत्ता शरीर से अलग हो। आत्मा की सत्ता शरीर से अलग न मानकर वह देहात्मवाद को स्वीकार करता है। चार्वाक दर्शन में कहा गया है—

जड़भूत विकारेष्ठ चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूल पूगचूर्णानां योगाद्राक इवोत्थितम् ॥ (सर्व०सं०, पृ० ५)

आशय यह कि जड़ पदार्थों के विकार से चैतन्य (देहात्मा) उसी प्रकार उत्पन्न होता हे जैसे पान, सुपाड़ी और चूने के संयोग से पान का लाल रंग प्रादुर्भूत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—**विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति स न प्रेत्य संज्ञास्तीति**। अर्थात् आत्मा विज्ञान (शुद्ध चैतन्य) के रूप में इन भूतों से निकलकर उन्हीं में विलीन हो जाता है; मृत्यु के बाद चैतन्य की सत्ता नहीं रहती। अस्तु चैतन्य शरीर ही आत्मा है।

दोष—प्रमेय भेद। न्याय सूत्र (१.१.१८) में कहा गया है—**प्रवर्तना-लक्षणा दोषाः**। अर्थात् प्रवृत्ति के कारण को दोष कहते हैं। वात्स्यायन ने उक्त सूत्र के भाष्य में कहा है—राग, द्वेष तथा मोह नामक दोष प्राणी को पुण्य अथवा पाप कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं। कारण यह कि जहाँ संसार बन्धन का मूल कारण मिथ्या ज्ञान होता है वहां राग तथा द्वेष दोनों होते हैं। राग, द्वेष तथा मोह मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होकर पुण्य-पाप रूप कर्मों के करने में प्रवृत्त होने वाले प्राणियों को प्रवृत्त करते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**दोषाः राग-द्वेष-मोहाः** (त०भा०, पृ० ३२८)। अर्थात् राग, द्वेष और मोह का नाम दोष है। राग का अर्थ है—कामना, द्वेष का अर्थ है—क्रोध और मोह का अर्थ मिथ्याज्ञान है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि काम, क्रोध तथा

लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (गी० १६.२१)

द्रव—गुण भेद। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्। त्रिद्रव्यवृत्ति तत्तु द्विविधम्—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकमपां विशेषगुणः। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः सामान्य गुणः** (प्र०भा०, पृ० २१८)। आशय यह कि जो बहनारूप क्रिया का कारण होता है, वह द्रवत्व गुण कहलाता है। वह पृथिवी, जल, तथा तेज तीन द्रव्यों में रहता है। स्वाभाविक और नैमित्तिक भेद से द्रव दो प्रकार का होता है। स्वाभाविक द्रवत्व जल का विशेष गुण है। निमित्त से उत्पन्न द्रवत्व पृथ्वी और तेज द्रव्य का सामान्य गुण है। वैशेषिक दर्शन में मान्य द्रव के स्वाभाविक और नैमित्तिक भेद को मीमांसक भी स्वीकार करते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**द्रवत्वम् आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेजसोर्घृतादि सुवर्णयोरग्नि संयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्** (त०भा०, पृ० २८४)। अर्थात् जो वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान तक बहकर रुक जाती है उसमें पहले स्थान से उस दूसरे स्थान तक पहुँचने में अनेक स्पन्दन क्रियाएं होती हैं। उन क्रियाओं में पहली क्रिया का जो असमवायिकारण होता है उसे द्रव गुण कहा जाता है। द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है। घी आदि पार्थिव द्रव्य एवं सुवर्ण आदि तैजस द्रव्यों में द्रवत्व की उत्पत्ति अग्नि संयोग रूप निमित्त से होती है। अतः पृथिवी और तेज का द्रवत्व नैमित्तिक होता है। जल का द्रवत्व नैसर्गिक, स्वाभाविक या सांसिद्धिक होता है।

द्रव्य—द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति 'द्रु' धातु में 'यत्' प्रत्यय लगाने पर होती है, जिसका सामान्य अर्थ वस्तु, सामग्री, अवयव, सम्पत्ति या धन, औषधि इत्यादि होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—**क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्** (वै०सू०, १.१५)। आशय यह कि गुण और क्रिया के समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं। मीमांसकों के अनुसार—अपने में कार्य का जो आरम्भक हो उसे द्रव्य कहते हैं।—**स्वात्मनि कार्यारम्भकं** (प्र०पं०, पृ० ७८)। न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के नौ भेदों की चर्चा की गई है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन। मीमांसा दर्शन में उक्त नौ द्रव्यों के अतिरिक्त तम और शब्द दो अन्य

द्रव्य माने गए हैं। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक जहां नौ द्रव्यों को मानता है वहां मीमांसा ग्यारह द्रव्यों को स्वीकार करता है। रामानुजादि वैष्णववादी दार्शनिकों के अनुसार—जो अवस्था का आश्रय या आधार हो वह द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और पर्याय से युक्त पदार्थ द्रव्य है (सर्व०सं०, पृ० १५४)।

द्वेष—वैशेषिक-दर्शन में द्वेष को आत्मा का गुण माना गया है। यह दुःख सापेक्ष आत्मा का मन के साथ संयोग न होने से उत्पन्न होता है। प्रशस्तपाद भाष्य में द्वेष के द्रोह, क्रोध, मन्यु, अक्षम, अमर्ष, ये पांच भेद किए गए हैं (प्र०भा०, पृ० ३७)। न्याय दर्शन के अनुसार—**क्रोधो द्वेषः** (त०भा०, पृ० २९६)। अर्थात् क्रोध का नाम द्वेष है। वैशेषिक दर्शन की तरह यहां पर भी द्वेष को आत्मा का विशेष गुण माना गया है। नैयायिक इसके दो भेद मानते हैं—दुःख द्वेष और दुःख साधन द्वेष। इनमें से दुःख के स्वरूप ज्ञान मात्र से उत्पन्न होने वाला द्वेष दुःख द्वेष है तथा जो द्वेष दुःख साधनता के ज्ञान से उत्पन्न होता है उसे दुःख साधन द्वेष कहते हैं। योग दर्शन में द्वेष को क्लेश का एक भेद माना गया है। योग सूत्र (२.८) में कहा गया है—**दुःखानुशयी द्वेषः**। अर्थात् चित्त में जो द्वेषरूपी वासना शयन करती है उसे द्वेष कहते हैं।

द्वैतवाद—जिस मत में जीव और ईश्वर के भेद के आधार पर दो तत्वों में विश्वास किया जाता है उसे द्वैतवाद कहते हैं। भारतीय दर्शन के वैष्णव परम्परा में मध्वाचार्य को इस मत का प्रतिपादक माना जाता है। मध्वाचार्य द्वैतवाद के प्रतिस्थापन के समर्थन में श्रुतिवाक्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्याद्वत्यनश्नन्नन्यो अभियापशोति॥

(मु०उप०, ३.१.३)

अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों शरीर रूपी एक ही वृक्ष में मित्रवत स्थित रहते हैं। किन्तु अन्तर यह है कि जीव रूपी पक्षी शरीर रूपी वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है और ईश्वर रूपी पक्षी उसका भोग नहीं, मात्र अवलोकन करता है।

मध्वाचार्य ने स्वतंत्र और परतंत्र भेद से तत्त्व को दो प्रकार का माना है, जिसकी चर्चा तत्त्व विवेक में करते हुए कहा गया है—

स्वतंत्रं परतंत्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषो रोष सद्गुणः॥

आशय यह कि स्वतंत्र और परतंत्र जो दो प्रकार के तत्त्व होते हैं उनमें से स्वतंत्र तत्त्व हैं—भगवान विष्णु, जो सभी अच्छे गुणों से विद्यमान हैं। परतंत्र तत्त्व जीव है। इस प्रकार ईश्वर और जीव इन दोनों तत्वों की सत्ता मानने के कारण मध्वाचार्य के दर्शन को द्वैतमत या द्वैतवाद के नाम से जाना जाता है।

द्वैताद्वैत—तत्त्वं के द्वैत और अद्वैत दोनों रूपों को सत्य मानने के कारण निम्बार्काचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है। निम्बार्क का मत है कि द्वैत के बिना अद्वैत की और अद्वैत के बिना द्वैत की व्याख्या संभव नहीं है। वस्तुतः ये ईश्वर और जीव के बीच आश्रय और आश्रित का सम्बन्ध मानते हैं, जिसके अनुसार ईश्वर (आश्रय) के बिना जीव (आश्रित) और जीव (आश्रित) के बिना ईश्वर (आश्रय) नहीं रह सकता। इस संदर्भ में दस श्लोकी में कहा गया है—

> **ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं शरीर संयोग वियोगयोग्यम्।**
> **अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।**

अर्थात् जीव ज्ञान स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है वैसे ही जीव ज्ञान का आश्रय और ज्ञानमय भी है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि निम्बार्क रामानुज की तरह चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों को मानते हैं किन्तु अन्तर यह है कि रामानुज के अनुसार चित्, अचित् विशेषण हैं और ईश्वर विशेष्य है, इसलिए उनके दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है जबकि निम्बार्क के अनुसार चित् और अचित् आश्रित है और ईश्वर इनका आश्रय है। इस आश्रित-आश्रय सम्बन्ध के कारण जीव और ईश्वर द्वैत भी है और अद्वैत भी।

ध

धर्म—धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—धारण करना। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**यतोभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धि स धर्मः**

(वै० सू०, १.१.२)। आशय यह है कि जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। महर्षि जैमिनि के अनुसार—'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (मी० सू०, १.१.२)। अर्थात् जिन कर्मों का वेद में विधान है वे ही करणीय हैं यही इसका धर्म है। इससे ही मानव मात्र का कल्याण सम्भव है। गीता में भी मीमांसा के इस कथन के अनुकूल बात कही गई है—**यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः**। अर्थात् जिससे सब प्रजा का धारण यानि कि कल्याण होता है वही धर्म है। न्याय दशन के अनुसार—धर्म किसी पदार्थ में विद्यमान वह तत्त्व है जिसके कारण उसे किसी दूसरे पदार्थ के सदृश अथवा उससे भिन्न कहा जाता है। यथा—**पृथिवीत्वं धर्मः**। इस दर्शन में धर्म को गुण के रूप में माना गया है। यहाँ २४ गुणों की चर्चा की गई है जिसमें धर्म भी एक गुण है। जैन दर्शन में धर्म विचार भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों से अलग है। जैन दर्शन के अनुसार—धर्म वह तत्त्व है जो न तो स्वतः क्रियाशील होता है और न अन्य को क्रियाशील होने में प्रेरक, किन्तु वह क्रियात्मक तत्वों की क्रिया में सहायक अवश्य होता है। जिस प्रकार मछली को चलने में जल सहायक होता है उसी प्रकार जीव की क्रिया में धर्म सहायक होता है।

धर्मपरिणाम—धर्मिणश्चित्तस्य नीलाधालोचनं धर्मपरिणामः। यथा—कनकस्य कटक मुकुटके परादि (सर्व० सं०, पृ० ६८४)। आशय यह कि अवस्थित धर्मी में एक धर्म का तिरोभाव होने पर दूसरे धर्म का आवागमन होना धर्म परिणाम है। जैसे—कनक में कंगन के धर्म का तिरोभाव हो जाने पर मुकुट के धर्म का आगमन होता है।

धर्ममेघ— धर्म विवेक ख्यातिमेहति वर्षतीति धर्ममेघः। अर्थात् धर्म की जो वृष्टि करने वाला हो उसे धर्ममेघ समाधि कहा जाता है। योग सूत्र (४.२९) में कहा गया है कि जिस समय समाधिनिष्ठ योगी प्रसंख्यान (मनन-चिन्तन) के फल सर्वज्ञत्वादि सिद्धि में भी पर वैराग्य द्वारा लिप्सा रहित हो जाता है, उस समय पर वैराग्य शील योगी को निरन्तर विवेक ख्याति का लाभ होने से इसके द्वारा व्युत्थान संस्कार के क्षय होने से एवं प्रत्यान्तर उत्पत्ति का अभाव होने से धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि होती है। यह संप्रज्ञात योग की पराकाष्ठा है।

धर्मशास्त्र— श्रुत्यर्थ स्मरणात्स्मृतयः (का० मी०, पृ० ९)। अर्थात् श्रुति के अर्थों का अनुस्मरण करके धर्म का विवेचन करने वाला धर्मशास्त्र कहा जाता है।

धर्मी—**धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी**—अर्थात् धर्मी वह है जिसका धर्म हो। धर्म के अभाव में धर्मी का ज्ञान असम्भव है। योग सूत्र (३.१४) में कहा गया है—**शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी**। तात्पर्य यह कि भूत, भविष्य एवं वर्तमान रूप अवस्था वाले सकल कार्यों में सर्वदा अनुगत जो कारण हो वह धर्मी कहलाता है।

धारणा—**देशबन्ध चित्तस्य धारणा** (यो० सू०, ३.१)। अर्थात् चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है। विष्णु पुराण (६.७.४५) में कहा गया है—

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वायु को और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के बाद किसी अच्छे आधार (नाभि आदि) में चित्त को स्थिर करना चाहिये और यही धारणा है।

ध्यान—शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति (१२३) में कहा है—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्याता परमानन्द दायिनी॥

आशय यह कि 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार चित्तवृत्ति से जो परमानन्द दायिनी निरालम्बन स्थिति होती है, वही ध्यान है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**रागोपहतिर्ध्यानम्** (सां० सू०, ३.३०)। अर्थात् चित्त का जो विषयोपराग है उसका दूर हो जाना ध्यान है। योग दर्शन के अनुसार—**तस्मिन् देशे ध्येयश्वालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययस्तरेणापरामृष्ठो ध्यानम्** (यो० सू०, ३.२)। आशय यह कि ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। यानि कि धारणा काल में जिस नाभि चक्रादि देश में चित्तवृत्ति को लगाया हो उसी देश में चित्तवृत्ति की एकाग्रता प्राप्त हो जाने को ध्यान कहा जाता है। रामानुज के अनुसार—**चेतज्ञः वर्तन चैव तैल धारासमम्** (ब्र० सू०, श्रीभाष्य, १.१.१)। आशय यह कि एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल डालने पर जिस प्रकार वह अखण्ड धारा में गिरता है उसी प्रकार किसी ध्येय वस्तु के निरन्तर स्मरण को ध्यान कहते हैं।

ध्वनि—**ध्वनिः शब्दगुणः** (म० भा०, १.१.७०)। अर्थात् शब्द का गुण ध्वनि है। भर्तृहरि के अनुसार—शब्द के व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। वाक्य-

पदीय (१.९४) के हरिवृत्ति में कहा गया है—**ध्वनिरूपशब्द व्यक्तिव्यंगत्वाज्जातिरेव स्फोटः**। अर्थात् स्फोट को प्रकट करने वाली शब्द-शक्ति का नाम ध्वनि है। वाक्यपदीयकार के अनुसार—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरूपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

आशय यह कि जो शब्द कण्ठ, तालु जिह्वा आदि कारणों से संयोग या विभाग द्वारा उत्पन्न होता है वह स्फोट है। इसी स्फोट रूप शब्द से उत्पन्न होने वाले जो अन्य शब्द हैं वे ध्वनियाँ हैं। भर्तृहरि ने इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥ (वा. प., १.८३)

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार श्लोकावृत्ति पाठ से श्लोक का अर्थ स्फुट हो जाता है उसी प्रकार ध्वनियों के द्वारा प्रकाशित होने वाले शब्द का स्वरूप भी ध्वनि को ग्रहण कराने वाले कुछ ऐसे बोधात्मक संस्कारों के द्वारा स्फुट हो जाता है, जो अनुपाख्येय होते हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि जो ध्वनि क्षणिक होती हैं उनका संघात कैसे होगा? और यदि उनका संघात नहीं होगा तो फिर उससे स्फोट कैसे उत्पन्न होगा। इसके उत्तर में वाक्यपदीय (१.८३) की वृत्ति में कहा गया है—प्रथम उच्चरित ध्वनि तत्काल नष्ट हो जाती है, तथापि श्रोता की बुद्धि में एक बोधात्मक संस्कार छोड़ देती है। इसके बाद दूसरी ध्वनि उच्चरित होकर नष्ट हो जाती है और वह भी बुद्धि में अपना संस्कार छोड़ जाती है। इसी प्रकार क्रमशः अनेक ध्वनियां अपना-अपना संस्कार छोड़ती जाती हैं। इस प्रकार ध्वनियां चाहे क्षणिक होने के कारण युगवत् पूर्वापर क्रम से प्राप्त न भी हों, फिर भी वे श्रोता की बुद्धि में अपना पूर्वापर क्रमयुक्त संस्कार बना लेती हैं और अन्तिम ध्वनि का संस्कार बनते-बनते स्फोट हो जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार ध्वनि संयोग विभाग की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। भर्तृहरि के अनुसार—प्राकृत और वैकृत भेद से ध्वनि दो प्रकार की होती है। प्राकृत ध्वनि वह है जो स्फोट रूप शब्द का ग्रहण कराती है। स्फोट का ग्रहण हो जाने के अनन्तर जो ध्वनियां अतिरिक्त समय में सुनाई पड़ती हैं उन्हें वैकृत ध्वनि कहा जाता है।

न

नय—समन्त भट्ट ने आतममीमांसा में कहा है—**स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ**

विशेष व्यञ्जको नयः (आ. मी.)। अर्थात् स्याद्वाद यानि कि श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के धर्मों का जो अलग-अलग कथन करता है, उसे नय कहते हैं। स्वामी विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में नय के विषय में कहा है—

नयानां लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्य विशेषतः।
नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः॥
तदंशौद्रव्यपर्याय लक्षणौ साध्य पक्षिणौ।
नीयते तु यकाभ्यां तौ नयाविति विनिश्चितौ॥

तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा श्रुत प्रमाण के द्वारा जाने गए अर्थ के अंशो-धर्मों को जाना जाता है उसे नय कहते हैं। नय दो प्रकार का होता है द्रव्यनय और पर्यायनय। जिससे वस्तु के द्रव्यांश का बोध होता है उसे द्रव्य नय कहते हैं और जिससे वस्तु के पर्यायांश का ज्ञान होता है उसे पर्यायनय कहते हैं। अकलक देव ने नय के लक्षण के प्रसंग में कहा है—

प्रमाणः प्रकाशितार्थ विशेष रूपको नयः।

अर्थात् प्रमाण से गृहीत जीवादि पदार्थों के विशेष धर्म का निर्दोष कथन करने वाला नय कहलाता है।

नरक – **पाप भोगस्थानविशेषो नरकः** (न्या० को०, पृ० ४०४)। अर्थात् पाप के भोग का जो स्थान विशेष है वह नरक कहलाता है। सर्व दर्शन संग्रह (पृष्ठ ९) में कहा गया है—**कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः**—अर्थात् कण्टकादि यानि कि भौतिक कारणों से उत्पन्न भौतिक दुःख ही नरक हैं।

नाद—नाद वैकृत ध्वनि का दूसरा नाम है। वाक्यपदीयकार के अनुसार—

नादस्य क्रम जातत्वात् न पूर्वो नापरश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिय जायते॥ (वा० प०, १.४८)

अर्थात् जो करण-व्यापार के पूर्वापर क्रम से उत्पन्न होता है उसे नाद कहते हैं। वाक्यपदीयकार की मान्यता है—

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वर्त्तविशेषकाः॥

(वा० प०, १.१०५)

अर्थात् कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से कम्प उत्पन्न होता है और कम्प के बाद नाद की उत्पत्ति होती है। वाक्यपदीयकार ने नाद और ध्वनि को समानार्थी माना है। दोनों में अन्तर यह है कि ध्वनि के जो प्राकृत और वैकृत भेद किए

गए हैं उनमें प्राकृत ध्वनि को ध्वनि और वैकृत ध्वनि को नाद कहा जाता है। भर्तृहरि का मंतव्य है कि शब्द, वाक्य एवं स्फोट में जो भेद दिखाई देता है वह नाद के कारण होता है। इस संदर्भ में वाक्यपदीय में कहा गया है—

तस्माद् भिन्न कालेषु वर्णवाक्य पदादिषु।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद् विभज्यते॥

(वा० प०, १.१०१)

तात्पर्य यह है कि काल मात्राओं से रहित वर्ण, पद या वाक्य के स्फोट में द्रुत-मध्यम-विलम्बित वृत्तियों का भेद और ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत मात्राओं का भेद नाद के भेद से होता है। वस्तुतः शब्द एक और अखण्ड है।

नाम—पद-भेद। **नमति आख्यातार्थं प्रति स्वार्थं विशेषणत्वं इति नाम** (न्या० को०, पृ० ४०६)। निरुक्त (१.१.१) में कहा गया है—**एतानि चत्वारि पद जातानि नामाख्यातश्चोपसर्ग निपाताश्चेति**। आशय यह कि पद के चार भेदों में नाम भी एक है। बृहद्देवता (१.४२) में नाम के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तम् नामेत्याहुर्मनीषिणः॥

आशय यह कि जिसके उच्चारण से द्रव्य की प्रतीति होती है उसे नाम कहते हैं। जैमिनि सूत्र (२.२.३) में कहा गया है—**एषामुत्पत्तौ स्वप्रयोगे स्वरूपलब्धि-स्तानि नामानि**। अर्थात् नाम वह है जिसकी उत्पत्ति होने पर उसके प्रयोग में स्वरूप की उपलब्धि होती है। भर्तृहरि के अनुसार—

क्रिया प्रधानमाख्यातं नाम्नो सत्व प्रधानता।
चत्वारि पद जातानि सर्वमेतद् विरुद्ध्यते॥

(वा०प०, २.३४५)

अर्थात् सत्व प्रधान यानि कि सत्व की प्रतीति को नाम कहते हैं। वाचस्पत्यम् में इस संदर्भ में कहा गया है—**प्रकारान्तरेण नाम पंचविधं उणाद्यन्तं कृदन्तं च तद्धितान्तं समाससम्। शब्दानुकरणं चैव नाम पंचविधं स्मृतम्**। अर्थात् उणाद्य, कृदन्त, तद्धित, समास तथा शब्दानुकरण भेद से नाम पांच प्रकार का होता है। जैन दर्शन में नाम को प्रतिबन्ध का भेद माना गया है।

नामकरण—**नामकरणं पुत्रादिनां केशवादि नाम्ना व्यवहारः सर्वदा तन्नामनुस्मरणार्थम्** (सर्व०सं०, पृ० २६५)। अर्थात् अपने पुत्र आदि का केशव

आदि नाम रखकर पुकारना जिससे भगवान के नामों का अनुस्मरण होता है, नामकरण कहलाता है।

नामकर्म—**नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्** (सर्व०सं०, पृ० १६१) अर्थात् जिससे विभिन्न नामों की उत्पत्ति होती है उसे नामकर्म कहते हैं। जैसे—चित्रकार, स्वर्णकार इत्यादि।

नाश—कारण में लय या तिरोभाव होना नाश है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**नाशः कारण लयः** (सां०सू०, १.१२१)। अर्थात् कार्य का अपने उपादान कारण में लय यानि कि एकीकरण नाश कहलाता है। सांख्य में कार्य का अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता। इसलिए यहां पर नाश का तात्पर्य कार्य का कारण में एकीभाव है, ऐसा माना गया है।

नास्तिक—सामान्य रूप से जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता उसे नास्तिक कहा जाता है। किन्तु दर्शन में नास्तिक का आशय—'ईश्वर में विश्वास' से नहीं है, क्योंकि भारतीय दर्शन में सांख्य, मीमांसा आदि ऐसे सम्प्रदाय हैं जो ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु आस्तिक हैं। नास्तिक के विषय में उसकी व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यह कि जाती है—**यस्य मतिः नास्ति दिष्टं स नास्तिकः** अर्थात् जिसकी मति परलोक यानि कि पुनर्जन्म आदि की सत्ता में विश्वास नहीं करती उसे नास्तिक कहा जाता है। किन्तु यह भी कथन तर्क संगत नहीं है, क्योंकि बौद्धादि दार्शनिक पुनर्जन्म आदि में विश्वास करते हुए भी नास्तिक कहे जाते हैं। मनुस्मृति में मनु ने नास्तिक के लक्षण के प्रसंग में कहा है—**नास्तिको वेद निन्दकः**। अर्थात् वेद का निन्दक ही नास्तिक है। भारतीय दर्शन में नास्तिक का यही लक्षण सर्वमान्य है, क्योंकि उससे जो परलोक या पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं वे आस्तिक नहीं होंगे और जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक नहीं।

निःश्रेयस—मोक्ष। न्याय दर्शन के अनुसार—**यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्या-ज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपायन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्या-पायेजन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोपवर्गो निःश्रेय-समिति** (वात्स्या०, १ १ २)। अर्थात् जिस समय तत्व ज्ञान से विरोध होने के कारण मिथ्याज्ञान का अपाय होता है, उस समय मिथ्याज्ञानरूप मूल कारण के अपाय (निवृत्ति) से राग, द्वेष, मोहादिरूप कार्य निवृत्त होते हैं। उन दोष रूप कारणों के निवृत्त होने के कारण, उनकी पुण्य पापादि रूप शुभ तथा अशुभरूप प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है और उस प्रवृत्तिरूप कारण के निवृत्त होने से उसका

कार्य पुनर्जन्म प्राणी को नहीं होता। उस जन्म रूप कारण के निवृत्त होने से दु:खरूप कार्य की निवृत्ति होती है, दु:खरूप कारण के अत्यन्त निवृत्त होने से आत्यन्तिक संसार निवृत्तरूप अपवर्ग होता है जिसे नि:श्रेयस कहा जाता है। न्याय सूत्र (१.१.१) में कहा गया है—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल; जाति और निग्रह स्थान के तत्त्व ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**धर्म विशेष प्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्व ज्ञानान्नि:श्रेयस** (वै०सू०, १ ४) अर्थात् धर्म विशेष से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्व ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है। इसकी विस्तार से व्याख्या जानने के लिए 'मोक्ष' शब्द का अवलोकन करें।

नि:श्वास—प्राणवायो व्यापार विशेष: (गौ०वृ०, ३.१.३०)। अर्थात् प्राण वायु के व्यापार विशेष को नि:श्वास कहते हैं। महर्षि गौतम के अनुसार—**नि:स्वासोच्छ्‌वासोपलब्धश्चातुर्भौतिकम्** (न्या०सू०, ३.१.२९)। अर्थात् गंधादि गुणों के साथ श्वास लेना, नि:श्वास कहलाता है। मनुस्मृति (३.१९) में कहा गया है—

> **प्राणवायोर्नासया बहिर्नि:सरणम्।**
> **वृषलीफेनपीतस्य नि:स्वासोपहतस्य च॥**

निगमन—जिस वाक्य से पक्ष में साध्य का उपसंहार किया जाता है वह निगमन है। जैसे अनुमान वाक्य का अंतिम **'तस्माद् वन्हिमान्'** यह वाक्य निगमन है।

निग्रहस्थान—निग्रहस्थान का अर्थ है—पराजय की स्थिति। तर्कभाषाकार के अनुसार—**पराजय हेतु: निग्रहस्थानम्** (त० भा०, पृ० ३६३)। अर्थात् निग्रह स्थान वह है जहां पर किसी बात को कहने पर मनुष्य पराजित समझा जाता है। तर्कभाषा में निग्रह-स्थान के न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, मतानुज्ञा एवं विरोध आदि भेद किये गये हैं। न्यायसूत्र (२.२ १-२४) में इसके भेदों की बड़े विस्तार से चर्चा की गई है। यहां पर निग्रहस्थान के २२ भेदों का संकेत है—(१) **प्रतिज्ञाहानि**—प्रतिज्ञा की हानि, (२) **प्रतिज्ञान्तर**—दूसरी प्रतिज्ञा करना, (३) **प्रतिज्ञाविरोध**—प्रतिज्ञा का विरोध, (४) **प्रतिज्ञासंन्यास**—प्रतिज्ञा का त्याग करना, (५) **हेत्वन्तर**—दूसरा हेतु करना, (६) **अर्थान्तर**—दूसरा अर्थ करना, (७) **निरर्थक**—व्यर्थ होना, (८) **अविज्ञातार्थ**—अर्थ का

ज्ञान न होना, (९) **अपार्थक**—असम्बद्ध अर्थवाला होना, (१०) **अप्राप्तकाल**—जिसका समय प्राप्त न हो, (११) **न्यून**—अवयवों की न्यूनता, (१२) **अधिक**—अवयवों का अधिक होना, (१३) **पुनरुक्त**—पुनःकथन, (१४) **अननुभाषण**—उत्तर न देना, (१५) **अज्ञान**—न जानना, (१६) **अप्रतिभा**—उत्तर की स्फूर्ति न होना, (१७) **विक्षेप**—कथा में बाधा करना, (१८) **मतानुज्ञा**—मतों को मान लेना, (१९) **पर्यनुयोज्योपेक्षण**—प्रश्न करने योग्य की उपेक्षा करना, (२०) **निरनुयोज्यानुयोग**—प्रश्न करने के अयोग्य को प्रश्न करना, (२१) **अपसिद्धान्त**—सिद्धान्त के विरुद्ध कहना, तथा (२२) **हेत्वाभास**—हेतुओं के दोष। इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या यथास्थान द्रष्टव्य है।

नित्य—प्रलय का भेद। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**नित्यः प्रलयः सुषुप्तिः तस्याः सकल कार्य प्रलयरूपत्वाद्** (वे० परि०, पृ० ३१८)। आशय यह कि सुषुप्ति नित्य प्रलय है। क्योंकि वह समस्त कार्य प्रलय रूप होती हैं। उस समय धर्म, अधर्म एवं पूर्व संस्कार कारण रूप में रहते हैं। शैव दर्शन की मान्यता है—

अनवच्छिन्न सदभावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चैच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥

आशय यह कि जो वस्तु देश और काल की सीमा से रहित है वह नित्य है। विभु होने के कारण ऐसा नित्य स्वरूप आत्मा का माना जाता है।

नित्यविभूति—रामानुज-दर्शन में पराक् (दूर) भेद। वेंकटनाथ ने तत्वमुक्ता कलाप (१.७) में कहा है—**संप्रोक्ता नित्यविभूतिस्त्रिगुण समधिका सत्वयुक्तातथैव**। अर्थात् जो तीन गुणों (सत्व, रज, तम) से परे हो तथा सत्व गुण से युक्त हो उसे नित्यविभूति कहते हैं।

नित्यसम—जिसमें धर्म के नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो विकल्पों के द्वारा धर्मी को नित्य सिद्ध करते हुए वादी का खण्डन करते हैं वह नित्यसम है।

निदिध्यासन—अद्वैत वेदान्त में निदिध्यासन को ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण माना गया है। अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार—**निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेष्वाकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्योऽपकृष्यात्मविषयकस्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः** (वे०परि०, पृ० ३६१)। अर्थात् निदिध्यासन का अर्थ है—अनादि दुर्वासनाओं से विषय की ओर आकर्षित होने वाले चित्त को विषय से निवृत्त कर आत्मा में स्थिर करने के अनुकूल मानसिक

व्यापार। कहने का तात्पर्य यह कि विषयों में इधर-उधर व्यग्र चित्त को आत्मा में स्थिर करना निदिध्यासन का कार्य है निरन्तर दर्शन की इच्छा को निदिध्यासन कहते हैं। सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है—**विजातीयदेहादि-प्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्** (वे०सा०, पृ० १९८)। आशय यह कि शरीरादि को विषय बनाने वाले विजातीय प्रत्ययों से रहित होकर अद्वितीय आत्मवस्तु के सजातीय प्रत्ययों को प्रवाहित करना निदिध्यासन है। विद्यारण्य पंचदशी में निदिध्यासन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥

तात्पर्य यह कि श्रवण और मनन के द्वारा जब आत्मा के विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता, तब आत्मा में लगाए गए चित्त की एकतानता अर्थात् सदश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहलाता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति** (भा०, ३.४.२६)। अर्थात् चिन्तासन्ततिमयी प्रतिपत्ति निदिध्यासन है। पंचपादिका-कार पद्मपादाचार्य के अनुसार—**निदिध्यासनं मननोपबृंहितवाक्यार्थ विषये स्थिरीभावः** (पंच०, पृ० ३५२-५३) अर्थात् मननोपबृंहित वाक्यार्थ के सम्बन्ध में स्थिरता निदिध्यासन है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में भामती प्रस्थान ब्रह्म साक्षात्कार के कारणरूप में निदिध्यासन को अंगी तथा श्रवण एवं मनन को अंग मानता है। जबकि विवरण प्रस्थान श्रवण को अंगी तथा मनन एवं निदिध्यासन को अंग मानता है।

निद्रा—योग दर्शन के अनुसार—**अभाव प्रत्ययालम्बन वृत्ति निद्रा** (यो० सू०, १.१०)। अर्थात् स्वप्न पदार्थ विषयक वृत्तियों के कारण जो सत्वगुण तथा रजोगुण के आवरण तमोद्रव्य रूप अज्ञान, उस अज्ञानविषयक जो वृत्ति है, वह निद्रा कहलाती है। इस सूत्र के व्यास भाष्य में कहा गया है—सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के आधार पर निद्रा में अलग-अलग प्रकार की स्मृति होती है। जिस समय सत्वगुण सहित तमोगुण का आविर्भाव होता है उस सात्विक निद्रा से उठे हुए पुरुष को 'मैं सुखपूर्वक सोया था' ऐसी स्मृति होती है। जिस समय रजोगुण सहित तमोगुण का आविर्भाव होता है, उस समय जागृत पुरुष को 'मैं सुख पूर्वक सोया था' ऐसी स्मृति होती है। जिस समय तमोगुण सहित तमोगुण का आविर्भाव होता है उस समय तामसी निद्रा से उठे

हुए पुरुष को 'मेरे शरीर के अवयव भारी प्रतीत होते हैं, मेरा मन थका हुआ सा विदित होता है', ऐसी स्मृति होती है । वेदान्त दर्शन में सुषुप्ति को निद्रा कहा जाता है ।

निन्दार्थवाद—अनिष्टफलवाद । न्याय दर्शन के अनुसार—**अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्था निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा इत्येवमादि** (वात्स्या०, २.१.६५) । आशय यह कि किसी शास्त्र में निषेध किए गए धर्म का त्याग करने के लिए उसके अनिष्ट फल को कहना निन्दार्थवाद कहलाता है । जैसे—यज्ञों में ज्योतिष्टोम मुख्य यज्ञ है, जो इस यज्ञ को नहीं करता वह नरकगामी होता है । तथा साथ ही इस लोक में विनाश को प्राप्त करता है । इस वाक्य में ज्योतिष्टोम यज्ञ से भिन्न जो याग करता है उसे नरक प्राप्ति रूप अनिष्ट फल को कहने से इस ज्योतिष्टोम भिन्न यज्ञ करने में कर्त्ता की प्रवृत्ति न हो इसलिए निन्दा करना, निन्दार्थवाद कहलाता है ।

निपात—पद-भेद । निरुक्त (१.४ १-२) में कहा गया है—**अथ निपाताः उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति** । अर्थात् निपात वह है जो अलग-अलग स्थितियों के अनुसार अनिश्चित अर्थ प्रदान करता है । अमरकोश (३.२५२) में कहा गया है—**साक्षात्प्रत्यक्षतुल्लयोः** अर्थात् प्रत्यक्ष तथा तुल्य इन दोनों अर्थों का वाचक निपात है । वाक्यपदीयकार के अनुसार—

निपाताः द्योतकाः केचित् प्रथगर्थाभिधायिनः ।
आगमा इव केपिऽस्युः संभूयार्थस्यवाचकाः ।। (वा०प०, २.१९२)

अर्थात् कुछ निपात अर्थ के द्योतक, कुछ वाचक और कुछ आगमों के समान संगठित रूप में अर्थ के वाचक होते हैं । न्याय दर्शन के अनुसार—**निपातानां वाचकत्वम्**— अर्थात् अर्थ का वाचक निपात कहलाता है ।

निबन्ध—न्याय दर्शन के अनुसार—**निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम्** (वात्स्या०, ३.२.४१) । अर्थात् एक ग्रन्थ में पदार्थों के कथन को निबन्ध कहते हैं । वात्स्यायन भाष्य में कहा गया है—**धारणाशास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्तव्यानामुपनिःक्षेपो निबन्ध इति** (वात्स्या०, ३.२.४१) । अर्थात् एक ही ग्रन्थ में निबद्ध पदार्थ निश्चय से परस्पर की स्मृति के कारण होते हैं, जो क्रम अथवा अक्रम से कहे गये होते हैं । जैसे—जैगीशव्यादि महर्षियों के कहे हुए धारणशास्त्र में नाड़ीचक्र, हृदयकमल आदि में स्मरण करने योग्य बीजस्थान के भूषणरूप देवताओं का आरोप करना निबन्ध कहलाता है ।

निमित्त—कारण । तर्कभाषाकार के अनुसार—**निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारण, अथ च कारण तत् । यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्** (त०भा०, पृ० ५२) । अर्थात् जो जिस कार्य का न समवायिकारण हो और न असमवायिकारण हो, किन्तु उस कार्य का कारण हो वह उस कार्य का निमित्त कारण होता है । जैसे—पट के निमित्त कारण वेमा आदि हैं वेमा आदि में समवेत होकर पट नहीं उत्पन्न होता, अतः वेमा आदि पट का समवायिकारण नहीं है । वह पट का असमवायिकारण भी नहीं है क्योंकि वह पट के समवायिकारण तन्तु में समवाय अथवा स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से प्रत्यासन्न नहीं होता, किन्तु पट का कारण है, क्योंकि वह पट के प्रति अन्यथा-सिद्ध न होते हुए पट के प्रति नियतपूर्ववर्ती है, अतः वह पट का निमित्तकारण होता है । सांख्य दर्शन के अनुसार—**निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः** (सां० सू०, ३.७४) । आशय यह कि बंध मोक्ष में अविवेक ही निमित्त है । अर्थात् जब तक चित्त में अविवेक है, तब तक जीव बद्ध रहता है । विवेक से अविवेक का नाश होने पर वैराग्यबल से चित्त का शाश्वत रोध होना ही मोक्ष है । इस प्रकार अविवेक ही निमित्तता है । गीता (११.३३) में कहा गया है—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! खड़ा हो यश को प्राप्त कर । शत्रुओं को जीतकर यश को प्राप्त कर । धनधान्य से सम्पन्न राज्य को भोग । ये सभी शूरवीर पहले से ही मेरे (श्रीकृष्ण) द्वारा मारे हुए हैं । इसलिए हे सव्यसाचिन तू केवल निमित्त-मात्र ही हो जा । काव्यशास्त्र में निमित्त को शरव्य (लक्ष्य) नाम से सम्बोधित किया जाता है । कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् (६.२९) में कहा है—**कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः ।**

नियत—नियमयुक्त होना नियत है । नियम का अर्थ है—व्याप्ति । व्याप्ति व्याप्य और व्यापक दोनों पर निर्भर होती है । इसलिए व्याप्ति का आश्रय होने से व्याप्य भी नियत कहा जाता है और व्याप्ति का निरूपक होने से व्यापक भी नियत कहा जाता है । न्याय दर्शन के अनुसार—**कार्यात्पूर्वभावो नियतः** (त०भा०, पृ० २६) । अर्थात् कार्य के पूर्व क्षण में रहने वाले अभाव का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी न होना नियत है । न्यायबोध (पृ० १४) में कहा गया है—**नियत सामान्याधिकरण्यं व्याप्तिः** । अर्थात्

सामान्याधिकरण्या व्याप्ति नियत है। जैसे—वह्नि में धूम का व्यापक होना नियत है।

नियम—योग दर्शन के अनुसार—**शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणधानानि ईश्वरः** (यो० सू०, २.३२)। अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को नियम कहते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**नियमः पाक्षिके सति** (सं० वा०, १.२.३९)। अर्थात् एक पक्ष में किसी अन्य प्रमाण से विधि की प्राप्ति होने पर भी दूसरे पक्ष में भी प्राप्त होने वाले उस विचार के निवारणार्थ पुनः कथन करने को नियम कहते हैं।

नियमविधि—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कराने वाली विधि नियम-विधि कहलाती है (सर्व० सं०, पृ० ५२४)।

निरनुयोज्यानुयोग—निग्रहस्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः** (न्या० सू०, ५.२.२३)। अर्थात् पराजित न होने वाले वादी या प्रतिवादी को भी 'तुम पराजित हो,' ऐसी आपत्ति पराजित हुए को देना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है।

निरर्थक—निग्रहस्थान। न्याय दर्शन में कहा गया है—**वर्णक्रमनिर्देश-वन्निरर्थकम्** (न्या० सू० ५.२.८)। आशय यह कि केवल व्यर्थ वर्णों के क्रम को कहने वाला निरर्थक निग्रहस्थान कहलाता है। यदि क च ट त प ये शब्द नित्य हैं ज व ग ड द श होने से झ ञ घ ढ ध ष के समान, ऐसा अनुमान करना निरर्थक निग्रहस्थान कहलाता है। अर्थात् उपरोक्त अनुमान प्रमाण का प्रयोग करने में कहे हुए वर्णों का कोई अर्थ न होने से केवल क्रम से वर्ण मात्र कहे हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं है। अतः यह निरर्थक निग्रह स्थान कहलाता है।

निरुक्त—**निर्वचनं निरुक्तम्** (का० मी०, पृ० ८)। अर्थात् शब्दों के अर्थ का वर्णागम आदि पाँच प्रकारों द्वारा निर्णय करने वाला शास्त्र निरुक्त है।

निरुद्ध—योग दर्शन में चित्त भूमि का प्रकार। योग दर्शन के अनुसार जिसमें सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, वह चित्त निरुद्ध कहलाता है। पतञ्जलि का मंतव्य है कि यद्यपि पांचों भूमियों में कुछ न कुछ

निरोध अवश्य रहता है किन्तु निरुद्ध अवस्था में ध्येयकार वृत्ति का भी निरोध हो जाने से यह योग के लिए सबसे उपयुक्त माना जाता है। विज्ञान भिक्षु का मंतव्य है कि जो निरोध द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतु हो वह योग कहा जाता है। क्षिप्रादि अवस्था के जो निरोध हैं वे द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति के हेतु नहीं हैं क्योंकि उन अवस्थाओं में ध्येयकारवृत्ति विद्यमान रहती है किन्तु निरुद्ध अवस्था में चित्त अपनी स्वाभाविक शान्त की अवस्था में रहता है। अस्तु इसे योग की अंतिम अवस्था माना जाता है।

निरूढ़लक्षणा—**असति प्रयोजने शक्यसम्बन्धो निरूढ़लक्षणा। त्वचाज्ञातम् इत्यादौ यथा त्वचस् त्वगिन्द्रिये** (प० ल० म०)। अर्थात् प्रयोजन के अभाव में वाच्यार्थ का सम्बन्ध निरूढ़ा लक्षणा है। जैसे—'त्वचा से जाना गया' इत्यादि प्रयोगों में त्वक् शब्द की त्वगिन्द्रिय में लक्षणा की जाती है। त्वक् शब्द जिस तरह से 'चर्म' के अर्थ में प्रसिद्ध है, उसी तरह चर्म इन्द्रिय के अर्थ में भी।

निरोध—चित्त की अवस्था। **निरुध्यतेऽनेनेति निरोधः**—अर्थात् ज्ञान प्रसाद रूप परवैराग्य निरोध कहा जाता है। योग दर्शन के अनुसार—जिसमें प्रमाणादि चित्तवृत्तियां निरुद्ध कर दी जाती हैं, वह निरोध है, (सर्व० सं०, पृ० ७०३)। बौद्ध दर्शन के अनुसार—जन्म और मरण के स्त्रोत का आत्यन्तिक अभाव निरोध है।

निरोधपरिणाम—**व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावो निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोधपरिणामः** (यो० सू०, ३.९)। अर्थात् व्युत्थान संस्कार तथा निरोध संस्कारों का जो क्रमशः तिरोभाव और आविर्भाव के साथ जो, निरोधकालिक चित्त का सम्बन्ध है वह संस्कार शेष रूप निरोध परिणाम कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि निरोध समाधिकाल में जैसे-जैसे निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता जाता है, वैसे-वैसे व्युत्थान संस्कारों का तिरोभाव भी होता जाता है। अतः इस प्रकार की दोनों अवस्था के संस्कारों के साथ जो चित्त का धर्मीरूप से अन्वय (सम्बन्ध) है, उसे निरोधपरिणाम कहा जाता है। भाष्यकार व्यास के अनुसार—**तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः** (यो० सू०, ३.९)। अर्थात् एक चित्त का प्रत्येक क्षण में जो यह संस्कार का अन्यथा भाव है वही निरोधपरिणाम कहा जाता है।

निर्गुण—गुण मात्र का निषेध निर्गुण है। **निर्गुणः सत्वादि गुण रहितः**

(श्वे० उप०, शां० भा०, ६.११)। अर्थात् जो सत्वादि गुण से रहित है, वह निर्गुण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म निर्गुण है, अतः उसका वर्णन किसी विशेषण के द्वारा नहीं किया जा सकता। कठोपनिषद् (३.१५) में कहा गया है—

अशब्दमस्पर्शव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्त महतः परं ध्रुवं निचाययतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।।

तात्पर्य यह कि निर्गुण ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, और अगन्ध है, जो नित्य, अनादि, महत् तत्व से उच्च और ध्रुव है उसका दर्शन करने पर मनुष्य मृत्यु से मुक्त हो जाता है। श्रुतियों में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन नेति-नेति के द्वारा किया गया है। उपनिषदों की तरह ही आचार्य शंकर ने भी ब्रह्म के निर्गुण रूप को स्वीकार किया है। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म परमार्थ-सत्य, भूमा, निरतिशय, कूटस्थ, नित्य, समस्त विशेषणों से रहित, सर्वगत, निराकृत आदि है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य (३.२.२२) में कहा है—**वाङ्मनसातीतमविषयान्तः पाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं ब्रह्ममेति**। अर्थात् ब्रह्म वाणी और मन से अतीत है, इससे वह विषयों के अन्तर्भूत नहीं है, अतः प्रत्यगात्मरूप, नित्य, शुद्ध और मुक्त स्वभाव है। श्रीमद्भगवत्गीता में कहा गया है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। (गी०, १३.३१-३३)

तात्पर्य यह कि अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रहकर भी कुछ करता धरता नहीं है और उसे किसी भी कर्म का लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता। जैसे आकाश चारो ओर भरा हुआ है परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे किसी का भी लेप नहीं लगता, वैसे ही देह में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को किसी का भी लेप नहीं लगता। जैसे एक सूर्य सारे जगत को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है।

निर्जरा—तत्त्व। जैन दर्शन के अनुसार—**अर्जितस्य कर्मणस्तयः प्रभृतिभि-र्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम्** (सर्व०सं०, पृ० १६६)। अर्थात् जो कर्म अर्जित किया गया हो उसे अपनी तपस्या इत्यादि से नष्ट कर देना निर्जरा तत्व है। कषाय समूह से उत्पन्न पुण्य तथा सुख और दुःख को भी यह तत्व शरीर से ही नष्ट कर देता है।

निर्णय—न्याय दर्शन में पदार्थ। न्यायसूत्र (१.१.४१) में कहा गया है—**विमृश्य पक्ष-प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः**। अर्थात् एक पक्ष की स्थापना (साधन) तथा उसके खण्डन रूप प्रतिपक्ष इन दोनों से अर्थ के निश्चय करने को निर्णय कहते हैं। भाष्यकार वात्स्यायन का मन्तव्य यह है कि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में से जो एक पक्ष विचार से स्थिर हो जाता है, उसके निश्चय को निर्णय कहते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**निर्णयोऽवधारणज्ञानम्** (त०भा०, पृ० ३४४)। अर्थात् किसी वस्तु के अवधारण का नाम निर्णय है। यह प्रमाणों का फल है। इसका उदय प्रमाणों द्वारा सम्पन्न होता है।

निर्वाण—इसका सामान्य अर्थ होता है—'निर' यानि कि रहित तथा 'वान' यानि कि कामना अर्थात् कामना से रहित हो जाना निर्वाण है। बौद्ध दर्शन में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक चार सम्प्रदाय हैं। इन चारों सम्प्रदायों में निर्वाण की अलग-अलग व्याख्या प्रस्तुत की गई है। किन्तु फिर भी **तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुचति। यो खो आतुसो, रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इति इदं वुचति निब्बानं** (सुत्तनिपात)। अर्थात् तृष्णा का क्षय होना निर्वाण है। राग द्वेष के निरोध से भव का रुक जाना ही निर्वाण है—को सभी सम्प्रदाय मानते हैं। वैभाषिक बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार—सभी संस्कारों का पूर्णतः निरोध हो जाना निर्वाण है। सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष के भेद से निर्वाण दो प्रकार का होता है। शरीर के रहते हुए निर्वाण की प्राप्ति को सोपाधिशेष निर्वाण और शरीरपात के बाद निर्वाण की प्राप्ति को निरुपाधिशेष निर्वाण कहते हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार—क्लेश रूपी कार्य और संसार रूपी कारण का आत्यन्तिक अभाव ही निर्वाण है। योगाचार दर्शन के अनुसार—समत्व ही निर्वाण है। माध्यमिक दर्शन के आचार्य नागार्जुन के अनुसार—

यदि शून्यमिदं सर्व उदयो नास्ति न व्ययः।
प्रहाणाद्वा निरोधाद्वा कस्य निर्वाणमिष्यते॥ (मा०का०)

अर्थात् यदि सभी शून्य है किसी की न तो उत्पत्ति होती है और न किसी का

विनाश होता है तो निरोध से निर्वाण की प्राप्ति कैसे होगी? अर्थात् निर्वाण सम्भव ही नहीं है। उनके (नागार्जुन के) अनुसार शून्यता ही निर्वाण है। उन्होंने माध्यमिक कारिका में निर्वाण को पारिभाषित करते हुए कहा है---

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥ (मा०का०, २५.३)

आशय यह कि जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता, जो श्रम द्वारा लभ्य के समान प्राप्तव्य नहीं है, जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता, जो सस्वभाव पदार्थों के समान नित्य नहीं है, जो स्वभाव से अनिरुद्ध और अनुपपन्न हो, वह निर्वाण है।

शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक चन्द्रकीर्ति के अनुसार—

अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतोग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः ॥

आशय यह कि निर्वाण सम्बन्धी समस्त देशना अनिर्वाण की ही देशना है। निर्वाण की समस्त देशना का कार्य उसी प्रकार है, जिस प्रकार आकाश कृत ग्रन्थि आकाश द्वारा ही मोचित होती है।

यहां ध्यातव्य यह है कि बौद्ध दर्शन में विवेचित निर्वाण की व्याख्या जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाने के विषय में वैदिक परम्परा में मान्य संन्यासधर्म के जो सिद्धान्त हैं उनसे साम्य रखता है।

निर्विकल्पक—प्रत्यक्ष का भेद। **विकल्पेभ्यो विशेषणेभ्यो निर्मुक्तं निर्विकल्पम्**—तात्पर्य यह कि विशेषणहीन वस्तु के स्वरूप मात्र को ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक है। न्याय दर्शन के अनुसार किसी वस्तु का अस्पष्ट एवं अनिश्चित ज्ञान निर्विकल्पक है। इसमें नाम, जाति, गुण आदि का अभाव रहता है। जैसे—गाय का ज्ञान निर्विल्पक स्तर पर आकार, रंग, गुण, जाति आदि से रहित होता है। इस स्तर पर किसी वस्तु के विषय में मात्र यह बोध होता है कि—यह कुछ है। इस प्रकार ज्ञान में विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध का अभाव रहता है। तर्क भाषाकार के अनुसार—जैसे अबोध बालक या गूंगे व्यक्ति को जब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन होता है तब उस वस्तु के नाम आदि का ज्ञान न होने से वे अपने उस ज्ञान को किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रकट नहीं कर पाते, ठीक उसी प्रकार वयस्क और वाक्पटु व्यक्तियों को भी जब किसी वस्तु का निर्विकल्पक

प्रत्यक्ष होता है तब वे अपने उस प्रत्यक्ष को शब्द द्वारा प्रकट नहीं कर पाते (त०भा०, पृ० ६२)। सांख्य दर्शन के अनुसार जो ज्ञान अपनी-अपनी विषय भूत वस्तु में किसी भी प्रकार के विशेषण के सम्बन्ध का अवगाहन नहीं करता उसे निर्विकल्पक कहा जाता है (सां०त० कौ०, का० २८)। यहां यह बात स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गो, गोत्व तथा समवाय सम्बन्ध इन तीनों का ज्ञान होता है, पर ये विशेष्य-विशेषण रूप से भासित नहीं होते—विशुद्ध वस्तु के रूप में ही भासित होते हैं। सांख्य दार्शनिक नैयायिकों के इस मत से असहमत हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान अस्पष्ट है। सांख्य के अनुसार अस्पष्ट शब्द से निर्विकल्पक ज्ञान का परिचय देना असंगत है। दूर से किसी को देखने से जो अस्पष्ट दर्शन होता है उसे अज्ञ व्यक्ति निर्विकल्प समझते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार--

> अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
> बाल मूकादिसदृशं विज्ञानं शुद्धवस्तुजम्॥
>
> (श्लो०वा०, प्र० श्लोक-११२)

तात्पर्य यह कि जहां वस्तु विषयक ज्ञान ही उत्पन्न होता है तथा जिसमें विशेषण नाम प्रभृति विषय नहीं होते उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। यथा—छोटे बालकों या गूंगे प्रवृत्ति के मनुष्यों का जो ज्ञान होता है जिसका विषयादि के द्वारा विवरण नहीं दिया जा सकता है वह निर्विकल्पक ज्ञान ही है। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में कहा है--

> न विशेषा न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
> तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते॥
>
> (श्लो०वा०, प्र० श्लोक-११३)

आशय यह कि सामान्य तथा विशेष दोनों का आश्रयीभूत धर्मिस्वरूप वस्तु ही निर्विकल्पक ज्ञान है। उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान शुद्ध वस्तु विषयक है, विशेषण विषयक या नाम विषयक नहीं। प्रभाकर मीमांसक भी निर्विकल्प के इसी रूप को मानते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार---जिससे स्वलक्षण विशेष या संवेदना का बोध होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। उनकी मान्यता है है कि मात्र निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण युक्त होता है। क्योंकि इसमें मन द्वारा प्रदत्त संवेदना के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है। दिंगनाग ने प्रमाण समुच्चय के प्रथम अध्याय में 'कल्पनापोढ़म्' कहकर यह प्रतिपादित किया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में बुद्धि के द्वारा वस्तु में गुण, जाति, क्रिया आदि का प्रयोग नहीं किया

जाता, अस्तु उसमें किसी प्रकार की गलती होने की सम्भावना नहीं रहती। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्विकल्प की चर्चा करते हुए सर्वदर्शन संग्रह (पृष्ठ ६८) में कहा गया है---**कल्पनापोढ़मभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पम्**। आशय यह कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष वह है जो कल्पना से रहित है तथा भ्रान्त भी नहीं है। वैयाकरण निर्विकल्प प्रत्यक्ष की सम्भावना से इन्कार करते हैं। इस सन्दर्भ में वाक्यपदीयकार का मन्तव्य है---

> **न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**
> **अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते** ॥ (वा०, १.१२३)

तात्पर्य यह कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो शब्दों के बिना ही हो जाता हो। ज्ञान शब्द से उसी प्रकार विंधा हुआ है जैसे धागे से मणियां। ज्ञान की प्रतीति शब्दानुविद्ध होकर ही होती है। वाह्य इन्द्रियों से रूप-रस आदि की प्रतीति तथा अन्तःकरण में सुख-दुःख आदि की अनुभूति जो कुछ भी, जैसी भी हमें होती है, वह शब्दानुगम के बिना नहीं होती। जब तक प्रतीति या अनुभूति को प्रकट करने वाला शब्द बुद्धि में नहीं आता, तब तक वस्तु का प्रत्यक्ष या सुख-दुःख की संवेदना होने पर भी 'जान लिया' ऐसी ज्ञानावस्था प्राप्त नहीं होती। ज्ञान का शब्द से अवियोज्य सम्बन्ध होने के कारण शब्दों से अव्यक्त निर्विकल्प प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इस तरह व्याकरण दर्शन में निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उत्पत्ति असम्भव मानी गई है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार---**'निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्'**—(वे०परि०, पृ० २७)। अर्थात् किसी वस्तु के संसर्ग का अवगाहन न होना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। कहने का तात्पर्य यह कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है। जैसे—**सोऽयं देवदत्तः, तत्त्वमसि** इत्यादि। इन दोनों उदाहरणों में विधेयपद उद्देश्य पद के विशेषण को प्रस्तुत न करके उनके तादात्म्य सम्बन्ध को प्रस्तुत करते हैं, इसलिए ये निर्विकल्पक हैं। रामानुज का निर्विकल्पक विषयक विचार व्याकरण दर्शन से प्रायः मिलता है। उनके अनुसार—जाति, गुण आदि से रहित किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अस्तु निर्विकल्पक ज्ञान असम्भव है।

निष्काम—कर्म। यह वह कर्म है जो हम किसी प्रकार की कामना की पूर्ति के लिए नहीं, जो अपने सुख के लिए नहीं, बल्कि दूसरों के कल्याण के लिए करते हैं। निष्काम कर्म की व्याख्या सब प्रथम यजुर्वेद में देखने को मिलती है—**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजु०, ४०.२)। अर्थात् कर्मयोगी को निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिए। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६.४) में कहा गया है—

आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि भावाश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ।।

अर्थात् जो कर्मयोगी वर्णाश्रम विहित कर्तव्यकर्मों को अहंता, ममता, आसक्ति रहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से करता है वह तुरन्त ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक में निष्काम कर्म योगियों के लिए साधना के प्राणभूत अध्यात्मतत्त्व का उपदेश करते हुए कहा गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

इसी उपनिषद् के द्वितीय श्लोक में निष्काम के भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है—

एवं त्वयि नान्यथेऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

अर्थात् निष्काम भाव से कर्माचरण करने वाला पुरुष कर्मबन्धन में नहीं पड़ता । कर्माचरण ही कर्मों में लिप्त न होने का एक मात्र मार्ग है ।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—जिस प्रकार उपानह द्वारा कंटक तथा पत्थरों से पैर की रक्षा होती है उसी प्रकार सदा संतुष्ट, कामना हीन या निष्काम मन वाले के लिए सभी दिशाएँ सुखद हैं, उसे कहीं दुःख नहीं है—

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा सुखमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानात्पदः शिवम् ।।

गीता के अनुसार निष्काम का तात्पर्य आसक्ति का पूर्ण अभाव है । गीता (५.१०) में कहा गया है—जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की तरह पाप से लिप्त नहीं होता---

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

गीता की मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता—**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत** । इसलिए उसे अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार आचरण करना चाहिए, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

आचार्य शंकर ने गीता भाष्य के उपोद्घात में कहा है—**अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिक्षणो धर्मो वर्णाश्रमांश्चोद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन् ईश्वरार्पणबुद्धयानुष्ठीयमानः सत्वशुद्धये भवति फलाभिसंधिवर्जितः। शुद्ध सत्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयमहेतुत्व-मपि प्रतिपद्यते।** अर्थात् वर्ण एवं आश्रमों के उद्देश्य से अभ्युदयार्थ विहित प्रवृत्ति लक्षणधम यद्यपि देवादिस्थान अर्थात् स्वर्गादिस्थान साधन हैं, तथापि फल की इच्छा से रहित हो ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठित होने पर अन्तःकरण की शुद्धि करता है और शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञाननिष्ठयोग्यता सम्पादित करता हुआ ज्ञानो-त्पत्ति द्वारा परमकल्याण का कारण होता है।

निसर्ग—जैन दर्शन के अनुसार—**परोपदेश निरपेक्ष आत्मस्वरूपं निसर्गः** (सर्व०सं०, पृ० १३७)। अर्थात् दूसरों के उपदेश की अपेक्षा न रखने वाले आत्मस्वरूप (स्वभाव) का नाम निसर्ग है।

नैमित्तिक—प्रलय का भेद। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**कार्य ब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यमात्र प्रलयः नैमित्तिक प्रलयः** (वे०परि०, पृ० ३२२)। अर्थात् हिरण्यगर्भ का दिन समाप्त होने से होने वाले केवल त्रैलोक्य के लय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। पुराणवचन को उद्धृत करते हुए परिभाषा-कार कहते हैं—

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्॥

अर्थात् जिसमें विश्वसृष्टा शेष रूप आसन पर सबको आत्मसात कर सोता है, वह नैमित्तिक प्रलय है।

न्याय—**नियमेन ईयते इति न्यायः।** सामान्य रूप से न्याय शब्द का अर्थ होता है—नियमयुक्त व्यवहार। किन्तु दर्शन में जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो वह न्याय है—**नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थं सिद्धिरनेन इति न्यायः।** भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय के लक्षण के प्रसंग में कहा है—

साधनोयस्यार्थस्य यावति शब्द समूहे सिद्धि।
परिसमाप्यते पंचावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः॥

आशय यह कि पांच अवयव वाले वाक्य समूह को न्याय कहते हैं।

न्यायशास्त्र—**प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकीन्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्** (वात्स्या०, १.१.१)। अर्थात् प्रत्यक्ष तथा आगमन के द्वारा देखे हुए विषय के पश्चात् ईक्षण को अन्वीक्षा कहते हैं और उससे प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र को आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या या न्यायशास्त्र कहते हैं। वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा है—**त्रिविधा चाऽस्यशास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देश्यो, लक्षण, परीक्षा चेति** (वात्स्या०, १.१.२)। अर्थात् उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा—इन तीन विषयों के कथनार्थ न्यायशास्त्र तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है।

न्यायाभास— **यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभास,** (वात्स्या० १.१.१)। तात्पर्य यह कि जो अनुमान, प्रत्यक्ष, तथा आगम प्रमाण के विरुद्ध होता है उसे न्यायाभास कहते हैं। जैसे—वन्हि शीतल है, कार्य होने से, घट के समान। इसमें जिस विषय (शीतता) का प्रयोग किया है वह विषय उष्णता के प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण उस अनुमान का प्रत्यक्ष से विरोध है। उसी तरह नर का कपाल शुद्ध है, प्राणी का अंग होने से, शंख, शुक्ति आदि के समान। यह अनुमान आगम विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है, क्योंकि शास्त्र में हड्डियों को अशुद्ध कहा गया है।

न्यून—विवक्षित अर्थ को पूरा न कहकर कुछ कम कहने का नाम न्यून है। न्यायसूत्र (५.२.१२) में कहा गया है—**हीनम् अन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनम्**।

प

पक्ष—पक्ष शब्द की उत्पत्ति पक्ष धातु में 'अच्' प्रत्यय करने पर होती है, जिसका सामान्य अर्थ होता है—किसी वस्तु का आधार। तर्कभाषाकार के अनुसार—**संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः** (त०भा०, पृ० ११३)। अर्थात् जिस धर्मी में साध्यात्मक धर्म संदिग्ध हो उसे मात्र पक्ष कहा जाता है। जैसे—पर्वत में धूम से अग्नि का अनुमान करने पर पर्वत पक्ष होता है क्योंकि अनुमान से पूर्व पर्वत में

अग्नि का होना संदिग्ध रहता है।

पक्षधर्मता—पक्ष के साथ हेतु का वह सम्बन्ध जिससे हेतु साध्य का व्याप्य होता है, पक्षधर्मता कहलाता है।

पञ्जिका—**विषमपदभञ्जिका पञ्जिका** (का०मी०, पृ० ११)। अर्थात् केवल कठिन शब्दों का सरल शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण पञ्जिका कहलाता है।

पति—यह शिव का संकेतक शब्द है। शैव दर्शन में कहा गया है—**पति पदार्थः शिवोऽभिमतः** (शैव दर्शनम्, पृ० ३२३)। आशय यह कि पति शब्द से शिव का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

पद—**सुप्तिङन्तं पदम्** (पा०सू०, १.४.१४)। अर्थात् सुप् और तिङ् प्रत्ययों से युक्त होने पर कोई शब्द पद बनता है। जैसे—राम में सुप् प्रत्यय लगाने पर रामः पद बनता है। इसी प्रकार 'भू' धातु में तिप् तस् इत्यादि तिङ् प्रत्यय लगाने से भवति, भवतः इत्यादि क्रिया पद बनते हैं। न्याय सूत्र (२.२.६०) में कहा गया है—**ते विभक्त्यन्ताः पदम्**। अर्थात् सुप् तथा तिङ् नाम की विभक्ति जिनके अन्त में हो उसे पद कहते हैं। वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में कहा है—**यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्तिर्द्वयी नामिकीआख्यातिकी च, ब्राह्मणः पचतीत्युदाहरणम्**। अर्थात् विकार को प्राप्त हुए जिनके अन्त में सुप्, सु और जस् आदि अथवा तिङ्, तिप्, तस्, झि आदि विभक्ति हों, उन वर्णों को पद कहते हैं। विभक्ति दो प्रकार की होती है। एक नाम से प्रसिद्ध नामिकी तथा दूसरी धातु से सम्बन्ध रखने वाली आख्यातिकी संज्ञा होती है। जैसे—'ब्राह्मण' यह नामिकी एवं 'पचति' यह आख्यातिकी संज्ञा है। अतः विभक्तयन्त वर्ण पद होते है। तर्कभाषाकार के अनुसार वर्णों का समूह पद है। समूह का अर्थ है—एक ज्ञान का विषय होना। समूह को इस परिभाषा के अनुसार किसी एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों का नाम होता है—'पद'। इसलिए घ, अ, ट और अ ये वर्ण क्रम से उच्चरित हो जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ नहीं ज्ञात होते तब तक वे 'पद' नहीं कहे जाते, किन्तु जब ये किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात हों एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं तब वे 'पद' इस नाम से अर्ह होकर घट पद कहे जाने लगते हैं। पद के लक्षण में समूह शब्द के सन्निवेश से यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि पद सदा अनेक वर्णात्मक ही होता है, किन्तु कहीं-कहीं पर वह एक वर्णात्मक भी होता है। जैसे—विष्णुवाची 'अ', सुखवाची 'क', आकाशवाची 'ख' आदि। महाभाष्यकार ने चार प्रकार के पदों की चर्चा की है। उन्होंने महाभाष्य (१.१.१) में कहा है—

नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्चेत्। चत्वारि वाक् परिमितापादानी। अर्थात् नाम, अख्यात, उपसर्ग और निपात भेद से पद चार प्रकार के होते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (२.१) में पदों के भेद का उल्लेख करते हुए कहा है—**द्विधाकश्चित्पदं भिन्न चतुर्धा पंचधायिवा**। अर्थात् कुछ लोग पद के दो भेद मानते हैं, कुछ चार और कुछ लोग पांच भेद स्वीकार करते हैं। यास्क के अनुसार—**एतानि चत्वारि पद जातानि नामाख्याताश्चोपसर्गनिपाताश्चेति** (नि०, १.१.८)।

पद्धति—सूत्र वृत्ति विवेचनं पद्धतिः (का०मी०, पृ० ११) अर्थात् सूत्र पर की गई वृत्ति की विवेचना का नाम पद्धति है।

पदार्थ—पदस्य अर्थः पदार्थः—अर्थात् पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। तर्कदीपिका (पृ० ८) में कहा गया है—**अभिध्येत्वं पदार्थ सामान्य लक्षणम्**। तात्पर्य यह कि जो वाणी का विषय है, वह पदार्थ है। सप्त पदार्थी में कहा गया है—**प्रमिति विषयाः पदार्थाः**। अर्थात् जो प्रमिति (यथार्थ) का विषय है वह पदार्थ है। वाक्यपदीयकार के अनुसार—**प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दनामोपचारिकीम्। एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चित् विवर्तते।** आशय यह कि जो सत्ता का निर्देशक है वह पदार्थ है। भर्तृहरि की यह मान्यता है कि सभी पदार्थों की प्रवृत्ति में सत्ता मूल कारण है, अस्तु वही पदार्थ है। यहां पर कहने का तात्पर्य यह है कि नाम और नामधारी, पद और अर्थ, वाचक और वाच्य ये सभी ही पदार्थ हैं। व्याकरण-दर्शन में सामान्यतः जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य को पदार्थ माना गया है। कुछ लोगों ने द्रव्य के स्थान पर सम्बन्ध को पदार्थ स्वीकार किया है। मीमांसा दर्शन में शबर ने द्रव्य, जाति, गुण और कर्म इन पदार्थों को ही स्वीकार किया है। कुमारिल भट्ट अभाव को अतिरिक्त पदार्थ मानकर पांच पदार्थों को स्वीकार करते हैं। प्रभाकर शबर द्वारा माने गये चार पदार्थों के अतिरिक्त सादृश्य को भी पदार्थ मानते हैं। मुरारी मिश्र एक मात्र ब्रह्म को पदार्थ के रूप में मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं वे सभी इसी (ब्रह्म) में समवेत हैं। इसलिए इनकी अलग से सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी गंगभट्ट द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति और अभाव इन सात पदार्थों को मानते हैं। वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में पदार्थों की संख्या का निर्धारण करते हुए कहा है—

अपोद्धार पदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दाः ये चापि प्रतिपादकाः॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्ग सम्बन्धाः साध्वसाधुषु॥

(वा०प०, १.२४-२५)

अर्थात् अपोद्धार, स्थित, अन्वाख्येय, प्रतिपादक, कार्यकारणभाव, योग्यभाव, धर्म और साधु-असाधु के भेद से पदार्थ आठ हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—**प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः** (न्या०सू०, १.१.१) अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ हैं। इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। वैशेषिक सूत्र (१.१.४) में पदार्थों की चर्चा करते हुए कहा गया है—**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्**। अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः पदार्थ हैं। इन पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। वैशेषिक सूत्र में यद्यपि इन छः पदार्थों का उल्लेख है किन्तु बाद के दार्शनिकों में **क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागसत्** (वै०सू०, ९.१.१) आदि सूत्रों के आधार पर अभाव को भी एक पदार्थ के रूप में माना है। सांख्य दर्शन में मुख्यतः चार प्रकार के पदार्थों की चर्चा की गई है, जिसमें—प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और न प्रकृति न विकृति। किन्तु इनमें अवान्तर भेद करके सांख्य दर्शन पच्चीस पदार्थों को स्वीकार करता है। इसका उल्लेख सांख्यकारिका में स्पष्ट रूप से किया गया है—

> **मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त।**
> **षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥**
> (सां०का०, ३)

अर्थात् एक पदार्थ मूल प्रकृति है जो किसी का विकार नहीं है, अहंकार तथा पांच तन्मात्रा ये सात पदार्थ प्रकृति-विकृति हैं, पांच महाभूत, ग्यारह इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन) ये सोलह पदार्थ विकृति हैं तथा एक पदार्थ पुरुष जो न प्रकृति है और न विकृति। इस प्रकार पच्चीस पदार्थों का उल्लेख सांख्य दर्शन में किया गया है। अद्वैत वेदान्त में चित् और अचित दो पदार्थ माने गये हैं। रामानुज दर्शन में चित्, अचित एवं ईश्वर इन तीन पदार्थों का उल्लेख किया गया है। माध्वाचार्य के अनुसार—स्वतंत्र और परतंत्र भेद से पदार्थ दो हैं, जिसमें स्वतन्त्र पदार्थ ईश्वर है तथा शेष सभी परतन्त्र पदार्थ हैं। शैव दर्शन में पति, पशु और पाश भेद से तीन प्रकार के पदार्थों की चर्चा की गई है। इसमें पति पदार्थ से शिव का; पशु पदार्थ से जीवात्मा का और पाश पदार्थ से मल कर्म, माया एवं रोध शक्ति का अर्थ ग्रहण किया गया है।

परकृति—अर्थवाद । न्याय दर्शन के अनुसार—**अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः** (वात्स्या०, २.१.६५) । अर्थात् दूसरे कर्मकर्ता से किए कर्म के विरुद्ध कर्म की विधि के बाद कथन को परकृति कहते हैं। जैसे – कुछ कर्म करने वाले वपाहवन करने के पश्चात् पृषदाज्यका अभिधारण कर्म करते हैं और चरक नामक यज्ञ अध्वर्यु प्रथम पृषदाज्य का अवधारण करने के पश्चात् वपाहोम करते हैं। क्योंकि पृषदाज्य ही अग्नि के प्राण हैं। इस प्रकार परस्पर कर्ताओं को लेकर विरुद्ध प्रकार के कर्मों की विधि होने से यह परकृति अर्थवाद कहलाता है।

परत्व—गुण । न्याय दर्शन के अनुसार—**परव्यवहारासाधारणकारणे परत्वम्** (त०भा०, पृ० २८१) । अर्थात् 'यह इससे दूर है' इस प्रकार के असाधारण कारणभूत गुण को परत्व कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**पराभिधान प्रत्ययनिमित्तम् परत्वम्** (प्र०भा०, पृ० १२४) । अर्थात् जिस विशेष गुण को लेकर द्रव्य में पर शब्द का प्रयोग होता है अथवा ज्ञान होता है उसे परत्व गुण कहते हैं। इसके दृकक्रत और कालकृत—ये दो भेद हैं। इनमें से दृक्कृत परत्व का लक्षण करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० १२५) में कहा गया है—**एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः संयुक्तसंयोग बह्वल्पभावे सत्येकस्य द्रष्टः सन्निकृष्टं अवधिं कृत्वा एतस्माद्विप्रकृष्टोऽयमिति परत्वाधारेऽसन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते। ततस्तामपेक्ष्य परेण दिक्प्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः**। अर्थात् किसी दिशा में वर्तमान रहने वाले पदार्थों में संयुक्त संयोग सम्बन्ध के अधिकता तथा न्यूनता के रहने पर एक व्यक्ति को किसी निकटस्थ वस्तु की अपेक्षा 'यह दूर है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनुसार किसी दिशा विशेष से संयोग को आधार मानकर परत्व की उत्पत्ति होती है। इसी तरह कालकृत परत्व के लक्षण के प्रसंग में प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० १२६-२७) में कहा गया है—**वर्तमानकालयोरनियतदिग्देश संयुक्तोर्युवस्थविरयो रूढश्मश्रु कार्कश्यवलिपलितादिसान्निध्ये सत्येकस्यद्रष्टुर्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते। ततस्तामपेक्ष्यापरेण कालप्रदेशेन संयोगात् परत्वस्योत्पत्तिः**। अर्थात् वर्तमान समय में रहने वाले अनियमित दिक्देश में संयुक्त तरुण तथा वृद्ध पुरुष में दाढ़ी तथा मूछ का होना, कठोरता, वली (सिकुड़ी) तथा श्वेतताः इत्यादि क्रम से तरुण तथा वृद्ध में सन्निहित रहने पर एक तरुण पुरुष को अवधिकर वृद्ध में दूरता रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् उस वृद्ध की अपेक्षाकर अधिककाल के प्रदेश (अंश) के साथ संयोग से कालिक परत्व गुण की उत्पत्ति होती है।

परमाणु—न्याय दर्शन के अनुसार—**यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे** (वात्स्या०, ४.२.१६)। अर्थात् जिससे अत्यन्त छोटा कोई अन्य पदार्थ न हो वह परमाणु है। न्याय सूत्र (४.२.१७) में कहा गया है--**परं वा त्रुटेः**। तात्पर्य यह कि त्रुटि यानि कि त्रसरेणु से भी जो आगे हैं उसे परमाणु कहते हैं। घर के झरोखे में दिखाई पड़ने वाली सूर्य के किरणों में वर्तमान सूक्ष्म रज का जो छठा भाग होता है उसे त्रसरेणु कहते हैं। इस सन्दर्भ में न्याय दर्शन में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

जलान्तगतौ भानौ सतसूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्टतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् किसी स्थूल द्रव्य का वह भाग, जिसमें किसी प्रकार के अंश द्रव्य की कोई कल्पना नहीं की जा सकती, वह परमाणु है। वैशेषिक दर्शन में परमाणु के विषय में तर्क देते हुए कहा है—**तस्य कार्यं लिंगम्** (वै०सू०, ४.१.२)। अर्थात् परमाणु-द्वय के संयोग से द्वयणुक एवं द्वयणुकत्रय के संयोग से त्र्यणुक की पद्धति से उपलक्ष्यमान (घट-पट आदि—स्थूल पदार्थ) कार्य (अपने मूल कारण भूत) परमाणु की अनुमिति में हेतु होते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार पुद्गल ही परमाणु है। जैन दर्शन के अनुसार— **स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्त पुद्गलाः** (तत्वा० सू०, ५.२४)। अर्थात जो स्पर्श, रस, गन्ध एवं रूप से युक्त द्रव्य स्वरूप पुद्गल है, वही परमाणु है। ग्रीक दार्शनिक ल्यूसिपस, एपिकुरस, इम्पीडोकिल तथा ऐनाक्सागोरस आदि ने भी परमाणु की व्याख्या लगभग इसी तरह से की है। वाक्यपदीयकार शब्द को परमाणु मानते हैं। उनके अनुसार—

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्ने समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः॥

(वा०प०, १.१११)

अर्थात् शब्द परमाणु अपनी शक्ति की अवस्था में वक्ता के प्रयत्न से प्रेरित होकर अपनी सूक्ष्मता और विरलता को छोड़कर स्थूलता और घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं, जैसे जलीय वाष्प कण वायु की प्रेरणा से एकत्र होकर घनत्व को प्राप्त करते हैं। सांख्य दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये परमाणु हैं। ये परमाणु ही अपने-अपने द्रव्य एवं गुण की संरचना करते हैं।

परमात्मा—सर्वोपरि आत्मा या ब्रह्म को परमात्मा कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—**सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्यभोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी परमात्मा** (न्या०सू०,

१.१.९)। **अर्थात्** जो सम्पूर्ण सुख तथा दुःख के साधन का द्रष्टा तथा सम्पूर्ण विषयों का अनुभव करने वाला है वह परमात्मा है। महाभारत में परमात्मा शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जब आत्मा प्रकृति (शरीर) में बद्ध रहता है तब उसे जीवात्मा कहते हैं। और वही प्राकृत गुणों से यानि शरीर के गुणों से रहित होने पर परमात्मा कहलाता है—

आत्मा क्षेत्रज्ञः इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

श्रीमद्भगवतगीता (१५.१७) में कहा गया है—**उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**। तात्पर्य यह कि जो क्षर और अक्षर या व्यक्त और अव्यक्त से भी भिन्न है, वही उत्तम पुरुष है, उसी को परमात्मा कहते हैं। जीवगोस्वामी के अनुसार—ब्रह्म एवं परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने षट् सन्दर्भ (पृ० २५०) में कहा है कि जीव और उसकी क्रियाओं के नियन्ता को परमात्मा कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—निर्गुण ब्रह्म माया के अविच्छिन्न होने पर चैतन्य ईश्वर कहलाता है वही परमात्मा है। इसी के द्वारा जगत की उत्पत्ति आदि होती है। इस सन्दर्भ में वेदान्त परिभाषा के मंगलाचरण में कहा गया है—

यद्विद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।
तं नौमि परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥

आशय यह कि जिसके अविद्यापरिणाम से आकाशादि भूत और उनके समस्त स्थूल विकार (चराचर शरीर) उत्पन्न होते हैं, उस सच्चिदानन्द को ही परमात्मा कहते हैं। रामानुज के अनुसार—**सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः** (सर्व० सं०, पृ० २०६)। अर्थात् संसार में जितने भी घट, पट, मनुष्य आदि शब्द हैं सभी परमात्मा के ही वाचक हैं। उनका मन्तव्य है कि शब्द से वस्तु का बोध होता है, वस्तु से उसके भीतर रहने वाले जीव का, फिर जीव से परमात्मा का।

परमेश्वर—चार्वाक दर्शन के अनुसार—**लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः** (सर्व० सं०, पृ० ९)। अर्थात् संसार में स्वीकृत राजा ही परमेश्वर है। योग दर्शन के अनुसार—**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः परमेश्वरः** (यो०सू०, १.२४)। अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट रहने वाला पुरुष ही परमेश्वर है।

परापकारचिकीर्षा—योग दर्शन में कालुष्य भेद। योग दर्शन के अनुसार

अपने से अन्य पुरुषों को प्रतिकूल जानकर उनका अपकार करने की जो इच्छा होती है, उसे परापकारचिकीर्षा कालुष्य कहा जाता है।

परामर्श—**तृतीयं ज्ञानं परामर्शः** (त०भा०, पृ० ९८)। अर्थात् लिंग के तीसरे ज्ञान को परामर्श कहा जाता है। आशय यह कि धूम के तीन ज्ञान होने के पश्चात् अग्नि की अनुमिति का उदय होता है, महानस आदि में बन्हि-धूम के सहचार दर्शन से '**वन्हि व्याप्यो धूमः**' इस प्रकार बन्हिव्याप्य रूप में धूम का जो प्रथम बार दर्शन होता है वह धूम का पहला ज्ञान कहा जाता है। इसके बाद दूर से पर्वत आदि में जो धूम का दर्शन होता है वह धूम का दूसरा ज्ञान कहा जाता है। इस दूसरे धूम ज्ञान से पहले धूम ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुए व्याप्ति विषयक संस्कार का उद्‌बोधन होने से '**धर्मो वन्हिव्याप्यः**' इस प्रकार व्याप्ति स्मरण होकर जो '**वन्हिव्याप्य धूमवान पर्वतः**' इस प्रकार पर्वत के साथ वन्हिव्याप्य धूम के सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह धूम का तीसरा ज्ञान कहा जाता है। यही ज्ञान परामर्श है।

परार्थानुमान—अनुमान-भेद। **परस्यार्थः प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थानुमानम्**---अर्थात् जिसका प्रयोग दूसरे के प्रयोजन के लिए किया जाता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार—**पंचावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्** (प्र०भा०, पृ०१८४)। अर्थात् पांच अवयवों से युक्त वाक्य के द्वारा अपने से निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करना परार्थानुमान कहलाता है। धर्मोत्तराचार्य के अनुसार—**परार्थानुमानं शब्दात्मकम्** (न्या०बि०, पृ० २१)। अर्थात् परार्थानुमान शब्दात्मक होता है। तर्क दीपिकाप्रकाशकार के अनुसार—**परार्थानुमानस्य परस्य मध्यस्थस्यार्थः प्रयोजनं साध्यानुमिति रूपं यस्मादिति व्युत्पत्या परसमवेतानुमितिकरणलिंग परामर्शोऽर्थः** (त०दी० प्र०, पृ० २६५)। अर्थात् साध्य अनुमिति रूप प्रयोजन परार्थ है। परार्थ में उत्पन्न अनुमिति में कारण होने से लिंग परामर्श को परार्थानुमान कहते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमानाय परं बोधयितुं पंचावयवमनुमानवाक्य प्रयुक्ते तत् परार्थानुमानम्** (त०भा०, पृ० १०५)। अर्थात् जब कोई मनुष्य स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरे मनुष्य को उस अनुमिति अग्नि का बोध कराने के लिए पंचावयव का प्रयोग करता है, तब उस वाक्य के द्वारा मनुष्य को जो अनुमान होता है उसे परार्थानुमान कहा जाता है। जैसे—पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह धूमयुक्त है (हेतु), जो-जो धूमयुक्त होता है वह अग्नियुक्त होता है जैसे—महानस (उदाहरण), पर्वत धूमयुक्त है (उपनय), इसलिए पर्वत में अग्नि है (निगमन)। इन पांच वाक्यों के द्वारा पर्वत

अग्निव्याप्य धूम से युक्त है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, यह ज्ञान ही परार्थानुमान है।

परिच्छेद—**वाक्यार्थसमानाधिकरणयेन संज्ञानिमित्त परिच्छेदः** (न्या०को०, पृ० ४७८)। अर्थात् समानाधिकरण के द्वारा संज्ञा निमित्त वाक्यार्थ परिच्छेद कहलाता है। परिच्छेद को काव्य में सर्ग, कोश में वर्ग, अलंकार में उच्छ्वास, कथा में उद्घात, संहिता तथा पुराण में अध्याय, नाटक में अंक, तंत्र में पटल, ब्राह्मण में काण्ड, इतिहास में पर्व तथा भाष्य में आह्निक कहते हैं।

परिणाम—**परिणामश्चावस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्ति** (वात्स्या०, ३.२.१५)। अर्थात् द्रव्य धर्मी के वर्तमान रहते पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर दूसरे धर्म की उत्पत्ति होना ही परिणाम कहलाता है। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः** (वे०परि०, पृ० १००)। अर्थात् उपादान जैसी सत्ता हो ठीक वैसी सत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना परिणाम कहलाता है। जैसे—घट रूप कार्य, मृत्तिका से अभिन्न रहकर ही उत्पन्न होता है, इसलिए मृत्तिका घट की उपादान कारण है और घट मृत्तिका का परिणाम है। अद्वैतवेदान्त की मान्यता है कि कोई वस्तु जिस समय अपनी पहली अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में आ जाती है तब उसे परिणाम कहते हैं। जैसे---दूध का दही में परिणाम (सर्व०सं०, ७५०)। सांख्य दर्शन के अनुसार—**यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूमिकारानासाद्य नारिकेल-ताल-ताली-बिल्व-चिरविल्व-तिन्दुकामलकप्राचीनामलक - कपित्थ-फल-रसतया परिणामन्मधुराम्ललवणतिक्तकषाय कटुतया विकल्पते, एकमेकैक गुण समुद्भवात् प्रधानगुणामश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्त्तयन्ति** (सां० त०कौ०, का० १६)। अर्थात् जिस प्रकार मेघ से विच्युत जल एक रस (एकरूप) होने पर भी पृथिवी के विकारों को प्राप्त कर नारियल, ताल, विल्व, चिरविल्व (कलंज), तिन्दुक, आमलक, प्राचीनामलक (पानी---आंवला), कैथ के रस में परिणत होने पर मीठा, खट्टा, नमकीन, तिक्त, कसैला तथा कड़वा हो जाता है, उसी रूप से एक-एक गुण के प्रधान्येन आविर्भाव होने से उस प्रधान गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणामों को उत्पन्न करते हैं। योग दर्शन के अनुसार—**परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात्** (सर्व०सं०, पृ० ६८३)। अर्थात् धर्म परिणाम, लक्षणपरिणाम, तथा अवस्था परिणाम के भेद से परिणाम तीन प्रकार का होता है। योग दर्शन में चित्त को परिणामी कहा गया है। कारण यह कि उपराग धर्म यानि कि आकार का समर्पण चित्त के परिणामी होने पर ही सम्भव है। स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी (१३.८) में कहा है—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिति ।
स्यात् क्षीरं दधि मृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ।।

अर्थात् किसी वस्तु का अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त कर लेना उस वस्तु का परिणाम है। जैसे—दूध से दही, मिट्टी से घड़ा तथा सुवर्ण से कुण्डल बनना इत्यादि। यहां पर दही, घड़ा तथा कुण्डल क्रमशः दूध, मिट्टी तथा सुवर्ण के परिणाम हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (१८.३७) में कहा गया है—**यत्तग्रे विषयिव परिणामे मृतोपमम्** । आशय यह कि परिणाम में वस्तु का स्वभाव परिवर्तित हो जाता है। जो आरम्भ में विष के समान प्रतीत होता है वह परिणाम में अमृत के तुल्य हो जाता है।

परिनिष्ठा—समाप्ति। सांख्य सूत्र (१.६८) में कहा गया है—**पारम्पर्ये॰प्येकत्र परिनिष्ठेति**। अर्थात् जहां कार्यकारण परम्परा की परिनिष्ठा होती है, उसका नाम परिनिष्ठा है।

परिभाषा—नियम के अभाव में नियम करने वाली परिभाषा है। परिभाषा के लक्षण के सन्दर्भ में न्यायकोश (पृ० १८०) में कहा गया है—**परितो व्यावृता भाषा परिभाषा प्रचक्षते**। अर्थात् भाषा के चारो ओर से व्याप्त करना, परिभाषा कहलाता है।

परिशेषण—अनुमान। न्याय दर्शन के अनुसार—**प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राऽप्रसंगाच्छिष्यमाणो सम्प्रत्ययःपरिशेषः** (वात्स्या०, १.१.५)। अर्थात् सम्भावित विषयों में से किसी में सम्भावना न होने के कारण उक्त सम्भावित विषयों में कहे हुए निषेध के पश्चात् जो परिशिष्ट हो उसमें निश्चय रूप ज्ञान होना परिशेष कहलाता है। जैसे—'सदानित्य' में द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में विशेषता न रखते हुए, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक नित्य पदार्थों से पृथक किए हुए शब्द में वह शब्द द्रव्य, गुण अथवा कर्म पदार्थ है, ऐसा सन्देह होने पर, एक आकाश रूप द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण शब्द द्रव्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्द की उत्पत्ति का कारण होने से कर्म पदार्थ भी नहीं हो सकता—इस प्रकार द्रव्य तथा कर्म पदार्थ में भी अन्तर्भाव के कारण न होने पर जो अवशिष्ट बच जाता है, वह यह शब्द है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार व्यतिरेकि हेतु को परिशेष कहते हैं।

परिसंख्या—इसका शाब्दिक अर्थ होता है—परि (निषेध) और संख्या (बुद्धि) अर्थात् निषेधात्मिका बुद्धि को परिसंख्या कहते हैं। जहां एक ही साथ दो

वस्तु की प्राप्ति रहती है और तब उसमें से जब एक वस्तु की निवृत्ति की जाती है तब इसे परिसंख्या विधि कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ५२४)। जैसे—**पंच पंचनखाभक्ष्याः**। आशय यह कि पांच पंचनखों के अतिरिक्त किसी दूसरे पंचनख जीव का भक्षण मना है। इस प्रकार यह निवृत्ति परिसंख्या ही होती है। तंत्रवार्तिक (१.२.३४) में कहा गया है—**तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्या विधीयते**। अर्थात् दूसरे प्रमाण से सामान्यतया प्राप्त कार्य का पुनः विशेष स्थिति में विधान करना, जिससे सामान्यतया प्राप्त दूसरी विद्या विधि का निषेध हो, उसे परिसंख्या कहते हैं।

परीक्षक—न्याय दर्शन के अनुसार—शास्त्र के ज्ञाता को परीक्षक कहते हैं। वात्स्यायन भाष्य (१.१.२४) में कहा गया है—**परीक्षकाः तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति**—अर्थात् जो स्वाभाविक तथा शास्त्र ज्ञान से उत्पन्न ज्ञानी होते हैं उन्हें परीक्षक कहते हैं, क्योंकि वे तर्क तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बल से विषय की परीक्षा कर सकते हैं।

परीक्षा—परितः ईक्षणां परीक्षा—इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी विषय की सब प्रकार से जांच करने को परीक्षा कहा जाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा** (त०भा०, पृ० ४) अर्थात् जो पदार्थ लक्षित हुआ है, जिसका जो लक्षण बताया गया है उसका वह लक्षण उपपन्न है या नहीं, प्रमाणों से इस बात का निर्णय करना परीक्षा है।

पर्याय—जैन दर्शन के अनुसार—क्रम से उत्पन्न होने वाला एवं द्रव्य के बाद आने वाला पर्याय है। जैसे---जीव के पर्याय नरक आदि, पुद्गल के रूप, रस, स्पर्शादि; धर्म-अधर्म और आकाश का पर्याय अभिव्यक्ति है। पर्याय का यही लक्षण नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है। दोनों में अन्तर यह है कि जैन दर्शन में जिसे पर्याय कहते हैं नैयायिक उसे कर्म के नाम से सम्बोधित करते हैं।

पशु—पशुत्वसम्बन्धी पशुः—अर्थात् जिसमें पशुत्व हो वह पशु है। नकुलीशपाशुपत दर्शन में साञ्जन और निरञ्जन भेद से पशु दो प्रकार का होता है। साञ्जन (शरीर और इन्द्रियों से युक्त) वह है जिसे शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध हो तथा निरञ्जन (शरीरेन्द्रिय) से रहित वह है पशु है जो शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध से रहित है (सर्व०सं०, पृ० ३०९)। शैव दर्शन के अनुसार—**अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः** (सर्व०सं०, पृ० ३३२)। अर्थात् जो अणु नहीं है, क्षेत्रज्ञ (शरीर का ज्ञाता) आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसका बोध हो वह जीवात्मा पशु है। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है---

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवाः कथं बध्येत वै पशुः।

परिपाक—वासना का परिणाम। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**वासनायाश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः** (सर्व०सं०, पृ० ८३)। अर्थात् वासना का अपने कार्योत्पादन के प्रति उन्मुख या प्रवृत्त होना ही परिपाक है।

पाप—किसी क्रिया के सम्पादन में अनिष्ट साधनों का प्रयोग करना पाप कहलाता है। जैन दर्शन के अनुसार—**सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पाप तस्य विपर्ययः** (सर्व० सं०, पृ० १७७)। अर्थात् बुरे कार्य से उत्पन्न पुद्गल पाप है।

पारद—यह एक प्रकार का रस होता है। इसका सेवन करने से शरीर पुष्ट होता है साथ ही मनुष्य शरीर के रहते हुए जरामरणादि से छुटकारा पा लेता है। रसेश्वर दर्शन के अनुसार—**संसारस्य परं पारं दत्ते सौ पारदः स्मृतः** (सर्व० सं०, पृ० ३७६)। अर्थात् जो संसार के दूसरे पार यानि कि मोक्ष को पहुँचा दे वही पारद कहलाता है। रसशास्त्र में इसे रुद्र का वीर्य माना गया है। रसार्णव में शिव के द्वारा इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा गया है—

शिवांगात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले।
तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमभूच्च तत् ॥
अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तनु भवेत क्रमात् ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः ॥

पारमार्थिक—सत्ताभेद। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**त्रिकालबाधित्वं सत्वं-पारमर्थिकम्**—अर्थात् जो त्रिकाल बाधित सत्य है यानि कि जो तीनों काल, भूत, भविष्य एवं वर्तमान, में बाधित नहीं होता, वह पारमार्थिक है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता मानते हैं।

पारिणामिक—जैन दर्शन के अनुसार—**कर्मोपशमाधनपेक्षः सहजो भवश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः**—(सर्व० सं०, पृ० १४७)। अर्थात् कर्म के उपशम

आदि से अलग स्वाभाविक भाव जो चेतनत्व आदि है, वह पारिणामिक है।

पुण्य—**सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं** (सर्व०सं०, पृ० १७७)। अर्थात् सत् कर्म से उत्पन्न होने वाले पुद्गल पुण्य हैं। श्रुतियों में कहा गया है—**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**—अर्थात् पुण्य के क्षीण हो जाने पर जीव मर्त्यलोक में प्रवेश करता है।

पुद्गल—परमाणु। **पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः**। तत्वार्थ सूत्र (५.२४) में कहा गया है—**स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः**। अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वर्ण रूप से युक्त को पुद्गल कहते हैं। अणु और स्कन्ध भेद से पुद्गल दो प्रकार का माना गया है। बौद्ध दर्शन में जीव में अहंभाव के आश्रय के लिए मानस व्यापार की कल्पना की गई है। उनके अनुसार यही मानस व्यापार पुद्गल है। यह द्रव्यात्मक वस्तु का अत्यन्त लघु भाग है। पुद्गल स्कन्धों के साथ सम्बद्ध रहता है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि जब स्कन्धों का निर्वाण के समय निरोध होता है तो उन्हीं के साथ पुद्गल का भी उपशम हो जाता है।

पुनरुक्त—निग्रहस्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्** (न्या० सू०, ५.२.१४)। अर्थात् प्रयोजन रहित पुनः कहना रूप अनुवाद को छोड़कर शब्द तथा अर्थ दोनों का दूसरे बार कहना पुनरुक्त निग्रहस्थान कहलाता है। भाष्यकार वात्स्यायन उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—प्रयोजन सहित पुनः कहना रूप अनुवाद को छोड़कर शब्द पुनरुक्त अथवा अर्थ पुनरुक्त दोष होता है। जैसे—शब्द नित्य है, शब्द नित्य है ऐसे शब्द को पुनः-पुनः कहना शब्द पुनरुक्त कहलाता है; तथा शब्द अनित्य है, ध्वनि विनाश धर्मवाला है ऐसा कहने में शब्द के पर्याय ध्वनि तथा अनित्य के पर्याय 'विनाश धर्म वाला' इनका केवल अर्थ से पुनः कथन होने के कारण यह अर्थ पुनरुक्त निग्रहस्थान कहलाता है।

पुमान्—पुरुष। मनुस्मृतिकार के अनुसार—

> **पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।**
> **समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥** (मनु०, ३.४९)

अर्थात् पुरुष में पुंसत्व की अधिकता होती है इसलिए उसे पुमान कहते हैं स्त्रियों में शुक्र की अधिकता होती है इसलिए वे स्त्रियाँ कहलाती हैं। जब पुरुष में पुंसत्व और स्त्रियों में शुक्रत्व सम होता है तभी वे क्रमशः पुमान एवं स्त्री होते हैं। मिताक्षरा में कहा गया है जो मूत्र, फेनिल आदि से युक्त बीज का वपन करके सन्तान रूप फल प्रदान करता है वह पुमान कहलाता है—

यस्याप्सु प्लवते बीजं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम्।
पुमान स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः॥ (मिता०, १.५५)

पुराण—**वेदाख्यानोपनिबन्धनप्राय पुराणम्** (का० मी०, पृ० ८)। अर्थात् वेद में आये हुए आख्यानों का अलंकारिक रूप से वर्णन करना पुराणों का विषय है। पुराणों के वर्णनीय विषय पाँच हैं, जिसका उल्लेख काव्य मीमांसा में इस प्रकार किया गया है—

सवर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वंतराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धम् तद्विज्ञेयं पुराणमिति॥
(का० मी०, पृ०८)

अर्थात् संसार की व्यापक सृष्टि, अवान्तर सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तर और वंशवर्णन—इन पाँच विषयों का वर्णन जिसमें किया गया हो, उसे पुराण कहते हैं।

पुरुष—भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में जिसे आत्मा कहा गया है, सांख्य दर्शन में उसे ही पुरुष के नाम से अभिव्यञ्जित किया जाता है। सांख्य के अनुसार— **असंगोऽयं पुरुष इति, सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्** (सां० सू० प्र० भा०, १.१५.१४८)। अर्थात् पुरुष असंग है। वह सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) का साक्षी है। तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने के कारण पुरुष अपरिणामी है। पुरुष के धर्मों का प्रतिपादन करते हुए सांख्य-कारिकाकार ने कहा है—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च च॥
(सां० का०, १९)

तात्पर्य यह कि पुरुष त्रिगुणातीत, उदासीन, मध्यस्थ, द्रष्टा एवं अकर्ता है।

सांख्य दर्शन पुरुष की अनेकता को स्वीकार करता है। सांख्यकारिकाकार का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-मरण में भिन्नता के कारण, एक समय में एक ही प्रवृत्ति न होने के कारण, तीनों गुणों(सत्व, रज, तम)में विषमता होने के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है।

पुरुषार्थ—पुरुषस्य अर्थः लक्ष्यैव वा पुरुषार्थः अर्थात् पुरुष के लक्ष्य, चाह, इच्छा, प्रयोजन को पुरुषार्थ कहते हैं। भारतीय परम्परा में सामान्य रूप से धर्म अर्थ, काम एवं मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गये हैं। किन्तु मनुस्मृति में पुरुषार्थ तीन ही माना गया है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति (२.२२४) में कहा गया है—

धर्मार्थ विच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्ग को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। रसेश्वर दर्शन के अनुसार—**योगाभ्यासवशात्परत्वे द्रष्टे पुरुषार्थ प्राप्तिर्भवति** (सर्व० सं०, पृ० ३८९)। अर्थात् योग के अभ्यास के द्वारा परमतत्व देख लेने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा अर्थ लक्षणा विभक्तित्वात्** (जै० सू०, ४.१.२)। अर्थात् जिस कर्म से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है और जिसे करने की इच्छा स्वयं ही होती है वह पुरुषार्थ है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**सत्व पुरुषान्यता ख्याति पुरुषार्थः**। अर्थात सत्व और पुरुष को अलग-अलग समझना पुरुषार्थ है (सर्व० सं०, पृ० ७४७)। सांख्य सूत्र (१.१) में कहा गया है—**त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः**। अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। जिस प्रकार प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के लिए है उसी प्रकार करणों की प्रवृत्ति भी पुरुषार्थ है। पुरुष के अदृष्ट चैत्तिक धर्माधर्म-संस्कार क्लेशभूत कर्माशय के अनुसार यह करण प्रवृत्ति प्रवर्तित होती है। विज्ञानभिक्षु ने एक दृष्टान्त के द्वारा पुरुषार्थ की सिद्धि को प्रतिपादित करते हुए कहा है—**यथा वत्सार्थं धेनुः स्वयमेव क्षीरं स्रवति नान्यं यत्नमपेक्षते तथैव स्वामिनः पुरुषस्यकृते स्वयमेव करणानि प्रवर्तन्ते इत्यर्थः** (सां०प्र०भा०,२.३७)। आशय यह कि जिस प्रकार वत्स के लिए धेनु की अनिच्छापूर्वक प्रवृत्ति होती है,

उसी प्रकार जड़ प्रकृति भी स्वतः परिणत होकर पुरुषार्थ सिद्धि में प्रवृत्त होती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**निःशेष दुःखोपशम लक्षितं परमानन्दैक रसं च पुरुषार्थ शब्दस्यार्थः** (सर्व०सं०, पृ० ७६२) अर्थात् जिससे सभी दुःखों का समन हो जाय तथा परमानन्द का ही एकमात्र रस मिलता रहे वही पुरुषार्थ है। चार्वाक दर्शन के अनुसार—**अंगनाद्यालिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः** (सर्व०सं०, पृ० ५) अर्थात् स्त्री के आलिंगन आदि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है।

पुरुषोत्तम—गीता में ब्रह्म, परमात्मा, परमपुरुष, वासुदेव, साक्षी इत्यादि को पुरुषोत्तम का पर्यायवाची माना गया है। गीता (१५.१८) में कहा गया है कि जो पुरुष क्षर और अक्षर इन दोनों से भी परे है उसे पुरुषोत्तम कहा जाता है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

श्रीमद्भगवतगीता में परा और अपरा ये दो पुरुषोत्तम की प्रकृतियाँ है। इनमें से अपरा कनिष्ठ प्रकृति और परा श्रेष्ठ प्रकृति है।

पुर्यु ष्टक—शरीर। पुर्यष्टक शब्द पुरि (शरीर) और अष्टकम् (आठ) के योग से बना है यानि कि शरीर में आठ तत्वों का मिश्रण होने से इसे पुर्यष्टक कहा जाता है। ये आठ तत्व हैं—पंच महाभूत, पंचतन्मात्र, पाँचज्ञानेन्द्रिय, पाँचकर्मेन्द्रिय, तीन अन्तःकरण, तीन गुण, प्रधान तथा कलादि पांच तत्व। शैव दर्शन के अनुसार—**प्रलयाकलेषु येषामपक्वमलकर्मणी व्रजन्त्येते। पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात्** (सर्व० सं०, पृ० ३३८)। अर्थात् प्रलत्याकल जीवों में जिनके मल और कर्म परिपक्व नहीं; वे कर्म के वश में होकर पुर्यष्टक देह धारण करके सभी योनियों में विचरण करते रहते हैं। इस संदर्भ में आगे कहा गया है—**पुर्यु ष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः सर्गादारभ्यकल्पान्तं मोक्षान्तं वास्थितः, पृथिव्यादिकलापर्यन्तस्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः, सूक्ष्मोदेहः** (सर्व०सं०, पृ० ३३८) अर्थात् पुर्यु ष्टक उस सूक्ष्म देह को कहते हैं जो प्रत्येक पुरुष के लिए निश्चित रहती है, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल्प के अन्त तक या मोक्ष के अन्त तक स्थिर रहती है और पृथिवी आदि कला पर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित होती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि पुर्यु ष्टक मूलतः ८ तत्वों से ही युक्त होता है किन्तु उन (तत्वों) का उपभेद करने पर उनकी संख्या ३० हो जाती है।

पूरक—प्राणायाम का भेद। जिस प्राणायाम में श्वास द्वारा स्वाभाविक

प्राण की गति का अभाव होता है वह पूरक प्राणायाम कहा जाता है (व्या० भा०, २.५०)।

पूर्वत्त्व—प्रागभावत्व। पूर्वपक्ष वृत्तित्व कारण से कार्य की उत्पत्ति को क्षण का पूर्वत्त्व कहते हैं। परिस्थिति विशेष में प्रतियोगी क्रिया-जन्य संयोग पूर्वत्त्व कहलाता है।

पूर्ववत्—अनुमान-भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—**यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते पूर्ववदिति, यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति** (वात्स्या०, १.१.५)। अर्थात् जिस अनुमान में पूर्व (कारण) से कार्य का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे आकाश में मेघों को देखकर मेघोन्नति रूप कारण से वृष्टि रूप कार्य होना। वात्स्यायन पूर्ववत् का एक अन्य लक्षण करते हुए कहते हैं—**पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनऽन्यतरस्याप्रत्यक्षस्याऽनुमानं, यथा धूमेनाऽग्निरिति** (वात्स्या०,१.१.५)। तात्पर्य यह है कि जिस अनुमान में प्रथम महानस से जिस प्रकार बन्हि तथा धूम का प्रत्यक्ष हुआ था उन दोनों में से एक धूम के दर्शन से दूसरे एक न दिखने वाले बन्हि की अनुमान से सिद्धि करना अर्थात् धूम होने से पर्वत पर वन्हि है ऐसा अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्य तत्त्व कौमुदी में पूर्ववत् को बीत नामक अनुमान का भेद माना है। उनके अनुसार—**तत्रैकं दृष्टास्वलक्षणसामान्य विषयं यत्पूर्ववत् पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्, तदस्य विषयत्वेनाऽस्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमात् वन्हित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते** (सां०त०कौ०, का० ५) अर्थात् पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसा सामान्य होता है, जिसका स्वलक्षण प्रत्यक्षीकृत हुआ है। पूर्व का अर्थ है—प्रसिद्धि अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य रूप, जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है, ऐसा सामान्य जिस अनुमान का विषय है, उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे—धूम रूप हेतु के द्वारा बन्हित्व रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न विशेष वन्हि का पर्वत में अनुमान करना।

पृथवी—पृथिवी शब्द की व्युत्पत्ति पृथु धातु में "ङीष" प्रत्यय लगाने पर होती है। पृथिवी के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी भारतीय दार्शनिक एकमत हैं। इसके लक्षण के सम्बन्ध में तर्कसंग्रहकार ने कहा है—**तत्र गंधवती पृथिवी** (त० सं०, पृ० २०)। आशय यह कि पृथिवी का लक्षण है गंधवान होना। किन्तु पृथिवी में गंध के अतिरिक्त रूप, रस एवं स्पर्श ये तीन गुण और होते हैं। गंध

पृथिवी का विशेष गुण है । वैशेषिक सूत्र (२.२.२) में कहा गया है—**व्यवस्थितः पृथिव्यांगन्धः ।** तात्पर्य यह कि गंध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है । यहाँ ध्यातव्य यह है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में माने गये नौ द्रव्यों में पृथिवी एक द्रव्य है किन्तु सांख्य दर्शन में पृथिवी को पांच महाभूतों में से एक महाभूत माना गया है ।

पृथिवीकाय—इष्टकादिः पृथिवीकायः (सर्व० सं०, पृ० १५१) । अर्थात् ईंट आदि पृथिवीकाय हैं ।

पृथिवीकायिक—पृथिवी कायत्वेन येनगृहीता स पृथिवीकायिकः (सर्व० सं०, पृ० १५१) । अर्थात् पृथिवी को काय के रूप में जिसने ग्रहण कर लिया वह पृथिवी कायिक है ।

पौरुषेय—पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति, तंत्रमिति चत्वारि शास्त्राणि (का० मी०, पृ० ८) । अर्थात् पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और धर्म शास्त्र को पौरुषेय कहा जाता है । सांख्य दर्शन के अनुसार—**यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्** (सां० सू०, ५.५०) । अर्थात् पौरुषेय उसे कहा जाता है जिसके अदृष्ट होने पर भी वह बुद्धिपूर्वक रचित है ऐसा बोध ज्ञाता में उत्पन्न होता है ।

प्रकरण— प्रकरण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर होती है । जिसका सामान्य अर्थ होता है—प्रक्रिया अथवा विचार । जहाँ पर उपकारी तथा उपकारक की आकांक्षा हो उसे प्रकरण कहते हैं । जैसे—**समिधो यजति ।** भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रकरण ग्रन्थ लिखने की एक परम्परा सी रही है । अस्तु इस सन्दर्भ में भी इसके अर्थ को देखने का प्रयास करना चाहिए । प्रकरण-ग्रन्थों के सन्दर्भ में प्रकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरण नाम ग्रन्थ भेदं विपश्चितः ॥

आशय यह कि जिस ग्रन्थ में किसी एक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों में किसी एक ही विषय का प्राधानतया प्रतिपादन होता है और साथ ही सम्बद्ध शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्र विषयों का भी प्रयोजनानुसार समावेश किया गया होता है, विद्वज्जन उसे प्रकरण ग्रन्थ कहते है ।

प्रकरणसम—**प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः, साध्यविपरीत साधकं हेत्वन्तरं विद्यते** (त०भा०, पृ० १२२)। अर्थात् जब किसी हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अन्य हेतु विद्यमान होता है तब वह हेतु साध्य के साधनार्थ प्रयुक्त हेतु प्रकरणसम कहा जाता है। यहां पर कहने का आशय यह कि जब शब्द में नित्यत्व साधक एक हेतु का और अनित्यत्व साधक अन्य हेतु का एक साथ प्रयोग होता है उस समय उक्त दोनों हेतु एक दूसरे के प्रकरणसम कहे जाते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यत्व नियत धर्म रहित है तथा शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्यत्व नियत धर्म शून्य है। ये दोनों अनुमान जब एक साथ प्रयुक्त होते हैं तब अनित्यत्व का साधक नित्यधर्म रहितत्व और नित्यत्व का साधक अनित्य धर्म रहितत्व ये दोनों हेतु प्रकरणसम होते हैं।

प्रकार—सामान्य के भेद विशेष को प्रकार कहते हैं। जैसे—वैशेषिक दर्शन में मान्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, इत्यादि २४ गुण उसके (गुण)के प्रकार हैं। इसके साथ ही साथ विशेषण, उपलक्षण तथा सादृश्य से भी प्रकार का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

प्रकाश—**जड़ प्रकाशायोगात् प्रकाशः** (सां० सू०, १.१.४५)। अर्थात् ग्राह्य पदार्थों में जो ज्ञातता है वह प्रकाश है। सांख्य दर्शन की मान्यता है कि पुरुष का प्रकाश नित्य और अपरिणामी है, वह जड़प्रकाशसदृश आवरणादि युक्त नहीं है। त्रैगुणिक अन्तःकरण की चेतनता का मूल स्वप्रकाश पुरुष है। शैव दर्शन में परमसत्ता अर्थात् परमशिव को प्रकाश-विमर्शमय माना गया है।

प्रकृति—प्रकृति शब्द 'प्र' और 'कृति' इन दो शब्दों के योग से बनता है। 'प्र' का अर्थ है—प्रकर्ष। दूसरे तत्व का आरम्भ करना प्रकर्ष है। आशय यह कि जिस कारण से दूसरा तत्व उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार—**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां० सू०, १६)। अर्थात् सत्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। ये तीनों गुण ही प्रकृति के स्वरूप हैं। इनसे अलग प्रकृति का अस्तित्व नहीं है। उपनिषद् में प्रकृति को अज, नित्य एवं त्रिगुणात्मिका कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४.५) में कहा गया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

सांख्य दर्शन में प्रकृति को किसी कारण का विकार न होने से इसे अविकृति

कहा गया है। सांख्यकारिकाकार ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—**मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः** (सां० का०, ३)। प्रकृति की सिद्धि के संदर्भ में सांख्य दर्शन में कहा गया है—

> **भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।**
> **कारणकार्य विभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥** (सां० का०, १५)

अर्थात् भेदों के परिमित होने से, समन्वय से, कारण की शक्ति से, कार्य की प्रवृत्ति होने से, कारण से, कार्य के विभाग से, तथा वैश्वरूप्य का स्वकारण में अविभाग होने से प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

अद्वैत वेदान्त में प्रकृति माया रूप से वर्णित हुई है। गीता में प्रकृति के स्वरूप के विषय में कहा गया है—**सत्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।** योगदर्शन के अनुसार—प्रकृति की न तो सत्ता है और न असत्ता ही। न वह सद्रूप है और न असद्रूप है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह शशविषाण की तरह नितान्त असद्रूपा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति अव्यक्त एवं अलिंग है—**निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं अलिंगम् प्रधानम्** (व्या० भा०, २,१९)।

प्रक्रिया—**नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात्पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया** (वात्स्या०,५.१६)। अर्थात् नित्य तथा अनित्य दोनों के पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के साधक समान धर्मों को लेकर पक्ष तथा विपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने को प्रक्रिया कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण, घट के समान, ऐसा एक वादी अपने अनित्य पक्ष को प्रवृत्त करता है और दूसरा प्रतिवादी अस्पर्श-वत्तारूप समानधर्म को लेकर आकाश के दृष्टान्त से जो दूसरा पक्ष दिखाता है, उसे ही प्रक्रिया कहते हैं।

प्रणिधान—योगदर्शन के अनुसार—**मानसो वाचिकः कायिको भक्तिविशेषः प्रणिधानमिति** (यो० भा०, १.२३)। अर्थात् मानसिक, वाचिक तथा कायिक जितने भी कर्म होते हैं सब ईश्वर के अधीन करना प्रणिधान है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

> **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।**
> **यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥** (गी०, ९.२७)

अर्थात् जीव जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो स्वधर्माचरण रूप तप करता है वह सब ईश्वर में अर्पण करके करना प्रणिधान है। न्यायदर्शन के अनुसार—**सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं** (न्या० सू०, ३.२.४१)। अर्थात् स्मरण की इच्छा से मन की धारणा को प्रणिधान कहते हैं।

प्रतिज्ञा—पक्ष के साथ साध्य के संबंध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य प्रतिज्ञा है जैसे यह पर्वत बन्हिमान है। यह वाक्य पक्ष पर्वत के साथ साध्य-वन्हि-संयोगी के तादात्म्य का वन्हि के संयोग संबंध का प्रतिपादन करने से प्रतिज्ञा है (त० भा०, पृ० ३४०)।

प्रतिज्ञान्तर—निग्रह-स्थान। न्याय सूत्र (५.२.३) में कहा गया है—**प्रतिज्ञातार्थ-प्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थ निर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्**। अर्थात् वादी के प्रतिज्ञा किये गये अर्थ का प्रतिवादी के निषेध करने पर धर्म के विकल्प से उस प्रतिज्ञा के अर्थ को कहना, प्रतिज्ञान्तर निग्रह-स्थान कहलाता है। जैसे जिस प्रकार घट सर्वत्र नहीं रहता शब्द भी घट के समान सर्वत्र नहीं रहता, इस कारण घट के समान शब्द भी अनित्य है। इसमें शब्द अनित्य है यह वादी की प्रथम प्रतिज्ञा है और शब्द घट के समान सर्वत्र व्याप्त नहीं है—यही दूसरी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तर है।

प्रतिज्ञाविरोध—अपने अभीष्ट अर्थ का स्वयं खण्डन करना प्रतिज्ञाविरोध है। न्यायसूत्र (५.२.४) में कहा गया है कि **प्रतिज्ञाहेत्वोः विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः** आशय यह है कि जब वादी प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा कहे गये अर्थ के विरुद्ध अर्थ का हेतु वाक्य द्वारा कथन करता है, तब प्रतिज्ञा विरोध होता है।

प्रतिज्ञासंन्यास—निग्रह-स्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः** (न्या० सू०, ५.२.५)। अर्थात् अपने पक्ष का व्यभिचारादि दोष के निषेध करने पर प्रतिज्ञा किये गये अर्थ को छिपाना प्रतिज्ञा संन्यास निग्रहस्थान कहलाता है। वात्स्यायन के अनुसार वादी के इन्द्रिय से गृहीत होने के कारण शब्द अनित्य है, ऐसा कहने पर दूसरा प्रतिवादी कहे कि घटत्वादि जाति भी इन्द्रिय से जानी जाती है किन्तु वह अनित्य नहीं होती। शब्द भी इन्द्रिय से गृहीत होता है और अनित्य नहीं है ऐसा निषेध करे। इस प्रकार वादी के पक्ष का प्रतिवादी के निषेध करने पर पुनः वादी

उत्तर दे कि शब्द अनित्य हैं ऐसा कौन कहता है, तो वह शब्द कि अनित्यता रूप प्रतिज्ञा विषय का छोड़ना प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान कहलाता है (वात्स्या०, ५.२.५)।

प्रतिज्ञाहानि—निग्रह-स्थान। न्याय सूत्र (५.२.२) में कहा गया है—**प्रतिदृष्टान्त-धर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।** अर्थात् अपने दृष्टान्त में विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान कहलाता है। भाष्यकार वात्स्यायन इस संदर्भ में अपने मंतव्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—**साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः।** तात्पर्य यह है कि वादी के साध्य धर्म के विरुद्ध धर्म से प्रतिवादी के खण्डन करने पर विरुद्ध दृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में स्वीकार कर लेने वाला वादी अपनी प्रतिज्ञा को यदि छोड़ देता है, तो वादी को प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान होता है।

प्रतिज्ञादृष्टांतसम—जब विरोधी दृष्टान्त देकर वादी का विरोध किया जाय तब प्रतिज्ञादृष्टान्तसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४१९)।

प्रतिपक्ष—विरोधी परामर्श। न्याय दर्शन के अनुसार—**तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते** (वात्स्या०, १.१.४१)। अर्थात् किसी पक्ष के स्थापन करने को साधन तथा निषेध करने को उपालम्भ (खण्डन) कहते हैं। ये दोनों साधन तथा उपालम्भ वादकथा में उपरोक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष के आश्रय से साथ-साथ चलते हुए पक्ष-प्रतिपक्ष कहे जाते हैं। जैसे—परार्थानुमान में वादी के द्वारा 'पर्वत में वन्हि हैं,' की सिद्धि करने पर प्रतिवादी द्वारा पर्वत वन्हिमान् नहीं है, ऐसी उक्ति प्रतिपक्ष कहलाती है।

प्रतिपत्ति—फलशून्यकर्मांग विशेष प्रतिपत्ति है। यथा-श्राद्ध के प्रारम्भ में ब्राह्मण को दिये गये कुशमय द्रव्य में (संकल्प के पक्ष में) संकल्प के पूर्व जल का निक्षेपण प्रतिपत्ति है।

प्रतिबंध—न्याय दर्शन में इसे प्रतिरोध कहा जाता है। जैसे—अग्नि के प्रति मणि के सामीप्य से उसकी दाहकता का जो प्रतिरोध होता है वही प्रतिबंध है। सांख्य दर्शन में अविनाभाव व्याप्ति को प्रतिबंध कहा जाता है। सांख्य प्रवचन भाष्य (१.१००) में कहा गया है—**प्रतिबंधो व्याप्ति दर्शनाद्व्यापक-**

ज्ञानम्। अर्थात् नियत साहचर्यरूप व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्त वस्तु के दर्शन के बाद व्यापक का जो निश्चय होता है उसे प्रतिबंध कहते हैं।

प्रतिबिम्ब—अनुकरण। साहित्य दर्पण (१०.६९८) में कहा गया है—**दृष्टान्तस्तु स धर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्**। वाचस्पतिमिश्र ने तत्व वैशारदी में प्रतिविम्ब का एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है—**दर्पणगतमालिन्यस्य मुखेऽभिमानवत् बुद्धिवृन्तेस्तदारूढ़विषयस्य च बोधो भवति पुरुषस्येति बुद्धातेव चित्प्रतिविम्बो न तु चित्यपि बुद्धिप्रतिबिम्ब इति (त० वै०, १.४)**। तात्पर्य यह कि जैसे लोक में मलिन दर्पणगत प्रतिबिम्बित मुख में मलिनता का आरोप करके अविवेकी पुरुष में 'मैं मलिन हूँ' ऐसा जानकर शोक करता है वैसे ही शान्त, घोर, मूढ़ादि वृत्ति द्वारा मलिन बुद्धिरूप दर्पण में प्रतिबिम्ब चेतन अपने स्वरूप में शान्तादि अनुकूल तथा प्रतिकूल निखिल विषय वृत्तिरूप मलिनता का आरोप करके मैं शान्त हूँ, मैं घोर हूँ, मैं मूढ़ हूँ ऐसा समझकर दुःखी-सुखी हुआ करता है। अद्वैत वेदान्त में जीव एवं ईश्वर के अभेद संबंध के प्रतिपादनार्थ बिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (३.२.१८) में कहा गया है—

एक एवं हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृष्यते जलचन्द्रवत्॥

अर्थात् एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में अवस्थित होता हुआ जलगत चन्द्र प्रतिबिम्ब के समान एकधा और अनेकधा दृष्टगत होता है। प्रकाशात्म यति ने पंचपादिका-विवरण (प्रथम वर्णक, पृ० १०८) में कहा है—**तत्वमिति बिम्बस्थानीय ब्रह्मरूपता प्रतिबिम्बस्थानीय जीवस्योपदिश्यते**। अर्थात् 'तत्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव की बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता का उपदेश किया गया है।

प्रतिभा—**शक्तिः प्रतिभानम्** (ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ३४६)। अर्थात् शक्ति ही प्रतिभा है। पंडितराज जगन्नाथ ने रसगगाधर (पृ० २५) में कहा है—**तस्य च कारणं कविगता केवल प्रतिभा**। अर्थात् काव्य का कारण प्रतिभा है। अभिनव गुप्त ने तंत्रालोक में प्रतिभा को चित् अथवा विमर्श का पर्याय कहा है। उन्होंने तंत्रालोक (२.७४) में कहा है—

अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रतिप्रभोः।
तां परां प्रतिभा देवीं संगिस्ते ह्यनुत्वराम्॥

अर्थात् प्रतिभा वह है जो किसी अन्य की उपेक्षा किये बिना ही सम्पूर्ण विश्वात्मतत्व को प्रतिबिम्बित करता है या करने में समर्थ है। इसे अनुत्तरा भी कहते हैं। व्याकरण दर्शन में वाक्यार्थ को प्रतिभा कहा जाता है। वाक्यपदीयकार के अनुसार—वर्ण-पद-प्रतीति-रहित अखण्ड अन्वय वाक्य की प्रतिभा समान बौद्धिक परिणति प्रतिभा है। प्रतिभा यद्यपि असमाख्येय है फिर भी इसका अनुभव सभी को होता है। पदों का अभिधेयार्थ समान होने पर भी इसका प्रातिभ अर्थ भिन्न होता है। प्रतिभा में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीनों शक्तियों का समावेश होता है। वाक्यपदीय में छः प्रकार की प्रतिभा का उल्लेख किया गया है—

स्वभावचरणाभ्यासयोगा दृष्टोपपादिताम्।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥

(वा० प०, २.१५२)

आशय यह कि स्वाभाविकी, चरण निमित्ता, अभ्यासनिमित्ता, योगनिमित्ता, अदृष्टनिमित्ता और विशिष्टोपहिता—ये छः प्रतिभा हैं।

प्रतियोगी—यस्याभाव सः प्रतियोगी। अर्थात् जिस वस्तु का अभाव हो वह प्रतियोगी होता है। जैसे—भूतल में घट का अभाव है—में भूतल से घट का अभाव होने से घट को प्रतियोगी कहा जायेगा। न्याय दर्शन के अनुसार—**यत् केनापि सम्बन्धेन कस्मिश्चित् अधिकरणे वर्तते, तत् तस्य सम्बन्धस्य प्रतियोगी** (न्याय० वि०, पृ० २)। आशय यह कि प्रतियोगी एक सम्बन्ध में जो किसी वस्तु और उसके अभाव के मध्य स्थित है। विरुद्ध और वित्तिवेद्य-भेद से प्रतियोगी सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। दो पदार्थों में एक का भाव तथा दूसरे का अभाव विरुद्ध सम्बन्ध है। जैसे—भूतल में घट का अभाव एवं चन्द्रसदृशमुख है, में क्रमशः घट एवं मुख प्रतियोगी हैं। इसमें घट अभाव प्रतियोगी तथा मुख भाव प्रतियोगी है।

प्रत्यक्ष—प्रतिअक्षम् प्रत्यक्षम्। अर्थात् जो आपके सामने दिखाई देता है वह प्रत्यक्ष है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष को एक प्रमाण माना गया है जिसे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न होता है तथा जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक होता है (न्या० सू०, १.१.४)। नव्य नैयायिक गंगेश उपाध्याय को सूत्रकार द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा स्वीकार

नहीं है । उनके अनुसार—**प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्** । आशय यह कि साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण है । यहां ध्यातव्य यह है कि जहां प्राचीन नैयायिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का लक्षण मानते हैं वहीं नव्य नैयायिक साक्षात्कारित्व को । सांख्य दर्शन के अनुसार—**प्रति विषयाध्यवसायो दृष्टं** (सां० का०, ५)। अर्थात् विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय पर आश्रित अध्यवसाय (जो बुद्धि धर्म है) दृष्ट यानि कि प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्** (प्र० पं०) । अर्थात् प्रत्यक्ष साक्षात् प्रतीति है । प्रत्यक्ष की इस परिभाषा में मीमांसको द्वारा तीन तत्वों की चर्चा की गई है—ज्ञात वस्तु, ज्ञाता और ज्ञान की क्रिया । इसे ही त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहते हैं । जैन दर्शन के अनुसार—प्रत्यक्ष स्पष्ट ज्ञान है । हेमचन्द्र ने प्रमाणवार्तिक में इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहा है—**विशदम् प्रत्यक्षम्** । बौद्ध दर्शन के अनुसार **कल्पनापोढ़ं अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्** (न्या० वि०, १.४) । अर्थात् जिसमें कल्पना से सर्वथा खाली वस्तु का अभ्रान्तं ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**प्रत्यक्ष प्रमायाः करणम् प्रत्यक्ष प्रमाणम्** (वे० परि०, पृ० १९) । अर्थात् प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । अद्वैत वेदान्ती चूंकि प्रत्यक्ष की व्याख्या तत्वमीमांसीय आधार पर करते हैं इसलिए वहाँ यह भी कहा गया है कि—**प्रत्यक्ष प्रमायाः चैतन्यमेव यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म** (वे० परि०, पृ० १९) आशय यह कि प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है । यहाँ प्रश्न उठता है कि चैतन्य अनादि अर्थात् अकार्य है। तब चक्षुरादिकों में उसकी कारणता होने से प्रमाणत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका निराकरण करते हुए वेदान्त-परिभाषाकार कहते हैं—चैतन्य अनादि होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रियसन्निकर्ष से ही पैदा होती है । इसी से वृत्ति विशिष्ट चैतन्य आदिमत (उत्पन्न होने वाला) है, ऐसा कहा जाता है । वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रत्यक्ष की परिभाषा अलग-अलग दृष्टियों से दी है । ज्ञानगत दृष्टि से प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं—**तत्तदिन्द्रिययोग्य वर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्व** (वे०परि०,पृ० ५८) । अर्थात् प्रत्येक विषयकार वृत्ति से अवछिन्न हुए चैतन्य का प्रत्येक इन्द्रिय योग्य वर्तमान और अबाधित विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभेद वर्तमान और अबाधित विषय से अवच्छिन्न हुए चैतन्य से अभेद होना ही ज्ञानांश में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है । इसके बाद ज्ञानगत दृष्टि से इसकी परिभाषा देते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं—**घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमाप्रभिन्नत्वम** (वे०

परि०, पृ० ५९)। अर्थात् प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है। अंतः प्रयोजकत्व की दृष्टि से प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए परिभाषाकार कहते हैं—**स्वाकार वृत्युपहित प्रमातृचैतन्य सत्ताऽतिरिक्त सत्ताकत्व शून्यत्वे सति योग्यत्वं विषयस्य प्रत्यक्षत्वम्** (वे० परि०, पृ० ६९)। आशय यह कि विषय, विषयागोचर, वृत्ति (उपाधि) से उपहित प्रमातृचैतन्य रूप सत्ता से जिस विषय की सत्ता भिन्न होती है वह विषय स्वाकार वृत्युपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्त सत्ताक होता है। उसका जो भाव है उसे सत्तातिरिक्ता-सत्ताकत्व कहते हैं, उससे शून्य होते हुए प्रत्यक्ष योग्यत्व होना ही विषय के प्रत्यक्ष व्यवहार का प्रयोजक है।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने जो प्रत्यक्ष की अलग-अलग परिभाषा दी है उसका मात्र कारण सिद्धांतों की भिन्नता है। प्रत्यक्ष की परिभाषा के संदर्भ में प्रायः सभी दार्शनिकों ने इसमें 'साक्षात्कारत्व' शब्द का प्रयोग किया है, जो युक्ति पूर्ण है।किन्तु किसी-किसी ने साक्षात्कारत्व को महत्व न देकर इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान के अधिक निकट माना है, जो वस्तुतः अमान्य सिद्ध होता है। यही कारण है कि प्राचीन नैयायिकों द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा '**इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्**' का उसी सम्प्रदाय के नव्य नैयायिक खण्डन करते हैं।

प्रत्यगात्मा—**प्रत्यङ् स थात्मेति प्रत्यगात्मा**। अर्थात् जो अनात्म प्रपञ्च से अपने को विपरीत अनुभव करता है वह प्रत्यगात्मा है। वाचस्पति मिश्र के अनु-सार—**प्रत्यगात्मा अशक्यनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं निर्वच-नीयमंचति जानातीति** (भा०, पृ० ६६)। आशय यह कि जो देह, इन्द्रियादि अनिर्वचनीय प्रपञ्च से प्रतीप (विपरीत) अपने को निर्वचनीय जानता है वह प्रत्यगात्मा है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर उसका हनन कर दिया, इसलिए जीव का अन्तरात्मा बाह्य विषयों की ओर देखता है। वह अन्तस्थ आत्मा को नहीं देख पाता। अमृतत्व की इच्छा रखने वाला कोई विवेकी पुरुष ही अपने चक्षुओं को अन्तर्मुखी करता है और प्रत्यगात्मा यानि अन्तरात्मा का दर्शन करता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराम पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठ०, २.१.१)

प्रत्यनुमान—प्रतिपक्ष अनुमान। रामानुज दर्शन में कहा गया है—**प्रति-प्रयोगश्च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्, अज्ञानत्वात्, शुक्ति-काद्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिकाद्यज्ञानस्याश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्रस्वभाव-त्वमेव इति** (सर्व० सं०, पृ० १९७), अर्थात् विवाद का विषय अज्ञान विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता, क्योंकि वह अज्ञान है, जबकि ब्रह्म ज्ञान है। जिस प्रकार शुक्ति सीपी आदि के विषय में उत्पन्न अज्ञान ज्ञाता पर आश्रित है न कि ज्ञान पर, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है; उसी प्रकार मायावादियों का वह भावरूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। लेकिन मायावादी जो इस अज्ञान को ज्ञानरूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हैं, वही प्रत्यनुमान कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञा—**प्रतिमता अभिज्ञानं इति प्रत्यभिज्ञा**। अर्थात् अभिमुख होकर ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार—**लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेनभिमुखेभूते वस्तु ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते** (सर्व० सं०, पृ० ३५७)। अर्थात् लौकिक व्यवहार में यह वही चैत्र है इस प्रकार प्रतिसंधान करके सम्मुख आई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—**संस्कारेन्द्रियोभयजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा**। अर्थात् जो ज्ञान संस्कार तथा इन्द्रिय दोनों के सहकार से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जैसे यह वही घट है, जिसका मैंने पूर्व में अनुभव किया था। मीमांसा दर्शन के अनुसार—प्रत्यभिज्ञा एक तरह का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें इन्द्रियों की सहायता से संस्कार के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है (सर्व० सं०, पृ० ५४५)।

प्रत्याहार—प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ होता है इन्द्रियों का विषयों के विरुद्ध खींचना। संस्कृत व्याकरण में प्रथम अक्षर से अन्तिम वर्ण तक जोड़ने का कार्य प्रत्याहार के माध्यम से होता है। जैसे—अ इ उ ण सूत्र का प्रत्याहार अण है। इसी तरह अन्य स्थलों में भी उसी प्रकार का प्रयोग किया जाता है। योग दर्शन के अनुसार—**स्वविषयासंप्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवैन्द्रियानां प्रत्याहारः** (यो० सू०, ५.४)। अर्थात् इन्द्रियों को बाह्य विषयों से अलग कर मन को वश में रखना प्रत्याहार है। यहाँ पर यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संयम की सिद्धि प्रत्याहार के बिना नहीं हो सकती।

प्रदेशबंध—जैन दर्शन में माने गये बंधन के चार भेदों में से प्रदेश बंध एक

भेद है। जैन दर्शन के अनुसार—**कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्तप्रदेशानामात्म-प्रदेशानुप्रवेशः प्रवेशबंधः** (सर्व० सं०, पृ० १६२)। अर्थात् कर्म के रूप में परिणत पुद्गलों के जो स्कन्ध हैं, जिनके अनन्त स्थान हुआ करते हैं, उनका अपने अवयवों में प्रवेश कर जाना ही प्रदेशबंध है।

प्रधान—प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयिते सर्व जगद्यस्मिन् तत्प्रधानम्। प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान है। प्रधान की स्थिति में सत्व, रजस एवं तमस ये तीनों गुण बिलकुल बराबर रहते हैं, जिससे यह बतलाना कठिन हो जाता है कि उनमें से कौन सत्व गुण है, कौन रजस और कौन तमस। इसलिए मूल प्रकृति में तीनों तत्वों का प्रयोग न करके एक ही तत्व का व्यवहार चलता है (सर्व० सं०, पृ० ६१६)।

प्रधानजय—मधुप्रतिका सिद्धि का भेद। योग दर्शन के अनुसार—**सर्व-प्रकृति विकार वशित्वं प्रधानजयः।** अर्थात् सभी कारण तथा कार्य को वश में कर लेना प्रधानजय नामक सिद्धि कही जाती है (यो० सू०, ३.४८)। कहने का अशय यह है कि विश्व में जितने कार्य-कारणात्मक पदार्थ हैं वे सभी प्रधानजय नामक सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर योगी के अनुकूल हो जाते है।

प्रधानविधि—जो साक्षात् धर्म का कारण हो, उसे प्रधानविधि कहते हैं। इसके दो भेद हैं—वृत और द्वार।

प्रध्वंस—प्रध्वंस का सामान्य अर्थ है—विनाश। तर्क भाषाकार ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—**उत्पन्नस्य कारणे भावः प्रध्वंसाभाव** (त० भा०, पृ० ३१४)। आशय यह है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसके कारण में उस वस्तु का जो आभाव होता है वह प्रध्वंस है। जैसे—कपाल में घट की उत्पत्ति के बाद घट पर मुद्गर का अभिघात होने पर कपाल में जो घट का अभाव होता है वह घट की उत्पत्ति के बाद का कारणगत अभाव होने से घट का प्रध्वंस है।

प्रमा—प्रमियते अनेन इति प्रमा। प्रमा अवस्थाओं का यथार्थ ज्ञान है। इसमें वस्तु जैसी होती है उसका वैसा ही ज्ञान होता है; जैसे—घट को घट के रूप में जानना प्रमा है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अनुसार—प्रमा उस वस्तु की अभिव्यक्ति है जिससे किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है। यह विचार पाश्चात्य दर्शन के व्यवहारवादी सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। मीमांसकों के

अनुसार—अनधिगत ज्ञान प्रमा है। पार्थसारथी मिश्र ने शास्त्रदीपिका में कहा हैं—**यथार्थमगृहीत ग्राही ज्ञानम् प्रमा इति**। अर्थात् अग्रहीत ज्ञान का ग्रहण प्रमा है। नैयायिकों के अनुसार प्रमा किसी वस्तु का असंदिग्ध ज्ञान है। गंगेशउपाध्याय के अनुसार—**यत्रयदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा**। अन्नंभट्ट के अनुसार—**तद्वति तत्प्रकारकारकानुभवो यथार्थः**। अद्वैत वेदान्त में प्रमा को नवीन एवं अबाधित माना गया है। इस संदर्भ में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में कहा है—**अनधिगताबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्वम् प्रमात्वम्** (वे० परि०, पृ० ३)। यहां पर ध्यातव्य यह है कि जहाँ मीमांसक प्रमा को अनधिगत मात्र मानते हैं वहीं दूसरी ओर वेदान्ती अनधिगत के साथ-साथ अबाधित लक्षण भी प्रमा में स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों द्वारा अबाधित ज्ञान को प्रमा कहने का मात्र कारण यह है कि अनधिगत ज्ञान के अधार पर प्रमा का विश्लेषण करने के बाद विरोधी अनुभवों के उपस्थित होने पर प्रमा में अप्रमा हो जाने की संभावना बनी रहती है।

प्रमाण—प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्—अर्थात् जिससे कोई विषय जाना जाता है, वह प्रमाण है। वात्स्यायन के अनुसार—**उपलब्धि साधनानि प्रमाणानि** (वात्स्या०, १.१.२)। जयन्त भट्ट ने प्रमाण के लक्षण के प्रसंग में कहा कि प्रमाण कर्तृ तथा कर्म से विलक्षण जड़ तथा चेतन सामग्रियों का योग है, जो संशय तथा भ्रम से भिन्न वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार चैतन्य ही प्रमाण है। इनके अनुसार इन्द्रियां जड़ हैं इसलिए इनसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती (प्र० वा०, १.३)। बौद्ध दार्शनिक प्रमाण तथा प्रमा को अभिन्न मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार —जिसमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप को निश्चय करने का गुण हो, वह प्रमाण है। मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रमाण का लक्षण करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है कि जिससे वस्तुओं के असंदिग्ध (संशयरहित) एवं अबाधित ज्ञान की प्राप्ति होती है वह प्रमाण है—

स्तमाद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम्॥

(श्लो० वा०, चो० सू०, श्लोक ८०)

सांख्य दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का कारण प्रमाण है। ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रमाण के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है—

दृष्टमनुमानमाप्तं वचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमामिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः ।।
(सां० का०, ४)

अर्थात् असंदिग्ध, यथार्थ, निश्चित ज्ञान का साधक प्रमाण है। वेदान्त के अनुसार—**प्रमाकरणम् प्रमाणम्** (वे० पारि०, पृ० ८)। अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि नैयायिकों के अनुसार—चैतन्य एवं अचेतन दोनों प्रमाण हैं, किंतु बौद्ध केवल चेतनमात्र को प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रमा के अत्यन्त साधक को प्रमाण मानते हैं जबकि मीमांसक अनधिगतार्थ ज्ञापक को प्रमाण स्वीकार करते हैं।

प्रमाणाभास—असत् वस्तु का सत् के रूप में बोध होना प्रमाणाभास कहलाता है। प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास और अनुमानाभास इत्यादि के भेद से प्रमाणाभास कई प्रकार का होता है।

प्रमाता—ज्ञाता। न्याय दर्शन के अनुसार—**यस्येप्सा जिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता** (वात्स्या०, १.१) अर्थात् पदार्थ के प्राप्त होने की तथा त्याग करने की इच्छा से जिनकी प्रवृत्ति होती है उसे प्रमाता कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार—ज्ञान प्राप्त करने वाला चेतन पुरुष प्रमाता है। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्** (वे० परि०, पृ० ३५)। अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है। स्वामी विद्यानन्द के अनुसार—**चिदभिव्यक्ति विशिष्ट परिणामी अहंकार प्रमाता**। (वि० प्र० सं०, पृ० २४६)। अर्थात् चित्त् की अभिव्यक्ति से युक्त परिणामी अहंकार प्रमाता है। प्रकाशात्मयति के अनुसार—**अन्तःकरणस्य कर्तृत्वात् तदवच्छिन्नः प्रमाता** (पं० पा० वि०, पृ० ३०६)। अर्थात् विषय से संसृष्ट अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है। पद्मपादाचार्य के अनुसार—**अहंकर्ता स्वांशचैतन्यबलेन व्यापारविशिष्टतया च प्रमाता** (पं० पा०, पृ० ११६)।

प्रमाद—चित्त् विक्षेप का भेद। योग दर्शन के अनुसार—**समाधि साधनानामभावनं प्रमादः** (यो०सू०, १.३०) अर्थात् समाधि के साधनों का उत्साहपूर्वक प्रवृत्त न होना प्रमाद कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार—**पंचसमितित्रिगुप्तिस्वमुत्साहः प्रमादः** (सर्व० सं०, पृ० १५९)। आशय यह है कि पांच

समितियों (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, उत्सर्ग), तीन गुप्तियों (कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति) के प्रयोग का प्रयास न करना प्रमाद है।

प्रमेय—सामान्य रूप से प्रमेय का अर्थ—जो प्रमाणित किया जाये, जो निश्चय किया जाय, जो सिद्ध किया जाय, होता है। दर्शन में प्रमेय शब्द का प्रयोग प्रमा यानि कि यथार्थ ज्ञान के विषय के रूप में किया जाता है। न्याय दर्शन में प्रमेय का तात्पर्य उस प्रमा के विषय से है जिससे निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायता मिलती है। न्याय सूत्र (१.१.१६) में महर्षि गौतम ने १२ प्रमेयों की चर्चा की है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्याभाव, फल, दुःख, तथा अपवर्ग। काव्य में अवधारणा के विषय को प्रमेय कहा जाता है। सांख्य दर्शन में जो पहले से निश्चित है तथा जिसकी सिद्धि प्रमाण द्वारा होती है वह प्रमेय है। यहाँ पर मूल प्रकृति आदि २५ पदार्थों को प्रमेय माना गया है।

प्रयत्न—उत्साहः प्रयत्न (त० भा०, पृ० २६७) अर्थात् उत्साह का नाम प्रयत्न है। नित्य और अनित्य भेद से प्रयत्न दो प्रकार का होता है। ईश्वर का प्रयत्न नित्य है। प्रवृत्ति, निवृत्ति, और जीवनयोनि के भेद से अनित्य प्रयत्न तीन प्रकार का होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायः। स द्विविधो—जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च** (प्र० भा०, पृ० २१६)। अर्थात् प्रयत्न, संरम्भ और उत्साह ये पर्याय हैं। वह जीवनपूर्वक तथा इच्छा-द्वेष से उत्पन्न इस भेद से दो प्रकार का होता है। जिनमें से निन्द्रावस्था में वर्तमान प्राणी के प्राण तथा अपान वायु के गति समुदाय को प्रेरणा करने वाला और जाग्रत अवस्था में अन्तःकरण को बाह्येन्द्रियों से संयुक्त करने वाला प्रयत्न जीवनयोनि होता है। अपने ही हित की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार करने में समर्थ व्यापार (शरीर चेष्टा) का कारण और शरीर को धारण करने वाला प्रयत्न, इच्छा तथा द्वेष पूर्वक प्रयत्न कहलाता है।

प्रयोजन—प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति येन तत्प्रयोजनम्। इसका उत्पत्ति मूलक अर्थ होता है—प्रधान प्रवर्तक। जिस मूल उद्देश्य के लिए मनुष्य प्रयत्नशील होता है वही प्रयोजन प्रधान प्रवर्तक होता है।

प्रलय—इसका सामान्य अर्थ होता है—अभाव, विनाश इत्यादि। वेदान्तदर्शन में—**प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः**—अर्थात् त्रैलोक्य का नाश प्रलय है (वे० परि०;

पृ० ३१८) । यहाँ पर नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक एवं आत्यन्तिक भेद से प्रलय का चार प्रकार बतलाया गया है । रामानुज के अनुसार— **जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः** (सर्व० सं०, पृ० २५५) । यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह कि जिसमें नाम और रूप का निश्चय नहीं हो सके, संसार का इस रूप में प्रत्यावर्तन प्रलय है । योग दर्शन के अनुसार—**तदेतेषु प्रलीनेष्ठ निरूपप्लव विवेक ख्यातिपरिपाकवसात् कार्य कारणात्मकानां प्रधाने लयः** (सर्व० सं०, पृ० ७३६-३७) । आशय यह कि क्लेश बीज कर्माशयों के प्रलीन हो जाने पर, उपद्रवों से रहित प्रकृति-पुरुष में भेदज्ञान के परिपाक के कारण, कार्य और कारण के रूप में विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकृति में लय हो जाना प्रलय है । सांख्य दर्शन में प्रकृति की निवृत्ति को प्रलय कहा जाता है । सांख्यकारिका में कहा गया है—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥

(सां० का०, ५९)

अर्थात् जिस प्रकार कोई नर्तकी रंगस्थ (नाट्यास्थान स्थित) दर्शकों के समक्ष नृत्य कर चुकने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित करने के बाद जो निवृत्ति होती है, वही प्रलय है ।

प्रलयाकल—शैव दर्शन में जीव का भेद । जैन दर्शन के अनुसार —**प्रलयेन-कलादेरूपसंहारामल कर्मयुक्तः प्रलयाकलः** (सर्व० सं०, पृ० ३३५) । अर्थात् जिसमें मल एवं कर्म दो पास रहते हैं तथा जिसका प्रलय के द्वारा शरीर के प्रयोजक का विनाश होता है उसे प्रलयाकाल जीव कहते हैं । प्रलयाकाल जीव दो प्रकार का होता है ।

प्रवर्तना—**प्रवृत्ति हेतुत्वं प्रवर्तना** (न्या० सू०, १.१.८८) अर्थात् प्रवृत्ति होने का कारण प्रवर्तना है । वात्स्यायन ने इस सूत्र में प्रवर्तना शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—राग-द्वेष तथा मोह नामक दोष ज्ञाता को पुण्य अथवा पाप कर्मों से प्रवृत्त कराते हैं । कारण यह कि जहाँ संसार बन्धन का मूल कारण मिथ्याज्ञान से होता है वहाँ राग तथा द्वेष दोनों होते हैं । राग तथा द्वेष मोह ज्ञान से उत्पन्न होकर पुण्य-पाप कर्मों के करने में प्रवृत्त होने वाले प्राणियों को प्रवृत्त करते हैं । उन दोनों का धर्म है—प्रवर्तना, जो मोह के आधार पर आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहती है । इससे यह सिद्ध होता है कि फल को विषय करने वाले उसी के आधार में वर्तमान प्रवर्तना कहलाती है ।

प्रवृत्ति—इसका सामान्य अर्थ होता है—प्रयत्न करना। न्याय सूत्र (१.१.३) में कहा गया है—**प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः** अर्थात् वाणी, मन तथा शरीर का व्यापार प्रवृत्ति है। पुण्य और पाप रूप से यह दो प्रकार की होती है।

प्रशंसार्थवाद—फलवाद लक्षणा। फल के कथन स्वरूप जो मनुष्य की कर्म में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति होने के लिए कर्म की प्रशंसा की जाती है उसे प्रशंसारूप अर्थवाद कहते हैं। जैसे—देवताओं ने यागकर सम्पूर्ण दैत्यों को पराजित कर जो सम्पूर्ण कामना प्राप्त की, उसे प्रशंसार्थवाद के नाम से जाना जाता है।

प्रश्न—नाम, उद्देश्य आदि की जिज्ञासा को प्रश्न कहते हैं। जैसे—आपका क्या नाम है? आपका यहाँ आगमन किस उद्देश्य से हुआ है? प्रश्न कहलाता है। वैयाकरणभूषणसार दर्पण में कहा गया है—**उत्तर प्रयोजिकेच्छ प्रश्नः**। अर्थात् उत्तर जानने की इच्छा को प्रश्न कहते हैं।

प्रश्वास—**यत्कौष्ठयं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः** (यो० सू०, १.३१)। अर्थात् जो काम बिना इच्छा के भीतर के वायु को बाहर निकालता है वह प्रश्वास कहलाता है।

प्रसक्ति—सांख्य दर्शन के अनुसार—**प्रसक्तिः मुक्तस्यापि बन्धापत्तिरित्यर्थः** (सां० प्र० भा०, १.५३)। अर्थात् मुक्तजीव का पुनः बन्धन युक्त होना प्रसक्ति है।

प्रसंग—बौद्ध दर्शन के अनुसार—**यद्यदा यंजननासमर्थं तत्तदा तन्नकरोति यथा शिलाशकलमंकुरम्। असमर्थाश्चायं वर्तमनार्थ क्रियाकारण कालेऽतीताना-गतयोरर्थ क्रियायोरिति प्रसंगः** (सर्व० सं०, पृ० ५४)। अर्थात् एक समय में जो पदार्थ जिस किसी दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करने में असमर्थ है उस समय वह उसे उत्पन्न नहीं करता। जैसे—पत्थर का टुकड़ा अंकुर को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि पत्थर के टुकड़े में असमर्थता है। यह (बीजादिभाव) अर्थक्रिया करने के समय अतीत और अनागत की अर्थ की क्रियाओं को करने में असमर्थ है, उसे ही प्रसंग कहा जाता है।

प्रसंगविपर्यय—**यद्य यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थ यथा सामग्री स्वीकार्यं। करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थ क्रिये भाव इति प्रसंगव्यत्ययो**

विपर्ययः (सर्व० सं०, पृ० ५४)। अर्थात् एक समय में जो जिसे उत्पन्न करता है, वह उस समय में उसके लिए समर्थ है, जैसे कारणों की पूरी सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिए। यह भाव अतीत और अनागत काल में उस समय में चलने वाली अर्थक्रियाओं को उत्पन्न करता है। इसलिए वह इनके लिए समर्थ है। इस प्रकार प्रसंग का उल्लंघन करने वाला उसका विपर्यय कहलाता है।

प्रसंगसम—जहाँ वादी की उक्ति को रोकने के लिए वादी के द्वारा दिए गए साधन (हेतु) की सिद्धि के लिए पुनः दूसरे साधन की आवश्यकता बतलाई जाती है। पुनः उस साधन की सिद्धि के लिए दूसरे साधन की सिद्धि—इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग लाया जाता है, वहां प्रसंगसम होता है। (सर्व० सं०, पृ० ४७९)।

प्रसारण—कर्म। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**आकुंचनविपर्ययेण संयोग-विभागोत्पत्तौ येन कर्मणावयवी ऋजुः सम्पद्यते तत्प्रसारणम्**(प्र०भा०, पृ०२४४)। अर्थात् किसी अवयवि द्रव्य के आकुंचन के विपरीत अर्थात् अग्रिम अवयवों को मूलप्रदेश से विभाग तथा उत्तरदेश से संयोग होने में कारण कर्म को, जिससे वह अवयवि द्रव्य सीधे आगे के प्रदेश में फैल जाता है, उसे प्रसारण कर्म कहते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—अपने आश्रय को फैलाने वाली क्रिया प्रसारण कहलाती है।

प्रसुप्ति—क्लेश का अवान्तर भेद। योग दर्शन के अनुसार—**प्रसुप्तत्वं प्रबोध सहकार्यभावेनानभिव्यक्तिः** (सर्व० सं०, पृ० ६९४)। तात्पर्य यह कि जो प्रबोध (जाग्रत) करने वाले सहकारी के अभाव में अभिव्यक्त नहीं होता, उसे प्रसुप्ति क्लेश कहते हैं। यह क्लेश बालकों और प्रकृतिलय योगियों को होता है।

प्राकृत—वेदान्त दर्शन में प्रलय का भेद। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है—**प्राकृत प्रलयस्तु कार्य ब्रह्मविनाशं निमित्तकः समूलकार्य नाशः** (वे० परि०, पृ० ३२)। आशय यह कि प्राकृत प्रलय का अर्थ है कार्य ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) के विनाश से होने वाला समस्त कार्यों का नाश।

प्राग्भाव—अभाव-भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—**अनित्यो नादितमः प्राग्भावः** (सर्व० सं०, पृ० ४४४)। अर्थात् जो अनित्य तथा सर्वाधिक अनादि

होता है वह प्रागभाव है। जैसे—घटोत्पत्ति के पूर्व घट का अभाव कब से है, यह नहीं बतलाया जा सकता, अस्तु यह प्रागभाव है। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरुत्पत्तेः पूर्वं योऽभावः, स प्रागभावः स भविष्यतीति प्रतीतिविषयः (वे०परि०, पृ० २७९)। अर्थात् कार्य उत्पन्न होने के पूर्व उसका (कार्य का) जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। जैसे—घटरूप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व जो घटाभाव है, वह घट-प्रागभाव है। प्रागभाव कार्य के उपादान कारण में रहता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति (यह कार्य होगा)—इस प्रकार से मृत्पिण्ड में ही होती है। उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए प्रागभाव को स्वीकार करना पड़ता है।

प्राण—वायु का भेद। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०.८.५) में "**प्राणो हृदये**" कहकर प्राण वायु का स्थान हृदय बताया गया है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (१.१.२३) में कहा गया है—वायु विकारस्य पंचवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तेतम्। आशय यह कि वायु के विकार को प्राण कहते हैं। यहां ध्यातव्य यह है कि अद्वैत वेदान्त में प्राण को वायु से भिन्न माना गया है। उनके अनुसार प्राण वायु नहीं और उसी प्रकार का कारणों का व्यापार भी नहीं है। कारण यह कि वाणी आदि इन्द्रियों का अनुक्रम कर तत्-तत् प्रकरण में प्राण का प्रथम अनुक्रम है एवं वृत्ति और वृत्तिमान का अभेद है। कठोपनिषद् के (२.३.२) में कहा गया है कि परमेश्वर जो सभी जीवों का हेतु है—वह प्राण है—

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवति ॥

वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**शरीरान्यः संचारी वायुः प्राणः** (त०सं०,पृ०१३)। तात्पर्य यह कि वायु रूप ही प्राण है। सांख्य दर्शन में तीनों अन्तःकरण (महत्, अहंकार, मन) का सम्मिलित व्यापार प्राण आदि पांच वायु हैं (सां० सू०, २.३१)। इसी बात को सांख्यकारिकाकार ने स्पष्ट करते हुए कहा—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैवा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्रणाद्या वायवः पञ्च ॥

(सां० का०, ९)

योग दर्शन के अनुसार—**समस्तेन्द्रियवृत्ति प्राणः** (यो० भा०, ३. ३९)। अर्थात् सभी इन्द्रियों की जो वृत्ति है, उसे प्राण कहा जाता है। जैसे एक तुष (धान का

भूसा) में अग्नि लगाने से ज्वाला उत्पन्न नहीं होती है किन्तु तुषराशि में अग्नि लगाने से ज्वाला उत्पन्न होती है वैसे ही एक इन्द्रिय वृत्ति से जीवन यानी कि प्राण आदि की क्रिया उत्पन्न नहीं होती है किन्तु समस्त इन्द्रिय वृत्ति से प्राण आदि की क्रिया उत्पन्न होती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि योग दर्शन में आन्तरिक एवं बाह्य भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं। इनमें से चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ हैं एवं बुद्धि, अहंकार तथा मन आन्तरिक इन्द्रिय हैं। आन्तरिक इन्द्रियों की जो साधारण वृत्ति हैं वही प्राण है। यदि बाह्य इन्प्रियों की वृत्ति को प्राण माने तो सुषुप्ति में बाह्य इन्द्रियों के लय होने पर जो प्राण-व्यापार प्रतीत होता है वह नहीं होना चाहिए। अतः बाह्य करण वृत्ति इन्द्रिय प्राण नहीं है।

प्राणायाम्—योग दर्शन के अनुसार—**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः** (यो० सू०, ४६)। आशय यह कि आसान के सिद्ध हो जाने पर बाह्य वायु का भीतर प्रवेश श्वास, उदर में स्थित वायु को बाहर निकालना प्रश्वास—इन दोनों की स्वाभाविक गति का विच्छेद—यानि की श्वास-प्रश्वास दोनों का अभाव प्राणायाम कहा जाता है। योग दर्शन में रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से तीन प्रकार के प्राणायाम हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या इनके क्रम में देखा जा सकता है। शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति (११८) में कहा है—

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तिनां प्राणायामः स उच्यते॥

अर्थात् चित्त आदि समस्त जागतिक पदार्थों में ब्रह्मरूपता की भावना करते रहने से जो सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है, वही प्राणायाम कहलाता है।

प्रातिपादिक—शब्द। प्रत्येक शब्द का कुछ नियत अर्थ होता है। पा० सू०, (१.२.४५) में कहा गया है—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिहादिकं**। अर्थात् धातु प्रत्यय और प्रत्ययान्त के अतिरिक्त कोई भी शब्द जो अर्थयुक्त हो, वह प्राति-पादिक होता है।

प्रातिभ—योग दर्शन के अनुसार—**प्रतिभ नाम तारकम्** (यो० सू०, ३.३३)। अर्थात् तारक ज्ञान को प्रातिभ कहते हैं। यह तारक ज्ञान उदयाभिमुख बिवेक-

जन्य ज्ञान का पूर्वरूप है अर्थात् ज्ञापक चिन्ह है। जैसे—सूर्य के उदयकाल में सूर्य की प्रभा सूर्य का पूर्वरूप है अर्थात् ज्ञापक चिन्ह है, वैसे ही उदय अभिमुख विवेक-जन्य-ज्ञान का वह प्रातिभज्ञान पूर्वरूप है। उस प्रातिभ ज्ञान से योगी भूत, भविष्य एवं वर्तमान रूप तीनों काल के पदार्थों को जान जाता है। अतः उस प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर योगी सर्वज्ञ हो जाता है।

प्रातिभासिक—सत्ता भेद। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—

लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेऽवधौ।
तत्प्रातिभासिकं सत्वं बाध्यं सत्येव मातरि॥

आशय यह कि व्यवहार दशा में जो वस्तु लौकिक प्रमाणों से बाधित हो जाये उसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। जैसे रजतादि। रजतादि की सत्ता का व्यवहार काल में बाध हो जाता है। अतः इनकी सत्ता प्रातिभासिक कही जायेगी।

प्राप्तिसम—जिसमें हेतु और साध्य के सहचार सम्बन्ध पर आधारित वाद का विरोध उसी प्रकार के वाद से किया जाय वहाँ प्राप्तिसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४७८)।

प्रामाण्य—यथार्थ अनुभव के रूप में जो प्रमाण होता है उसी में रहने वाले धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—प्रामाण्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब ज्ञान को उत्पन्न करने वाले सभी साधन विद्यमान हों (सर्व०सं०, पृ० ५७८)। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**ऐनैव यद ज्ञान गृह्यते तेनैव तदगतं प्रामाण्यमपि न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्यप्रमाणस्य ग्राहकम्** (त० भा०, पृ० १७०)। अर्थात् जिस साधन से जो ज्ञान ज्ञान होता है उसी साधन से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञात होता है। ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक ज्ञान से भिन्न नहीं होता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय प्रामाण्य का कारण स्वयं प्रामाण्य को ही समझते हैं और कुछ लोग इसका कारण किसी अन्य साधन (अनुमानादि) को समझते हैं। यदि प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है तब वह स्वतः है और यदि किसी दूसरे साधन से उत्पन्न होता है तो वह परतः है। यहाँ पर सांख्य और मीमांसा दर्शन प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं तथा नैयायिक एवं बौद्ध दार्शनिक परतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

प्रारब्ध—कर्म। वह कर्म जिसका भोगना शुरु हो गया है प्रारब्ध कर्म कहलाता है। प्रारब्ध कर्म के विषय में कहा जाता है कि **प्रारब्ध कर्मणः**

भोगादेव क्षयः—अर्थात् प्रारब्ध कर्म फल का उपभोग प्रारम्भ होने से शरीर का जन्म होता है। जो कर्म प्रारम्भ हो गया है उसे भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल पाता। ब्रह्मसूत्र शाँकर भाष्य (४.१.१५) में कहा गया है कि जिस प्रकार एक बार कुम्हार का चक्र घुमा दिये जाने पर उसकी गति का अन्त होने तक वह घूमता रहता है, उसी तरह प्रारब्ध कर्मों की अवस्था होती है। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य जितने कर्म हैं उनका क्षय तो ज्ञान के द्वारा संभव है किन्तु प्रारब्ध कर्म को बिना भोगे उससे छुटकारा नहीं मिलता है। गीता (४.३७) में कहा गया है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि (प्रारब्ध कर्म के अतिरिक्त) सभी कर्मों को भस्म कर देता है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्म सात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

न्याय दर्शन के अनुसार—प्रारब्ध कर्म उस कर्म समूह को कहा जाता है जिसके फल भोग के लिए प्राणी को एक शरीर की प्राप्ति होती है। उस कर्म का फलभोग जब तक पूरा नहीं हो जाता तब तक प्राणी का उस शरीर में जीवित रहना आवश्यक होता है (त० भा०, पृ० २९७)। न्यायमुक्तावलीकार का भी यही मत है जिसकी चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है--

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि ॥

प्रार्थना—प्राप्ति इच्छा प्रार्थना। अर्थात् प्राप्त करने की इच्छा प्रार्थना है। तांत्रिक मुद्रा विशेष को प्रार्थना कहते है। उनके अनुसार—

प्रसृतांगलिको हस्तौ मिथः क्लिष्टौ च सम्मुखे।
कुर्यात्स्वहृदये सेयं मुद्रा स्यात्प्रार्थनाभिधा ॥

प्रेत्यभाव—यह शब्द प्रेत्य और भाव दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका क्रमशः अर्थ होता है—मरकर उत्पन्न होना। मुक्त न होने तक जो जीव उत्पन्न होता है और मरता है उसे ही प्रेत्यभाव कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे पुनर्जन्म के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। पुनर्जन्म शब्द की व्याख्या इसके क्रम में देखा जा सकता है। आचार्य शंकर भज गोविन्दम् में जो

पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम् की बात कही है वह प्रेत्यभाव के अर्थ में ही है। न्याय भाष्य (१.१.१९) में कहा गया है—**उत्पन्नस्य क्वचित्सत्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः**। आशय यह कि पुण्य तथा पाप कर्म के अनुसार किसी योनि में उत्पन्न होने के पश्चात् उस शरीर का सम्बन्ध छोड़कर अर्थात् मरकर पुनः किसी योनि में उत्पन्न होने को प्रेत्यभाव कहते हैं।

फ

फल—न्याय दर्शन के अनुसार—**फल पुनर्भोगः** (त० भा०, पृ० ३२९)। अर्थात् फल का अर्थ है—भोग। भोग का अर्थ है—साक्षात्कार। जीवात्मा में सुख-दुःख का उदय होने पर मन से उसका साक्षात्कार होता है। सुख-दुःख का उदय विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने पर होता है। यह विषयेन्द्रिय प्राणी के जीवनकाल में ही होता है। प्राणी के जीवन का अर्थ है सेन्द्रिय, समनस्क, सप्राण, शरीर के साथ आत्मा का विलक्षण सहयोग। उसके पूर्व कर्मों से सम्पन्न होता है। इस प्रकार फल पूर्व कर्मों का ही परिणाम है। जैन दर्शन में भी फल का तात्पर्य कर्मों के परिणाम से ही है। इनकी मान्यता है कि कर्म का फल परम्परा से उसी संतान में स्थिति व्यक्ति को मिलता है दूसरे को नहीं। उनके अनुसार—

यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तया यथा॥

(सर्व० सं०, पृ० १०८)

आशय यह कि जिस संतान या परम्परा में कर्म की वासना लगा दी जाती है, फल भी उसी परम्परा में मिलता है। जैसे कपास में लाली होती है। यदि लाली बीज में दी गयी है तो वह उसी के फल रुई में पहुँचेगी, आम या लीची में नहीं।

ब

बद्ध—रसेश्वर दर्शन में पारद का स्वरूप। रसेश्वर दर्शन के अनुसार—

अक्षतस्य लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्ध सूतस्य लक्षणम् ॥

(सर्व० सं०, पृ० ३८१)

अर्थात् जो क्षय रहित, थोड़ा द्रवित होने वाला, तेजोमय, स्वच्छ, गुरु (भारी), तथा पुनः आवृत्तिकाल (संस्करण करने के समय में) विकसित होने वाला है, वह बद्ध पारद है।

बन्ध—आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध होना बन्ध कहलाता है। जैन दार्शनिक उमा स्वामी ने तत्वार्थसूत्र (८.२) में कहा है—**सकषायत्वाज्जीवः कर्मभाव योग्यान्पुद्गलानद त्ते स बन्धः।** अर्थात् बन्ध वह है जिसमें कषाय के कारण जीव कर्मों के भाव के अनुकूल पुद्गलों का ग्रहण करता है। जैन दर्शन के अनुसार बन्ध का लक्षण करते हुये सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है—जब मिथ्या दर्शन अविरति प्रमाद तथा योग के कारण आत्मा उन पुद्गलों का आदान (आलिगन) करती है तो पुद्गल अपने सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, अनन्त स्थानों में निवास करते हैं तथा अपने पूर्वकृत कर्मों के बन्धन में पड़ने लायक होते हैं इसी क्रिया का नाम बन्ध है। बन्ध के संदर्भ में यहाँ पर आगे कहा गया है—**अन्योन्यं प्रदेशानुप्रवेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः** (सर्व० सं०, पृ० १६०)। अर्थात् आत्मा और शरीर द्वारा परस्पर एक दूसरे के प्रदेश में प्रवेश करने पर अविभक्त रूप से रहना बन्ध है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**बन्धो विपर्ययात्** (सां० सू०, ३.१४)। अर्थात् विपर्यय ही बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह कि जब तक विपर्यय ज्ञान का संस्कार चित्त में रहेगा तब तक संसृतिप्रवाह चलता रहेगा। इस दृष्टि से विपर्यय को जीवबन्ध का कारण कहा गया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**सवासनक्लेशकर्माशयानां च बंधन संविज्ञाततनां पुरुषे परिणामित्य संभावात्** (सां० त० कौ०, का० ६)। तात्पर्य यह है कि वासना तथा क्लेश के सहित कर्माशयों का ही नाम बन्ध है। यह अपरिणामी पुरुष में केवल आरोपित होता है। जैसे विजय और पराजय अधीनस्थ भृत्य की होने पर भी स्वामी में आरोपित होती है, क्योंकि स्वामी

के आश्रय से ही तदधीन भृत्य जय-पराजय के कार्यों में भाग लेते हैं और लाभ, शोक आदि फल स्वामी से सम्बद्ध होते हैं अद्वैत वेदान्त के अनुसार—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वाभाव वाले आत्म तत्व का अज्ञानावरण ही बन्ध है। मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि (१.१०३) में कहा गया है—

अविद्याऽस्तमयो मोक्षस्या संसार उदाहृता।
विधैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते ॥

अर्थात् अनादि अविद्या ही संसार यानि कि बन्ध है और शान्त स्वरूपा विद्या उसकी निवृत्ति है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्य सिद्धि (१.७) में कहा है—**साऽविद्या संसृतेर्बीमजं तन्नाशो मुक्तिरात्मनः।** आशय यह कि अविद्या बंध का बीज है।

बहिरिन्द्रिय—शब्दादिबाह्यविषयग्राहकमिन्द्रियम् बहिरिन्द्रिलक्षणं च घ्रणाद्यन्यान्यत्म् (गौ० वृ०, १.१.१२)। अर्थात् शब्दादि यानि कि शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गंध, आदि बाह्य विषय के ग्राहक इन्द्रिय को बहिरिन्द्रिय कहा जाता है। ये इन्द्रिय क्रमशः—श्रोत्र, जिह्वा, चक्षु, त्वचा एवं नाशिका हैं। न्याय सूत्र (१.१.१२) में कहा गया है—**घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि भूतेभ्यः** अर्थात् घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक तथा श्रोत्र आदि पांच बहिरिन्द्रिय हैं जो शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गंध आदि बाह्य विषयों के ग्राहक हैं। यह बहिरिन्द्रियाँ पृथिवी आदि पांच महाभूतों से उत्पन्न होती हैं।

बाध—जिसके साध्य का अभाव प्रमाणान्तर द्वारा पक्ष में अवधारित हो उसे बाध कहते हैं। जैसे—"अग्नि अनुष्णः, कृतकत्वात्, जलवत्" इस अनुमान में कृतकत्व हेतु बाधित विषयक है, क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में उष्णता का उपलम्भ होने से यह सिद्ध है कि कृतकत्व हेतु के साध्य अनुष्णत्व का अभाव उष्णस्पर्श अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से अवधारित है।

बुद्धि—बुद्धि शब्द की व्युत्पत्ति बुध धातु में 'क्तिन' प्रत्यय करने पर होती है जिसका सामान्य अर्थ ज्ञान, समझ, प्रतिभा इत्यादि होता है। पाश्चात्य दर्शन में इसे कागनेशन कहते हैं। वैशेषिक सूत्र एवं न्याय सूत्र में बुद्धि, उपलब्धि एवं ज्ञान को पर्यायवाची माना गया है। न्याय दर्शन के अनुसार—**अर्थ प्रकाशको बुद्धिः** (त० भा०, पृ० २१)। अर्थात् अर्थ के प्रकाशक का बुद्धि कहते हैं। सांख्य दर्शन में बुद्धि को प्रकृति का कार्य माना गया है। वेदान्त दर्शन में बुद्धि को ब्रह्म का कार्य स्वीकार किया गया है। यहाँ ध्यातव्य यह है

कि सांख्य बुद्धि को ज्ञान का साधन मानता है जबकि न्याय दर्शन बुद्धि को ज्ञान का गुण मानता है।

बोधन—योग दर्शन में मंत्र संस्कार का भेद। योग दर्शन के अनुसार—

> विलिख्य मंत्रवर्णास्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
> मंत्राक्षरेणसंख्यातैर्हन्यात्तद्बोधनं स्मृतम्॥ सर्व सं० पृ०, ७१०

आशय यह कि मंत्र के वर्णों को लिखकर करवीर (कनेर) के फूलों से मंत्र के अक्षरों की जितनी संख्या हो उतने बार मारना बोधन है।

ब्रह्म—इस शब्द की व्युत्पत्ति वृह् धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—बढ़ना या विस्तार को प्राप्त होना। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ में की गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य (२.७) में कहा गया है बृहत्तामत्वाद् ब्रह्म। छान्दोग्योपनिषद् (३.१४.१) में कहा गया है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति। इन दोनों श्रुति वाक्यों से यह प्रतिपादित किया गया है कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, स्थित होते हैं, तथा विनाश को प्राप्त करते हैं वह ब्रह्म है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह ब्रह्म पूर्ण है और यह जगत भी पूर्ण है। पूर्ण का उद्गम हो जाने पर भी वह पूर्ण ही शेष रहता है—

> पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (शत० ब्रा०, १४.७.४)

बृहदारण्यकउपनिषद् (२.३.६) के अनुसार—अव्यक्त होने के कारण ब्रह्म को यह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं इस प्रकार का निर्देश होता है। मैत्रेयण्युपनिषद् में कहा गया है कि जैसे—आकाश आदि पंचमहाभूत घट आदि द्रव्यों में ऊँचे-नीचे, स्थूल, सूक्ष्म, दीर्घ और ह्रस्व आदि अनेक रूपों में प्रवेश करते हैं वैसे ही ब्रह्म सबका कारण होने से, प्रत्यक्ष न होने से निर्गुण है किन्तु लीला के लिए वह सगुण रूप भी धारण कर लेता है—

> अथ यथोर्णनाभिस्तन्तुनोर्ध्वमुत्क्रान्तोऽवकाशं लभतीत्येवं।
> वावखल्वसावभिध्यातोमित्यनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तः स्वातन्त्र्यं लभते।

श्रीमद्भगवत गीता में कहा गया है कि ब्रह्म विभाग रहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में पृथक-पृथक के सदृश स्थित होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा विष्णु रूप से भतों का धारण पोषण

करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है। वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोध स्वरूप और जानने के योग्य, तत्त्वज्ञान से प्राप्त होने वाला सबके हृदय में स्थित है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णुप्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्वधिष्ठितम्॥

अद्वैत वेदान्त के अनुसार—अस्य जगतो नामरूपाभ्याम् व्याकृतस्यानेककर्तृ-भोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिफनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा व्यचिन्त्य-रचस्वरूपस्य जन्मस्थिति भंग यतः सर्वज्ञातसर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्मः (ब्र० सू० शां० भा०, १.१.२) अर्थात् जो नाम रूप से अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओं से संयुक्त हैं, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है एवं मन से भी अचिन्त्य रचनारूप वाले इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से होती है वह ब्रह्म है। ब्रह्म की अद्वैतता को प्रतिपादित करते हुए अचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहते हैं—एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुर-स्तीति (ब्र० सू० शां० भा०, १.३.१९)। अर्थात् एक ही परमेश्वर कूटस्थ, नित्य विज्ञानरूप; अविद्यारूपी माया से मायावी के समान अनेक हुआ जैसा प्रतीत होता है, उससे अन्य विज्ञानस्वरूप कोई वस्तु नही है। आगे ब्रह्म के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं—वांगमन-सातीतमविषयान्तः पातिः प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति (ब्र० सू० शां० भा०, ३.२.२२)। आशय यह कि ब्रह्म वाणी और मन से अतीत है, इससे वह विषयों के अन्तर्भूत नहीं है, अतः प्रत्यगात्मरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। रसेश्वर दर्शन के अनुसार—

परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिः स्वभावविकल्पम्।
विगलितसकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्वसंवेद्यम्॥

(सर्व० सं०, पृ० ३८९)

अर्थात् परम आनन्द की प्राप्ति कराने वाला, एक अद्वैत रस से परिपूर्ण,

ज्योति ही जिसका स्वरूप है, जिसमें किसी विकल्प का कोई स्थान नहीं, जिससे सभी क्लेश निकल जाते हैं, जो ज्ञान को विषय है, शान्त है, अपने में ही अनुभव की वस्तु है वह ब्रह्म है।

रामानुज के अनुसार जो सभी त्याज्य गुणों के विरोधी रूप में रहता है, जो सत्य संकल्प आदि अनन्त अतिशयों से युक्त है, असंख्य कल्याणकारी गुणों की भण्डार है, सर्वज्ञ है, तथा सर्वशक्तिमान है, जिससे सृष्टि स्थिति तथा प्रलय होता है वह ब्रह्म है। रामानुज ब्रह्म को निर्गुण नहीं मानते हैं। उन्होंने ब्रह्म को सगुण ईश्वर के रूप में माना है। यद्यपि ब्रह्म एक है किन्तु चित् और अचित् विशेषणों से वह युक्त है। वेदार्थ संग्रह (पृ० १७) में कहा गया है कि तद्यपि ब्रह्म एक है किन्तु अव्यक्त अवस्था में वह कारण ब्रह्म है और व्यक्त अवस्था में कार्यब्रह्म है। वैयाकरण भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म माना है उनके अनुसार—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्।
विवर्तते अर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अर्थात् ब्रह्म अनादि है शब्दरूप है तथा उस शब्द रूप ब्रह्म से विवर्त्त रूप से इस जगत की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्मचर्य—सामान्य रूप से कामवासना का परित्याग ब्रह्मचर्य है, किन्तु शास्त्रों में इसकी व्याख्या और अधिक सूक्ष्मता से प्रस्तुत की गई है। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—**ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियोपस्थस्य संयमः।** आशय यह है कि जिसने अपनी इन्द्रियों को गुप्त यानि की वश में कर लिया है—ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्ति का अपनी उपस्थितेन्द्रिय को नियन्त्रण में रखना ब्रह्मचर्य है। शास्त्रीय ग्रन्थों में ८ प्रकार के मैथुन परित्याग को ब्रह्मचर्य माना गया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

ब्रह्मजिज्ञासा—अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा** (ब्र० सू० शां० भा०, १.१.१)। अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा करने को ब्रह्म-जिज्ञासा कहते हैं। इस संदर्भ में शंकराचार्य का मत है—**ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेष संसार बीजाविद्याधनर्थनिबर्हणात्। तस्मात् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्** (ब्र० सू० शां० भा०, १.१.१)। अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार ही

परमपुरुषार्थ है, क्योंकि उससे निःशेष संसार के बीजभूत अविद्या आदि अनर्थों की निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। रामानुज के अनुसार—**तापत्रयातुरैरमृतत्वाय पुरुषोत्तमादिपदवेदनीयं ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं भवति** (सर्व० सं०, पृ० २३३)। अर्थात् तीन तापों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) से व्याकुल पुरुषों को अमरत्व की प्राप्ति के लिए पुरुषोत्तम आदि शब्दों के द्वारा बोधित ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

ब्रह्मसूत्र—जिसमें थोड़े से शब्दों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से परब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन एवं उसकी उपासना एवं ज्ञान के फल का निरूपण किया गया है वह ब्रह्मसूत्र है। शंकराचार्य के अनुसार—**वेदान्तवाक्यकुसुमग्रंथनार्थत्वाद् ब्रह्मसूत्राणाम्**। अशय यह कि जैसे सूत्र से पुष्पों को गूथकर सुंदर माला बनाई जाती है वैसे ही ब्रह्मसूत्र के द्वारा वेदान्तवाक्य रूपी कुसुमों का ग्रन्थन कर ब्रह्मसूत्र रूपी माला का निर्माण किया गया है।

ब्राह्मण—**ब्राह्मणात्मको वेदः** अर्थात् ब्राह्मण वेद का भाग है। आपस्तम्ब (१.१.३२) में कहा गया है—**कर्म चोदना ब्राह्मणानि**। अर्थात् याज्ञिक कर्मों का विस्तार पूर्वक वर्णन करने वाला ब्राह्मण कहलाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मण शब्द**, (जै०सू०, २.१.३३)। अर्थात् जो मंत्र नहीं है यानि की मंत्र के अतिरिक्त भाग को ब्राह्मण कहते हैं। सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में कहा है—

> **हेतु निर्वचनं निन्दाप्रशंसा संशयो विधिः।**
> **परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ॥**
> **उपमानं दशैवेते विधयः ब्राह्मणस्य तु।**

आशय यह कि हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारण, कल्पना और उपमानादि विधिवाचक शब्दों को ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रथमतः मंत्रों का भाष्य और द्वितीय यज्ञों के विधि-विधान का संकेत किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या कई हैं। जैसे—शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, गोपथ ब्राह्मण इत्यादि।

भ

भक्ति—भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर होती है जिसका अर्थ होता है—भजन करना, सेवा करना इत्यादि। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार—ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम (परानुरक्ति) को ही भक्ति कहते हैं (शा०सू०, १.१.२)। शाण्डिल्य ने भक्ति को एक अन्य अर्थ श्रवण, कीर्तन, और पादसेवन के रूप में भी लिया है, जिसे भागवत सम्प्रदाय में 'नवधाभक्ति' के रूप में जाना जाता है। शाण्डिल्य ने इस भक्ति को परानुरक्ति से भिन्न करने के लिए इसे 'गौण-भक्ति' कहा है। गौण भक्ति कहने का तात्पर्य यही है कि नवधा भक्ति के द्वारा भक्त का मन शुद्ध होता है (भागवत, ३.२९, ११)। नारद सूत्र में कहा गया है—**सात्वस्मिन् परमप्रेम रूपा। सा न कामनया, निरोधरूपत्वात्। सा तु कर्म ज्ञानयोगेऽभ्योप्य-धिकतरा। स्वयं कामरूपतेति ब्रह्मकुमाराः** (नारद सूत्र, १.२, १.७, २.२५, ४१.३०)। आशय यह कि भगवान के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है। जब व्यक्ति के हृदय में भक्ति का वास हो जाता है तभी प्राणियों के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है, उसका अन्तस और बाह्य सात्विक प्रसन्नता से भर जाता है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति में निष्कपट प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यह निष्कपट प्रेम कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ कहा जाता है। क्योंकि कर्म, ज्ञान, योग का कोई न कोई उद्देश्य है जबकि भक्ति तो अपने में स्वयं ही एक उद्देश्य है। वह स्वयं साध्य भी है और साधनस्वरूपा भी है। भागवत (३.२९, १२) में कहा गया है—**अहैतुक्य-व्यवहिता या भक्तिः पुरूषोत्तमे।** अर्थात् मन का प्रवाह (मनोगति) सर्वशक्ति मान पुरुषोत्तम की ओर होना ही भक्ति है। आचार्य शंकर के अनुसार आत्मदेव की उपासना ही भक्ति है। उन्होंने विवेक चूड़ामणि में कहा है कि मोक्ष की कारण सामग्री में भक्ति श्रेष्ठतम है—

मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी। (वि०चू०, ३३)

स्वामी विद्यारण्य ने पञ्चदशी के ध्यानदीप प्रकरण में कहा है कि जिस प्रकार परपुरुष में अनुरक्त कोई स्त्री घर के काम-काज में लगी होने पर भी परसंग का ही आनन्द लेती है, जिससे गृहकार्य में व्यवधान होने की संभावना

रहती है, किन्तु आत्मोन्मुखी उपासना ईमानदार गृहिणी की तरह है जो अपने मूल से जुड़े गृहकार्य से क्षणभर भी पृथक नहीं होती। इस प्रकार भक्ति जब आत्मविज्ञान के समीप आ जाती है तब वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर हो जाती है—

यावद् विज्ञानसामीप्य तावच्छ्रेष्ठस्य वितर्धते।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः॥
(पं०, ध्या० प्र०, श्लो० १२२)

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार—अन्तःकरणस्य भगवदाकारता रूपं भक्तिः (भ० भ० रसा०, पृ० १६)। अर्थात् अन्तःकरण का भगवदाकार होना ही भक्ति है। एकदृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बढ़ता रहता है उसी प्रकार ईश्वर के गुणों के श्रवण मात्र से मन की वृत्ति का अविच्छिन्न रूप से उस सर्वन्तर्यामी के प्रति जाना ही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहासये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥
(भ० भ० रसा०, पृ० ३१)

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति की ग्यारह अवस्थाओं की चर्चा की है—(१) महापुरुषों की सेवा, (२) उनकी दया का पात्र होना, (३) उनके धर्मों में श्रद्धा, (४) भगवदगुण श्रवण, (५) भगवद्भक्ति में रति का अंकुरित होना, (६) उसके स्वरूप को समझना, (७) परमानन्द रूप भगवान में प्रेम का बढ़ाना, (८) भगवान का दर्शन होना, (९) भगवद् धर्मों में निष्ठा, (१०) भक्तों के गुणों को अपने में लाना, (११) प्रेम की पराकाष्ठा हो जाना। श्री भक्ति रसामृत सिन्धु (१.१.१०) में कहा गया है—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्त तत्परत्वेतं निर्मलम्।
हृषिकेन हृषिकेश ऐवनं भक्तिरूच्यते॥

अर्थात् सब प्रकार की उपाधियों से जो अछूता है अथवा जिसमें इहलोक और परलोक के सुखभोगों की कामना नहीं है, तथा आत्मदुःख निवृत्तिरूप मोक्ष की इच्छा नहीं है, जो ज्ञानादि कर्म की मलिनता से रहित हैं, एकमात्र तन्मयतामय अनुकूल भाव से इन्द्रियों के अधीश्वर भगवान श्री कृष्ण की जो सेवा है उसे भक्ति कहते हैं।

चैतन्य परम्परा के श्री रूप गोस्वामी के अनुसार भी कृष्ण-सेवा ज्ञान को छोड़कर, अन्यान्य समस्त कामनाओं से जो रहित है, ज्ञान, कर्म, तथा योग से जो अनावृत है, अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण का जो अनुशीलन है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माघनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमां ।।

(श्री भक्तिरसामृतसिंधु, १.१.११)

रामानुज दर्शन के अनुसार—भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण करना ही भक्ति है । यह समर्पण तीन प्रकार होता है—फलसमर्पण, भावसमर्पण, एवं स्वरूपसमर्पण । श्रीमद्‌भगवत्‌गीता में कहा गया है कि चार प्रकार के पुण्यात्मा लोग ईश्वर की भक्ति किया करते हैं—रोग से पीड़ित, ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा करने वाले, द्रव्य आदि काम्य वासनाओं को मन में रखने वाले और ज्ञानी यानि कि परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर जो स्वयं अपने लिए कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता । इनमें से नारद आदि के समान जो ज्ञानी पुरुष केवल कर्तव्य बुद्धि से ही परमेश्वर की भक्ति करता है वही सब भक्तों में श्रेष्ठ है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।

(गी०, ७.१६-१८)

बल्लभाचार्य के अनुसार—

महात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्नचान्यथा ।।

(त० दी०, पृ० ८०)

तात्पर्य यह कि ईश्वर के माहात्म्य का बोध होने पर उसके प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह होता है, वही भक्ति है ।

भगवान—सामान्य रूप से जो भग यानि ऐश्वर्य से युक्त हो वह भगवान है। भक्ति-शास्त्रों में भगवान का लक्षण करते हुए कहा गया है—**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।** अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, और समग्र वैराग्य ये छः भग शब्द कहलाते हैं। इस प्रकार समग्र ऐश्वर्यादि नित्य और अप्रतिहत रूप से जिसमें रहें, वह भगवान कहलाता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जो प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश को, आगति और गति को तथा विद्या और अविद्या को जानता है उसे भगवान कहते हैं—

उत्पत्ति विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

भजन—ईश्वर सेवा का भेद। पूर्णप्रज्ञ दर्शन में ईश्वर सेवा के तीन भेद बतलाए गए हैं—अंकन, नामकरण और भजन। भजन के लक्षण के संदर्भ में वहां कहा गया है—वाणी के द्वारा सत्य, हित, प्रियवचन तथा स्वाध्याय, शरीर से दान, बचाव और रक्षा करना, मन से दया, स्पृहा (इच्छा) और श्रद्धा इनमें एक-एक की प्राप्ति कर लेने पर उसे नारायण को समर्पण कर देना भजन है (सर्व०सं०, पृ० २६५)।

भय—अनिष्ट के आविर्भाव से भय का बोध होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**भयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः** (सां०त०कौ०, पृ० २८२)। अर्थात् भय अभिनिवेश है जो अन्धतामिस्र कहलाता है। साहित्य में भय को रौद्र रस का स्थायी भाव कहा गया है। न्याय दर्शन के अनुसार—**अनिष्ट विषयसाधनोपानिपाते भयम्**—अर्थात् अनिष्ट का अप्रत्याशित या आकस्मिक रूप से आ जाना भय कहलाता है।

भव—**भवत्यस्माज्जन्मेति भवो** (भा०, पृ० ६८८)। अर्थात् जिसके द्वारा मंत्र आदि होता है वह भव है। भामती मत में धर्म और अधर्म का नाम भव है। बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के अनुसार—**यद भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद् भवः** (अभि० को०, ३.२४)। आशय यह कि भविष्य फल को उत्पन्न करने वाला कर्म भव है।

भवचक्र—बौद्ध दर्शन के अनुसार—**हेतु निबन्धनो भवचक्रः** (सर्व०सं०, पृ० ६४)। अर्थात् वस्तुओं का हेतु निबन्धन कारण ही भवचक्र कहलाता है। बौद्ध दर्शन में इसे ही दुःख का कारण माना गया है। भवचक्र में बारह कारणों की

शृंखला का उल्लेख किया है। ये शृंखला है—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण।

भवभंग—भवभंग का अर्थ है—विनाश। संसार में प्राणियों का जन्म इसलिए होता है ताकि वे अपने पूर्वजन्म में किए हुए कर्म का फल भोग लें। किन्तु जब सत्ता क्षणिक मान ली जाए तो प्राणियों में कर्मफल भोगने के लिए उत्तरदायित्व रहेगा ही नहीं, फिर भी क्यों जन्म लेंगे। इससे संसार की उत्पत्ति असंभव हो जाएगी।

भव्यजीव—जीव भेद। जैन दर्शन के अनुसार—जो सम्यक् दर्शन से युक्त होकर मोक्ष का इच्छुक होता है वह भव्यजीव कहलाता है। बौद्ध दर्शन में भव्यत्व चैतन्य के समान पारिणामिक है। अभिसमयालंकार (८.१०) में कहा गया है—

> वर्षत्यपि हि पर्जन्ये नैवबीजं पुरोहति।
> समुत्पादेऽपि बुद्धानां नाभव्यो भद्रमनश्नुते॥

भागासिद्ध—स्वरूपासिद्ध हेतु का भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—जब कोई हेतु सम्पूर्ण आश्रय में असिद्ध न होकर आश्रय के किसी भाग मात्र में ही असिद्ध होता है, तब वह भागासिद्ध कहलाता है। जैसे पृथिवी आदि चारो द्रव्यों के परमाणु नित्य हैं, गंधवान होने से। इस अनुमान में गंध हेतु पृथिवी परमाणु में रहने के कारण सम्पूर्ण आश्रय में असिद्ध न होकर आश्रय के जल परमाणु आदि भागमात्र में ही असिद्ध होने से भागासिद्ध है।

भाव—भाव एक मानसिक अवस्था है। तांत्रिक मत में तीन भाव माने गए हैं—पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव। सांख्य दर्शन के अनुसार जो सूक्ष्म शरीर का संसरण करता है वह भाव है। यहां आठ भाव माने गए हैं—धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य (सां० त० कौ०, पृ० २५०-५१)।

भावना—किसी व्यापार को भावना कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ५२६)। जैसे—किसी को प्रेरणा देना या मनुष्यों में प्रवृत्ति उत्पन्न करना इत्यादि। यह दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना और आर्थी भावना।

भाषासमिति—जैन दर्शन में समिति भेद। जैन दर्शन के अनुसार—

> अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम्।
> प्रिया वाचं यमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥

तात्पर्य यह कि अनित्य, सत्य, सभीजनों के लिए हितकर तथा मितभाषण करना, जो वचन के संयमी व्यक्तियों को प्रिय लगे वह भाषा समिति कहलाती है।

भाष्य—भाष्य शब्द की व्युत्पत्ति 'भाष्' धातु में यत् प्रत्यय लगाने से होती है। जिसका अर्थ होता है—व्याख्या करना। शास्त्रीय ग्रंथों में भाष्य के लक्षण के संदर्भ में यह संकेत प्राप्त होता है—

> **सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।**
> **स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्य विदो विदुः ॥**

आशय यह कि सूत्रस्थ पदानुसारी व्याख्या ही भाष्य है।

भूतार्थवाद—भूतार्थवाद को अर्थवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है। न्याय सिद्धांत मञ्जरी में कहा गया है—

> **विरोधः गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।**
> **भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादास्त्रिधा मताः ॥** (न्या०मं०, पृ० ३१)

आशय यह कि जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध उपस्थित हो वहाँ गुणवाद; जहाँ प्रामाण्य से प्रतिपादित अर्थ का प्रमाणान्तर से बाध न हो और अनुवाद भी न हो वह भूतार्थवाद कहा जाता है।

भेद—अद्वैतवेदान्त के अनुसार—**भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरूद्धाधर्माध्यासः** (सर्व०सं०, पृ० ७६०)। अर्थात् जो विरुद्ध धर्मों का आरोपण है वही भेद है। रामानुज दर्शन के अनुसार—**चिद्चिदीश्वराणां स्वरूप स्वभाव वैलक्षण्याद् संकराच्च भेदः** (सर्व०सं०, पृ० २१६)। अर्थात् चित्, अचित और ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर भेद है, उन्हें अभिन्न रूप से नहीं रख सकते; इसलिए भेदभाव की सिद्धि होती है। वैशेषिक दर्शन में वस्तुओं के धर्मों के आधार पर दो वस्तुओं में भेद माना जाता है। माध्वाचार्य एक ही वस्तु में उसके स्वरूप और वस्तु में भेद मानते हैं। उनके अनुसार—सर्वप्रथम वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरी वस्तुओं से पृथक् करके प्राप्त किया जाता है, उसके बाद प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का—जैसे—घट का घटत्व के रूप में—व्यवहार चलता है, इसी को भेदज्ञान कहते हैं। पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार—**धर्मी प्रतियोगी ग्रहणे सति पश्चात् तत् घटित भेद ग्रहणोपपत्तेः** (सर्व०सं०, पृ० २५७)। अर्थात् धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर, उन पर ही आधारित

भेद का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह कि पहले घट धर्मी का ज्ञान घट सामान्य के रूप में होता है, उसके बाद घट और पट में क्रमशः धर्मित्व और प्रतियोगित्व की स्थापना के साथ ही साथ सामूहिक ज्ञान की तरह एक ही क्रिया से भेद का भी ज्ञान हो जाता है।

भेदसंस्कार—भेद के अग्रहण का नाश करके भेदाध्यास उत्पन्न करना भेद संस्कार कहलाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**भेदग्रहो हि व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरिति न्यायेन भेदाग्रहपरिपन्थिनं भेदसंस्कारमपेक्षते** (सर्व०सं०, पृ० ७६७)। आशय यह कि व्यापक की निवृत्ति से व्याप्त की निवृत्ति होती है—इस नियम से भेद का ग्रहण भेद के अग्रह के विरोधी भेद संस्कार की अपेक्षा रखता है। जैसे—धूम अग्नि की अपेक्षा रखता है। अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। यदि अग्नि न हो तो धूम की प्राप्ति ही नहीं होगी। उसी तरह भेदग्रह या भेदाध्यास भेदसंस्कार की अपेक्षा करता है। यदि भेदसंस्कार न हो तो भेदाध्यास होगा ही नहीं। भेदसंस्कार भेद के अग्रह का नाश करके भेदाध्यास उत्पन्न करता है।

भोगायतन—सुख-दुःख आदि भावों का जिस स्थूल शरीर में अनुभव होता है, उसे भोगायतन कहते हैं। सांख्यसूत्र प्रवचन भाष्य (५.११४) में कहा गया है—**भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतन निर्माणमन्यथा पूतिभाव प्रसंगात्**। आशय यह कि भोक्ता पुरुष (जीव) के अधिष्ठान से भोगायतन का निर्माण होता है। जीव का अधिष्ठान यदि न हो तो गर्भगत शुक्रशोणित संयोग जनित पिण्ड और जीव के देहत्याग के बाद मृत शरीर इन इन दोनों में पूतिभाव आ जाता है, वे अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

भ्रम—'भ्रम्' धातु में अच् प्रत्यय करने पर भ्रम शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'भ्रमण करना' होता है। इसी का लाक्षणिक अर्थ होता है—गलत दिशा की ओर सोचना या समझना। जैसे—दूरस्थ सिक्ता में जलाभास, सीपी में रजत का आभास इत्यादि। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**यथार्थ सर्व मेवेह विज्ञानम्** (प्र० पं०, ४.१)। आशय यह कि जिस ज्ञान को हम भ्रम कहते हैं वह वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्या होता है। शालिकनाथ ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस ज्ञान के अनुसार सफलता नहीं अर्जित हो पाती वही भ्रम ज्ञान हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर के अनुसार—**अतस्मितद्ध्यारोपः भ्रमः** (ब्र०सू०शां०भा०,

उपो०)। तात्पर्य यह कि जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें वैसा आरोप करना भ्रम है। अद्वैत वेदान्त में निरुपाधिक और सोपाधिक भेद से भ्रम दो प्रकार का माना गया है। इनमें से जो दोष या कर्म से संचालित अविद्या से उत्पन्न होता है तथा तत्व ज्ञान का विरोधी होता है वह भ्रम निरुपाधिक कहलाता है। उपाधि के सामीप्य से जब अविद्या में क्षोभ उत्पन्न होता है तब उस अविद्या से ही उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक कहते हैं—

> **दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसंभवः।**
> **तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः॥**
> **उपाधि संनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम्।**
> **उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम्॥** (सर्व०सं०, पृ० ८.१)

सांख्य-योग दर्शन में भ्रम के लिए विपर्यय शब्द का प्रयोग किया गया है। योग सूत्र (१.८) में कहा गया है—**विपर्ययोः मिथ्या ज्ञानांतद्रूपप्रतिष्ठितम्।** अर्थात् भ्रम एक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है। यह प्रमाणित ज्ञान से सर्वथा भिन्न चित्तवृत्ति है। जैसे—शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, एक चन्द्र में द्विचन्द्र आदि। जैन दर्शन के अनुसार—विपरीत धर्म का ग्रहण करते हुए निर्णय लेना भ्रम है (प्र०न०लो०, १.९)। न्याय दर्शन के अनुसार एक वास्तविक विषय की अन्य वास्तविक विषय के रूप में अन्यथा प्रतीति भ्रम है। इस संदर्भ में उद्योतकर का मत है कि भ्रम की स्थिति में पदार्थ या विषय पूर्ववत ही रहते हैं, उनमें विकार नहीं आता। जैसे—सूर्य की चंचल किरणों से जब जल का अवबोध होता है तब स्वयं पदार्थ में कोई भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती, भ्रान्ति मात्र बोध में ही होती। क्योंकि यह बोधि ही है जो किरणों की चंचलता के रूप में न प्रकट होकर जल के रूप में प्रकट होती है। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार—पदार्थों पर ज्ञानाकार का आरोप ही भ्रम है। शुक्ति में जो रजत का भ्रम होता है उसमें रजत वस्तुतः मानसिक तथ्य है जिसका ही बाह्यीकरण होता है—**स्वाकारं बाह्यतया लम्बन्ते विभ्रमाः** (प्र०क०, पृ० ५०)। इसका मूल कारण है—पुरुषों की उद्दीप्त होने वाली अनादि एवं विचित्र वासनाएं। इसलिए यह अयथार्थ की प्रत्यायिका भी है, जो कि शुक्ति पर आरोपित होकर रजत रूप में प्रतिभासित होती है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में भ्रम मिथ्या प्रत्यक्ष है। प्रमानुभूति के क्षण में हम वस्तुगत स्थिति से मेल न खाने वाली वस्तु या पदार्थ का अनुभव करते हैं।

भ्रान्तिदर्शन — योग दर्शन में विक्षेप का भेद। योग दर्शन के अनुसार— **भ्रन्तिदर्शनां विपर्यय ज्ञानम्** (यो०सू०, १.३०)। अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान भ्रान्तिदर्शन कहा जाता है। आशय यह कि योग के साधनों में असाधन का ज्ञान और असाधनों में साधन का ज्ञान रूप भ्रान्तिदर्शन होता है।

म

मङ्गल—**अगर्हिताभीष्टावाप्तिमङ्गलम्। अभीटं च सुखावाप्ति दुःखपरिहाररूपतयेष्टम्** (सर्व०सं०, पृ० ६६३)। अर्थात् अनिन्द तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करना मङ्गल है। अभीष्ट वस्तु वह है जिसकी कामना सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति के लिए की जाती हैं। मङ्गल शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी किया जाता है—**समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्**—अर्थात् किसी ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मङ्गल शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

> **प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।**
> **पदार्थ धर्म संग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः।।** (प्र०भा०, ग्र०प्र०)

भारतीय परम्परा में ऐसी मान्यता है कि शास्त्रों के आदि, मध्य तथा अन्त में मङ्गल शब्द का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। सदानन्द ने वेदान्तसार में मङ्गल शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—

> **अखण्डं सच्चिदानन्दं अवांगमनसगोचरम्।**
> **आत्मानमखिलाधारमाश्रयेभीष्टसिद्धये।।**

अर्थात् अखण्ड, सत्, चित्, आनन्द, मन और वाणी का विषय न बनने वाले तथा समस्त जगत के अधिष्ठानरूप आतमतत्व का अभीष्ट की प्राप्ति के लिए आश्रय ग्रहण करता हूं।

मतानुज्ञा—निग्रह-स्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा** (न्या०सू०, ५.२.२०)। अर्थात् अपने पक्ष में दोष मानकर दूसरे विरोधी पक्ष में दोष की आपत्ति देना मतानुज्ञा निग्रहस्थान

होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो प्रतिपक्षी के दिए दोष को अपने पक्ष में मानकर उसका उद्घाटन कर, तुम्हारे पक्ष में भी यह दोष समान ही है, ऐसा कहता है—वह अपने पक्ष में दोष मानकर विरोधी के पक्ष में दोष देता हुआ दूसरे के मत को मान लेता है। इसलिए उसे मतानुज्ञा निग्रहस्थान प्राप्त होता है।

मति—'मन्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने पर मति शब्द की व्युत्पत्ति होती है। जिसका सामान्य अर्थ होता है—बुद्धि, ज्ञान, समझना इत्यादि। जैन दर्शन के अनुसार—**ज्ञानावरण क्षयोपशमे शति इन्द्रियमनसोपुरस्कृत्य व्यापृतः सन्ययार्थ मनुते सा मतिः** (सर्व०सं०, पृ० १३८)। अर्थात् ज्ञान के आवरण का क्षय या उपसम हो जाने पर इन्द्रिय और मन को आगे रखकर उनकी सहायता से युक्त होकर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मति है। जैसे—घटादि के प्रत्यक्ष होने के पूर्व जो मननात्मक ज्ञान प्राप्त होता है वह मति है। रामानुज के अनुसार—ज्ञाता को, जो ज्ञेय वस्तु का अवभास (विषय का प्रकाश) मिलता है उसे मति कहते हैं। मति ज्ञान चार प्रकार का होता है—अवग्रह, ईहा, अवाय तथा साधारण।

मधुप्रतीका—समाधि भेद। योग दर्शन के अनुसार—**मनोजवित्वादयो मधुप्रतीकासिद्धयः** (सर्व०सं०, पृ० ७३४)। अर्थात् मन के समान वेगवान हो जाना मधुप्रतीका सिद्धि है। मन की तरह वेगवान होने का अर्थ है—शरीर का मन की तरह गति प्राप्त करना।

मधुमती—समाधि सिद्धि। मधुमति वह समाधिसिद्धि है, जिसमें अभ्यास और वैराग्य आदि के कारण रजस और तमस् का किंचित भी अंश शेष न हो तथा सुखमय और प्रकाशमय सत्वबुद्धि की भावना से स्वच्छ स्थिति प्रवाह प्रकाशित होता है (सर्व०सं०, पृ० ७३३)।

मध्यतीव्र—तीव्रसंवेग का भेद। योग दर्शन के अनुसार जिसके द्वारा योगियों को शीघ्रतम समाधि लाभ और समाधि फल प्राप्त होता है, वह मध्य-तीव्र संवेग कहलाता है।

मध्यसंवेग—**यस्योपायप्रत्ययस्य योगिनो वैराग्यं न मृदु भवति, नापि तीव्रं भवति, स मध्यसंवेग इत्युच्यते** (यो०भा०, १.२१)। अर्थात् जो मृदुपाय मध्य-संवेग वाले यानि कि न मन्द, न तीव्र संवेग वाले होते हैं, वे मृदुपाय मध्यसंवेग कहे जाते हैं।

मध्योपाय—योगियों को समाधि की प्राप्ति का उपाय। योग दर्शन के अनुसार—जो मध्य, यानि कि न तीव्र न मंद किन्तु सामान्य उपाय वाले, होते हैं वे मध्योपाय योगी कहलाते हैं। मध्योपाय-मंद संवेग, मध्योपाय-मध्यसवेग तथा मध्योपाय-तीव्रसंवेग के भेद से मध्योपाय योगी तीन प्रकार का होता है।

मन—**मनस्यति अनेन इति मनः।** अर्थात् जिससे मनन किया जाये वह मन है। नैयायिक मन को एक ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं जिसके द्वारा सुख-दुःख आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**सुखाद्युपलब्धिसाधन-मिन्द्रियम्मनः** (त०भा०, पृ० २१३)। अर्थात् जो इन्द्रिय आत्मा के सुखादि विशेष गुणों की उपलब्धि का साधन हो उसे मन कहा जाता है। विश्वनाथ के अनुसार—**साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते** (भा०परि०, पृ० ८५)। अर्थात् जो सुखादि साक्षात्कार में मुख्य साधन है, वह मन है। यद्यपि गौतम ने मन के इन्द्रियत्व को कहीं स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया है, किन्तु इसका निषेध भी उन्होंने नहीं किया है। वैशेषिक दर्शन में मन को अभ्यान्तरिक इन्द्रिय माना गया है। कणाद के अनुसार—**आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभा-वश्च मनसो लिंगम्** (वै०सू०, ३.२.१)। आशय यह कि आत्म-इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से मन के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। मीमांसादर्शन के अनुसार—**यच्च द्रव्यान्तरं तन्मनः।** आशय यह कि जो द्रव्यान्तर है वह मन है। मीमांसाकार शालिकनाथ के अनुसार—**मन** अन्तःशरीर है (प्र०पां०, पृ० ३३२)। सांख्य दर्शन में मन के लक्षण के प्रसंग में कहा गया है कि मन उभयात्मक (ज्ञान-कर्मेन्द्रियात्मक) इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण (अहंकार से उत्पन्न होने के कारण) इन्द्रिय भी कहलाता है—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुण परिणाम विशेषान्ननात्वं बाह्य भेदाश्च ॥

(सां० का०, २७)

सांख्य तत्व कौमुदीकार ने मन का लक्षण करते हुए कहा है—**संकल्पकमत्र मनः** (सां० त० कौ०, का० २७)। अर्थात् मन संकल्प करने वाला है। आगे इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—संकल्प रूप धर्म से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु में यह है—इस प्रकार संमुग्ध रूप में (वस्तु विशेष रूप से अगृहीत) आलोचन ज्ञान होता है, अनन्तर

"यह वस्तु ऐसी ही है और नहीं है इस प्रकार विशेष्य और विशेषण भाव पूर्वक विवेचन करना मन का संकल्पकत्व है। वेदान्ती '**इन्द्रियेभ्यः पराह्यार्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः, मनसश्च पराबुद्धि बुद्धेरात्मा महान्परः**' इत्यादि श्रुति विरोध के कारण मन को इन्द्रिय नहीं मानते। इस श्रुतिवाक्य में मन और इन्द्रिय का स्पष्ट भेद स्वीकार किया गया है। नैयायिक मन को इन्द्रिय सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण देते हैं कि गीता में '**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि.**' कहकर वहां पर मन को छठी इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदान्त परिभाषाकार ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि भगवतगीता के वचन में मन को छठी इन्द्रिय नहीं माना गया है, वरन् षष्टत्व संख्या की पूर्ति की गई है (वे०परि०, पृ० ४९६)। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है -- संकल्प रूप शक्ति से हिरण्यगर्भ की बुद्धि का नाम मन है। बौद्ध दर्शन में चित्त, मन तथा विज्ञान सामानार्थक माने गये हैं। इनके अनुसार मन शब्द की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से मानी गई है, जिसका सामान्य अर्थ होता है -- मापना, किसी वस्तु के विषय में निश्चय करना इत्यादि। मन के इस व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में इसका यह लक्षण लक्षित होता है कि जब हमें चित्त के निर्णयात्मक प्रवृत्ति रखने वाले अंश पर प्रधानता देनी होती है तब मन का प्रयोग करते हैं।

मनःपर्याय— जैन दर्शन के अनुसार—**ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्मार्थस्य स्फुट परिच्छेदकं ज्ञानं मनःपर्यायः** (सर्व०सं० पृ० १३९)। आशय यह कि ज्ञान के आवरण के रूप में जो ईर्ष्या आदि विघ्न (अन्तराय) हैं उसका क्षय या उपशम हो जाने पर दूसरे व्यक्तियों के मन की बात को स्पष्ट रूप से ज्ञात करने वाले ज्ञान को मनःपर्यय कहते हैं। न्याय दर्शन में इसकी चर्चा अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत की गई है।

मनन—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म साक्षात्कार का साधन। अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में मनन के लक्षण के सन्दर्भ में कहा है कि **मननं नाम शब्दावधारितेऽर्थे मानान्तर विरोधशंकायां तन्निराकरणानुकूल तर्कात्मकज्ञानजनको मानसो व्यापारः** (वे०परि०, पृ० ३६१)। अर्थात् शब्द से अर्थ निश्चित होने पर अन्य प्रमाणों से उसके विरोध की शंका होने पर उसके निराकरण के उपयोग में आने वाले तर्कात्मक ज्ञान को पैदा करने वाला मानसिक व्यापार मनन है। सदानन्द के अनुसार—**मननं तु श्रुतस्याद्वितीय वस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनु चिन्तनम्** (वे०सा०;

पृ० ३९८)। तात्पर्य यह कि जिसका श्रवण किया गया है उस अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल अविरोधी तर्कों द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है। विद्यारण्य ने पंचदशी (१.५३) में कहा है—**युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्**। भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**मीमांसा सहितात् तस्मादेवो निबद्धाक्याद् यामाचक्षते मननमिति** (भा०, ३.६.२६) अर्थात् उपनिषद् वाक्य की मीमांसा से उद्भूत प्रतिपत्ति मनन है। पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य के अनुसार—**मननं वस्तुनिष्ठ वाक्यापेक्षित दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त जन्म स्थिति लयवाचारम्भणत्वादि युक्तमर्थवादानुसंधानवाक्यार्थाविरोधयननुमानानुसंधानं च** (पं०पा०, पृ० ३५२-५३)। अर्थात् मनन का अर्थ है—वस्तुनिष्ठ वाक्यापेक्षित दुन्दुभि आदि दृष्टान्तों तथा जन्म, स्थिति, लय के वाचारम्भणत्वादि का अनुसंधान।

मनोजवित्व—मधुप्रतीका सिद्धि का भेद। योग सूत्र (३.४८) में कहा गया है—**मनोवित्वं नाम विकरण भावः प्रधान जयस्यश्च**। अर्थात् मन के समान वेगवान होना, इन्द्रियों से रहित हो जाना तथा प्रकृति पर विजय पाना मनोजवित्व है। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**निरतिशय शीघ्रकारित्वं मनोजवित्वं** (सर्व०सं०, पृ० ३०६)। अर्थात् मन की तरह वेगवान होना, इच्छा से रूप बदलना, इन्द्रियादि हीन होने पर भी ऐश्वर्य धारण करना मनोजवित्व है।

मनोयोग—जैन दर्शन में आस्रव का भेद। जैन दर्शन के अनुसार—मन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश (स्थान) का चलना मनोयोग है।

मंत्र—जिसके मनन करने से रक्षा हो वह मंत्र है। कल्पसूत्रों में मंत्र को अगम्य और अचिंत्य कहा गया है। तुलसीदास ने रामचरित मानस (३.३१.५) में कहा है—

> **मंत्र महामनि विषय ब्यालक के।**
> **मेटत कठिन कुअंक भाल के।।**

आशय यह कि विषय रूपी साँप का विष उतारने के लिऐ मंत्र और महामणि है। ये ललाट पर लिखे हुए कठिनता से मिटने वाले बुरे लेखों (मंद प्रारब्ध) को मिटा देने वाले हैं।

जैन दर्शन के अनुसार अनुष्ठान के अर्थों का स्मरण दिलाने वाला वाक्य मंत्र कहलाता है । मीमांसा दर्शन के अनुसार—प्रयोग से समवेत वस्तुओं का बोध कराने वाला वेदभाग मंत्र है। यजु:संहिता (२४.२०) में कहा गया है—**अभिधारस्य चोदकेस्वेवं जातीय केष्वभियुक्ता उपदिशन्ति-मन्त्रानधीमहे ।** अर्थात् जो वचन यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को करने वाले हैं उन्हें मंत्र कहा जाता है । आचार्य शंकर के अनुसार—वेद विशिष्ट ऋगादि पदों का अर्थ मंत्र है । योग दर्शन में वैदिक और ताँत्रिक भेद से मंत्र दो प्रकार के हैं । वैदिक मंत्र भी प्रगीत और अप्रगीत भेद से दो प्रकार का होता है । प्रगीत मंत्रों में साम आते हैं तथा अप्रगीत के दो भेद हैं—छन्दों में बंधे हुए तथा छन्दों से भिन्न छन्दों में बंधे हुए वैदिक मंत्र ऋचायें हैं और छन्दों से भिन्न यजुष् (सर्व०सं०, पृ० ७०७) । मीमांसा दर्शन भी योग के वैदिक मंत्रों के भेद तथा प्रभेद को स्वीकार करता है । तांत्रिक मंत्र के विषय में योग दर्शन में कहा गया है—**तंत्रेषु कामिक कारण प्रपंचाद्यागमेषु ये ये वर्णितास्ते ।**

मन्दन—उपहृपादेन्द्रियस्येव गमनं मन्दनम् (सर्व०सं०, पृ० ३१२) । अर्थात् अपाहिज हुए पैर वाले व्यक्ति की तरह लड़खड़ाकर चलना मन्दन है ।

मरण—वैशेषिक उपस्कार (६.२.१५) में कहा गया है—**मरण च धर्माधर्माधीनम्** । अर्थात् जो धर्म और अधर्म के अधीन है वह मरण है। वैशेषिक सूत्र में इसका लक्षण करते हुए कहा गया है—**तत्संयोगे विभागः** (वै०सू०, ६.२.१५) । अर्थात् अदृष्ट के कारण जो विनाश की दशा को प्राप्त होता है वही मरण है । वात्स्यायन ने न्याय सूत्र (१.१.१९) के भाष्य में कहा है—**यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादिन् जहाति तत् मरणम् ।** अर्थात् जब किसी प्राणधारी जीवों के शरीर के समूहों में से किसी एक शरीर में वर्तमान यह जीवात्मा पूर्व में गृहीत शरीरादि को छोड़ता है, तब उसे मरण कहते हैं । गीता के अनुसार—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०, २.२७) । अर्थात् प्रत्येक जन्म लेने वाले की मृत्यु या मरण निश्चित है और मरने वाला निश्चित रूप से जन्म लेता है । इस सन्दर्भ में एक दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए गीता में कहा गया है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीर को प्राप्त होता है। इस प्रकार गीता के अनुसार जीवात्मा द्वारा शरीर का त्याग ही मरण है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (गी०, २.२२)

सांख्य दर्शन के अनुसार—**देहादि नामुपात्तानां परित्यागो मरणम्** (सां०त० कौ०, का० १८) तात्पर्य यह कि शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना आदि के संघात रूप का परित्याग यानि कि सम्बन्ध-विच्छेद ही मरण है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का संधान, जो व्यक्ति की सत्ता के बोधक हैं, उनका विनाश ही मरण है।

मल—**आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः** (सर्व०सं०, पृ० ३००)। अर्थात् आत्मा में आश्रित दुष्टभाव को मल कहते हैं। नकुलीश पाशुपत दर्शन में कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्ति हेतु, च्युति और पशुत्वमूल ये पाँच मल हैं। इन पाँच मलों का विवेक द्वारा त्याग करना चाहिए।

महत्तत्त्व—सांख्य दर्शन में इसकी अपर संज्ञा महान् अथवा बुद्धि भी है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरूपं विरूपंच** (सां०का०, ८)। अर्थात् महत्तत्व आदि व्यक्त पदार्थ है, जो प्रकृति के सदृश भी है और उसके विरूप भी। प्रकृति के सदृश उसे इसलिए कहा जाता है क्योंकि जैसे प्रकृति महान का उपादान कारण रूप है, वैसे ही महत्तत्व भी अहंकार का उपादान कारण रूप है और उसका प्रकृति से विरूपता इस अर्थ में है कि प्रकृति किसी का विकार नहीं है जबकि महत्तत्व प्रकृति का विकार है।

महावाक्य—जिसके द्वारा आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता का प्रतिपादन किया जाता है वह महावाक्य कहलाता है। जो एक ही विषय का प्रतिपादक होता है वह वाक्य है; किन्तु महावाक्य में लौकिक एवं पारलौकिक समस्त शास्त्रों की संगति और अन्तर्भाव होता है। महावाक्य की एक विशेषता यह है कि इसमें जीव, जगत एवं ईश्वर तीनों का निरूपण किया जाता है। जैसे—**अयमात्मा ब्रह्म** यह महावाक्य है। इसमें आत्मा से जीवात्मा और ब्रह्म से परमात्मा का बोध होता है। इन दोनों की एकता के प्रतिपादन से उपाधि का

निदर्शन हो जाता है क्योंकि उपाधि का बोध किए बिना एकत्व की प्रतिपत्ति नहीं होती। उपनिषदों में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'तत्वमसि'**, **'अहंब्रह्मास्मि'**, **'अय आत्मा ब्रह्म'**—ये चार महावाक्य माने गए हैं।

महोदय—**विशुद्ध विज्ञानोदयो महोदयो** (सर्व०सं०, पृ० ७४)। अर्थात् विशुद्ध विज्ञान का उदय होना महोदय (मोक्ष) है। बौद्ध दार्शनिकों का मंतव्य है कि क्षणिक, दुःख, स्वलक्षण और शून्य की वृद्धि के बल से सभी वासनाओं का उच्छेद हो जाता है जिससे विविध प्रकार के विषयों के आकार में जो मिथ्याज्ञान होते हैं वे नष्ट हो जाते है, यही महोदय है। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—तत्त्व ज्ञान रूप प्रयोजन का सूचित होना महोदय है।

माध्यमिक—बौद्ध दर्शन का सम्प्रदायगत भेद। इसका मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है—शून्यवाद। इनके अनुसार शून्य ही एक मात्र पारमार्थिक है जो सत्, असत्, तथा सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस मत के अनुसार अविद्या की निवृत्ति होने पर मनुष्य निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और उस समय उसका चित्त वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे तेल और बत्ती के समाप्त होने पर दीपक का हो जाता है। माध्यमिक परम्परा में नागार्जुन का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इन्होंने इस परम्परा के नाम के आधार स्वरूप माध्यमिक शास्त्र (कारिका) ग्रन्थ की रचना की है।

मान—**मोहपक्षो मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः** (न्या० सू०, ४.१.३)। अर्थात् मिथ्या ज्ञान, संशय, न रहने वाले तथा रहने वाले गुणों को अपने में मानकर अपना संसार से उत्कर्ष प्रसिद्ध करना मान कहलाता है।

माया—माया शब्द की व्युत्पत्ति मा+या से होती है, जिसमें 'मा' का अर्थ 'नहीं' और 'या' का अर्थ 'जो' होता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो जहाँ नहीं है, उसका वहाँ पर आभास होना माया है। जैसे—रस्सी में सर्प का बोध। ऋग्वेद (३.१७.४८) में कहा गया है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**—अर्थात् इन्द्र अपनी माया शक्ति के कारण अनेक रूपों में विचरण करता है। उपनिषदों में माया को अज्ञान, अविद्या, अव्यक्त, प्रकृति इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। माण्डूक्यकारिका में कहा गया है कि अपने स्वरूप से निश्चय न की गई रज्जु अन्धकार में सर्प है या धारा आदि भावों में विकल्प की जाती है उसी प्रकार आत्मा में भी अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं। यह दृश्य

जगत जो प्राणादि अनन्त भावों से विकल्पित होता है यह उस स्वयं प्रकाश आत्मा की माया है जिससे ये स्वयं मोहित होते हैं—

अनिश्चितः तथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ।।
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यथा सम्मोहितः स्वयम् ।।

(मा०का०, २.१७-१९)

रामानुज के अनुसार—मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची (श्रीभाष्य, ३.२.३) । अर्थात् माया शब्द आश्चर्य अर्थ का बोधक है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि प्रकृति ही माया है । लोहितशुक्लकृष्ण यानि सत्व, रज और तम तीन गुणों से युक्त होने के कारण इसे त्रिगुणात्मक कहा जाता है ।

माया तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।

इसी प्रकार गीता में भी कहा गया है कि जो अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत् का निर्माण करती है उस अचिन्त्य शक्ति को माया कहा जाता है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म मायया ।।

(गी०, ४.६)

अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**अविद्यात्मिका ही बीजशक्तिनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः** (ब्र०सू०, शां०भा०, १.४.३) । अर्थात् माया परमेश्वर की शक्ति रूप है । अपने स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव इसी में सोते हैं । इस सन्दर्भ में आगे कहा गया है—**सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपंचबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते** (ब्र०सू०, शां० भा०, २.१.५) । अर्थात् इन्द्रियों के अज्ञान से मूल ब्रह्म में कल्पित किए हुए सत् और असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय एवं संसार प्रपंच के बीजभूत नामरूप को ही श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति अथवा

प्रकृति कहते हैं। शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में माया की विशेषता को बतलाते हुए कहा है कि जो अव्यक्त रूप है, परमेश्वर की शक्ति है, अनादि है, तीन गुणों (सत्व, रज एवं तम) से युक्त है, जिससे सारा जगत उत्पन्न होता है, वह माया है –

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका मया।
कार्यानुमेयासुधियैव माया, यया जगतसर्वमिदं प्रसूयते॥

विष्णु पुराण में कहा गया है कि विष्णु जिस शक्ति के द्वारा दानवों को मोहित करते हैं उसे माया कहते हैं—

मायया मोहयित्वा तान् विष्णुः स्त्रीरूपसंस्थितः।
दानवेभ्यस्तदादाय देवेभ्यः प्रददौ प्रभुः॥
(वि०पु०, ९.१०९)

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार वस्तु के न रहने पर भी उसके अस्तित्व की प्रतीति होना माया है—

ऋतेऽर्थं यतप्रतीयेत न प्रतीयते चात्मनि।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥
(भा०पु०, २.९.३२)

तंत्रालोक (१.२.१४) में कहा गया है—**सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः**। अर्थात् संसार सविकल्प होने के कारण मायामय है। बौद्ध दर्शन में माया शब्द का प्रयोग प्रवञ्चना के अर्थ में किया गया है। शैव दर्शन के अनुसार—**मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगतसृष्टौ व्यक्तिमायातीति माया** (सर्व०सं०, पृ० ३४५)। अर्थात् प्रलयकाल में शक्ति के रूप में जिससे सम्पूर्ण संसार परमित रहता है तथा सृष्टिकाल में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है वही माया है। तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा है कि ईश्वर की शक्ति माया है। विश्व, देवता और असुर इसी माया के वशीभूत हैं। माया के द्वारा ही रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति सारा दृश्य जगत सत्य प्रतीत होता है—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः॥

मिथ्या—अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**स्वभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्**। अर्थात् अपने अभाव के अधिकरण में किसी वस्तु का भासना उसका मिथ्या होना है। जैसे सर्प का अपने अभाव के अधिकरण रज्जु में भासना मिथ्या है। न्यायदर्शन के अनुसार—**मिथ्याज्ञानं नामानात्मनि देहादावात्मबुद्धिः** (सर्व०सं०, पृ० ४८८)। अर्थात् अनात्म यानि कि देह आदि को आत्मा मान लेना मिथ्या ज्ञान है।

मीमांसा—**निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेकश्री मीमांसा। सा च द्विविधा विधि विवेचनी ब्रह्मनिदर्शनीय च** (का०मी०, पृ० ६)। अर्थात् वेद वाक्य का विविध तर्कों से विवेचन करने वाला शास्त्र मीमांसा है। वह दो प्रकार का होता है—कर्म मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा अथवा पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

मुक्त—जैन दर्शन में जीव भेद। जैन दर्शन के अनुसार—**भवान्तर प्राप्ति विधुरा मुक्तिः** (सर्व०सं०, पृ० १५)। अर्थात् जो जीव दूसरा जन्म नहीं ग्रहण करते, वे मुक्त जीव कहलाते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार – **मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते** (सर्व०सं०, पृ० ३७०)। अर्थात् जो सभी प्रमेय पदार्थों, शुभ-अशुभ, सुन्दर-कुरूप, अमृत-विष आदि को देखता है यानि कि विषयों में जो भेदभाव नहीं करता, वह मुक्त जीव है। गीता में कहा गया है कि जो जीव प्रकृति और पुरुष के भेद को पहचानकर अपने ज्ञान चक्षुओं के द्वारा सर्वगत निर्गुण परमात्मा को जान लेता है वह मुक्त है। इस सन्दर्भ में गीता में कहा गया है—

> **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।**
> **यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥** (गी०, १३.२९)

आशय यह है कि जिसने यह जान लिया कि सभी कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किए जाते हैं और आत्मा अकर्ता है अर्थात् आत्मा कुछ नहीं करता, वह मुक्त है।

शंकराचार्य के अनुसार—मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपञ्च रूप जगत उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार अग्नि के सानिध्य से घृत का काठिन्य नष्ट हो जाता है (ब्र०सू०, शां०भा०, १.१.४)। उपदेश साहस्त्री (१०.१६) में कहा गया है कि जो जागृत अवस्था में भी सुषुप्ता अवस्था का अनुभव करते

करते हुए द्वैत जगत को नहीं देखता तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है वही आत्मवेता मुक्त पुरुष है—

सुषुप्तवज्जाग्रतियो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा चकुर्वन्नपि निष्क्रियश्चयः स आत्मविन्यान्य इतीह निश्चयः ॥

मुक्ति—संसार से विरक्ति या निवृत्ति ही मुक्ति है। योग दर्शन के अनुसार—**पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः** (सर्व०सं०, पृ० ७३७) । अर्थात् पुरुषार्थ से शून्य हो गए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना मुक्ति है। मीमांसकों के अनुसार—**नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति** (सर्व०सं०, पृ० ४९८) । अर्थात् नित्य और सर्वोच्च सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। न्याय दर्शन के अनुसार—**सुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति** (सर्व०सं०, पृ० ४९९) । अर्थात् सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः** (सां०सू०, ६.२०) । आशय यह है कि मुक्ति किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। वस्तुतः अन्तराय के नाश होने पर मुक्तस्वभाव आत्मा का जो स्वरूपावस्थान है, वही मुक्ति है। जैन दर्शन के अनुसार—**गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मनः उपरिदेशावस्थानं मुक्तिरित्यास्थिषत्** (सर्व०सं०, पृ० १६८) । अर्थात् सभी क्लेशों और उनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर ज्ञान के आवृत्त न होने पर, एक मात्र सुख से भरी हुई आत्मा का ऊपर के देश में अवस्थित होना ही मुक्ति है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**रागादिज्ञान सतानवासनोच्छेदसंभवा। चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता।** (सर्व०सं०, पृ० १०३) । अर्थात् रागादि ज्ञान की परम्परा रूपी वासना का नष्ट होना मुक्ति है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**निर्विशेष ब्रह्मभावप्राप्तिः परममुक्तिः** (वे०क०प०, १.४.३) । अर्थात् अवच्छिन्न एवं शान्त जीव का अनवच्छिन्न एवं अनन्त ब्रह्म के रूप में हो जाना ही मुक्ति है। अद्वैत वेदान्ती वाचस्पति मिश्र ने भामती (२.३.४६) में कहा है—**यथा च दर्पणानये तत्प्रतिबिम्बं बिम्बभावे वतिष्ठते, न कृपाणे प्रतिबिम्बतमप्येवमविधोपधानविगमे जीवो ब्रह्मभाव इति सिद्धं जीवो ब्रह्मांश इव तत्तन्त्रतया न त्वंश इति तात्पर्यार्थः।** अर्थात् जैसे दर्पणादि उपाधियों के हट जाने पर प्रतिबिम्ब अपने बिम्बरूप में

ही अवस्थित हो जाता है, वैसे ही अविद्यारूप उपाधि का अभाव हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप में अवस्थित होता है और यही जीव की मुक्ति है।

मूढ़– चित्तभूमि। योग दर्शन के अनुसार—**तमः समुद्रेमग्नं निद्रावृत्ति-भावितं मूढ़मिति गीयते** (सर्व०सं०, पृ० ६८५)। अर्थात् तमोगुण के समुद्र में डूबा हुआ तथा निद्रावृत्ति से युक्त चित्त को मूढ़ कहते हैं।

मूलप्रकृति—मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः अर्थात् जो मूल भी है और प्रकृति (उत्पादक) भी वह मूलप्रकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**मूल-प्रकृतिरविकृतिः** (सां०का०, ३)। अर्थात् जो किसी का विकार नहीं है वह मूलप्रकृति है। सर्वदर्शन संग्रह (पृष्ठ ८१८) में कहा गया है—**प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः**। अर्थात् प्रधान के नाम से पुकारी जाने वाली मूलप्रकृति है। यह किसी अन्य पदार्थ की विकृति नहीं है, किन्तु उसके द्वारा दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति होती। महत् तत्त्व आदि मूल प्रकृति के कार्य हैं। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह कि मूलप्रकृति इसे दो कारणों से कहा जाता है—(१) यह किसी का विकार नहीं है इसलिए मूल है और (२) यह अन्य तत्त्वों का उत्पादक है, इसलिए प्रकृति है। इस प्रकार जो अविकार और उत्पादक है, वह मूलप्रकृति है।

मृत—रसेश्वर दर्शन में पारद-भेद। रसेश्वर दर्शन के अनुसान—**आर्द्रत्वं च घनत्वं च तेजो गौरवचापलम्, अस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृत सूतकम्**। (सर्व०सं०, पृ० ३८१)। अर्थात् आर्द्र होना, घनत्व, चमक, गुरुत्व और तरलत्व ये लक्षण जिसमें न दिगाई पड़ें उसे मृत कहते हैं।

मृत्यु—अथर्ववेद (११.५.१४) में **'आचार्यो मृत्युः'** कहकर मृत्यु को आचार्य कहा गया है। अथर्ववेद (१.१३३.३) में कहा गया है—**मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय**। अर्थात् विद्यार्थी अपने आपको मृत्यु या यमरूप आचार्य का ब्रह्मचारी कहता है। कठोपनिषद् के अनुसार—जिसके द्वारा देहधारी जीव का दूसरा जन्म होता है वह मृत्यु है। यहाँ पर मृत्यु को यम का पर्यायवाची माना गया है। ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि नाशवन्त मायासृष्टि के प्रपंच को मृत्यु कहते हैं—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृमश्नुते॥

गीता (२.२७) में कहा गया है—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**। अर्थात् जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है। कहने का तात्पर्य यह कि जन्यमान पदार्थ का विनाश ही मृत्यु है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति**। अर्थात् जो अद्वितीय तत्व अनेक रूपों में देखता है वह मृत्यु से बार-बार जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ा रहता है।

मोक्ष—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्' धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है छुटकारा पाना। कहने का तात्पर्य यह कि जन्म और मरण के बंधन का आत्यन्तिक निषेध ही मोक्ष है। जैन दर्शन के अनुसार—**मिथ्या-दर्शनादिनाम् बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिक कर्ममोक्षणं मोक्षः** (सर्व०सं०, पृ० १६७)। अर्थात् मिथ्या दर्शन आदि बंधन के कारण हैं, उनका निरोध कर लेने पर नये कर्मों का भाव होकर, निर्जरारूपी कारण के सम्पर्क से पूर्वार्जित कर्मों का विनाश हो जाता है, तब सब प्रकार के कर्मों से जो आत्यन्तिक मुक्ति मिलती है, वही मोक्ष है। सांख्य दर्शन के अनुसार शरीरपात के अनन्तर भोग एवं अपवर्ग रूप अर्थ सम्पन्न हो जाने के कारण प्रकृति विवेकज्ञान के प्रति निवृत्त हो जाती है एवं पुरुष अवश्यंभावी और अविनाशी कैवल्य यानि कि मोक्ष को प्राप्त कर लेता है—

प्राप्ते शरीरभेदे चारितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यान्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥

(सां०का०, ६८)

बौद्ध दर्शन के अनुसार—**आत्मोच्छेदो मोक्षः** (सर्व०सं०, पृ० ४६२)। अर्थात् आत्मा का विनाश कर देना ही मोक्ष है। चार्वाक दर्शन के अनुसार—**स्वातन्त्र्यं मोक्षः** (सर्व०सं०, पृ० ४६७)। अर्थात् स्वतंत्रता ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः, स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपवर्तते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।** (ब्र०सू०शाँ०भा०, १.१.४)। अर्थात् मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओं से रहित, नित्य तृप्ति, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है। मोक्ष की स्थिति में धर्माधर्म, अपने सुख-दुःख रूप कार्य के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी

शरीर रहित स्थिति को मोक्ष कहते हैं। शिवगीता में कहा गया है कि मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी एक स्थान पर रखी हुई है, वह ऐसी वस्तु भी नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए किसी ग्राम या प्रदेश में जाना पड़े। तथ्य यह है कि हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं--

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

(शि०गी०, १३.३२)

श्रीमद्भगवतगीता में कहा गया है—

कामक्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ (गी० ५.२६)

आशय यह कि काम क्रोध से रहित, जीते हुए चित्त वाले, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए, ज्ञानी पुरुष को अपने आप ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

मोह—मोह शब्द की व्युत्पत्ति 'मुह्' धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—चित्त से रहित हो जाना। अर्थात् चित्तवृत्तियों का शून्यवत् हो जाना मोह है। श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार—मोह इन्द्रियों को दिखाई देने वाला दृश्य है। न्याय दर्शन के अनुसार—**मोहपक्षो मिथ्याज्ञान विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराश्यान्नोपसंख्यायन्ते इति** (न्या०सू०, ४.१.३)। अर्थात् मिथ्या ज्ञान, संशय, न रहने वाले तथा रहने वाले गुणों को अपने में मानना, अपना संसार में उत्कर्ष प्रसिद्ध करना रूप मान तथा कर्त्तव्य कर्म को न करना रूप प्रमाण मोह है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**उपेक्षा विषयत्वं नाम मोहः** (सर्व०सं०, पृ० ६४१)। अर्थात् उपेक्षा का विषय बन जाना ही मोह है। जैन दर्शन में मोहनीय कर्म की चर्चा की गई है। उनके अनुसार यह कर्म दर्शन और चारित्र में मोह उत्पन्न करता है। तत्वार्थ में अश्रद्धा उत्पन्न करना दर्शन में मोहनीय कर्म है और असंयम उत्पन्न करना चारित्र में मोहनीय कर्म है (सर्व०सं०, पृ० १६१)।

य

यज्ञ—यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति 'यज्' धातु में—**यजयाचयतविच्छ प्रच्छरक्षो नङ्** (अष्टाध्यायी, ३.३.९०) इस सूत्र से नङ् प्रत्यय करने से होती है जिसका सामान्य अर्थ होता है -- देवपूजा। किन्तु यदि यज् धातु पर गम्भीरता से विचार करें तो इससे तीन अलग-अलग अर्थ निर्गमित होते हैं। प्रथम देवपूजा, द्वितीय संगतिकरण और तृतीय दान। सभी प्राणियों के कल्याणार्थ अग्नि, जल, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थों का यथोचित उपयोग करना देवपूजा है। ऐसे विद्वानों का सत्संग करना जिससे सभी प्राणियों का कल्याण हो, संगतिकरण कहलाता है। अपने द्वारा अर्जित विद्या, धन, धर्म आदि का प्राणि मात्र के लिए प्रयुक्त करना दान है। श्रौत्रसूत्र (१.२.२) में कहा गया है—**देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञः**—अर्थात् देवता को उद्देश्य में रखकर किसी द्रव्य का त्याग करना यज्ञ कहलाता है। संहिता, ब्राह्मण और धर्म सूत्रों में दो प्रकार के यज्ञों की मुख्य रूप से चर्चा की गई है—श्रौत यज्ञ और स्मार्त यज्ञ। जिनका विधान साक्षात् श्रुति में होता है उन्हें श्रौत यज्ञ कहते हैं एवं जिनका विधान स्मृतियों में होता है उसे स्मार्त यज्ञ कहते हैं। श्रौत एवं स्मार्त दोनों प्रकार के यज्ञों के पुनः तीन भेद किये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। इनके अतिरिक्त भी यज्ञ के अवान्तर एवं प्रकारान्तर भेद किए गये हैं जिनका यहां पर उल्लेख करना असमीचीन है। श्रीमद्‌भगवतगीता में कहा गया है कि प्रजापति ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त हो यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनायें देने वाला हो। इस यज्ञ द्वारा मनुष्य देवताओं की उन्नति करता है और देवता लोग मनुष्य की उन्नति करते हैं—

सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गी०, ३.१०-११)

यज्ञ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा गया है कि यज्ञ के परिणाम स्वरूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगी जन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ रहित पुरुष को यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है। गीता में सत्व, रज एवं तम भेद से यज्ञ तीन प्रकार का माना गया है। जो यज्ञ शास्त्र विधि से नियत कर्तव्य समझकर तथा फल को न चाहने वाले पुरुषो द्वारा किया होता है, वह सात्विक यज्ञ कहलाता है। जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए तथा फल की कामना से किया जाता है उसे राजस यज्ञ कहते हैं। शास्त्र विधि से हीन, अन्नदान से रहित, मंत्र हीन, दक्षिणा रहित एवं श्रद्धा रहित यज्ञ को तामस यज्ञ कहा जाता है –

अफलाकङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ।।
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरत श्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।
विधि हीनमसृष्टान्नं मंत्र हीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।

(गी०, १७.११-१३)

यम—योग दर्शन में योग के अष्ट अंगों में से प्रथम अंग। **यम उपरमे** धातु से यम शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ उपरम अर्थात् अभाव होता है। योग दर्शन के अनुसार—**अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** (यो०सू०, २.३०)। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृत में हिंसा, मिथ्या, स्तेय, मैथुन तथा परिग्रह का क्रमशः अभाव (विरोधी) रूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप उपरम यम कहलाता है। शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति में यम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह संपूर्ण विश्व ब्रह्म है, ऐसा समझकर इन्द्रियों को नियंत्रित करना यम है—

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्राम संयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।। (अपरो०, १०४)

कठोपनिषद् में यम का तात्पर्य आचार्य है जो मृत्यु का देवता है।

युतसिद्धि – दो पदार्थ जो पूर्व में आपस में असम्बद्ध रहकर भी बाद में संयोग द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं तो उसे युतसिद्धि कहते हैं। जैसे भूतल और

घट, पर्वत और वन्हि, दण्ड और पुरुष इत्यादि। यहाँ ध्यातव्य है कि जैसे ही संयोग का विनाश होता है वैसे ही युतसिद्धि का भी अभाव हो जाता है।

योग—योग शब्द की व्युत्पत्ति युज् धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—मिलना, संयोग, तादात्म्य इत्यादि। कठोपनिषद् (२.३.१) में कहा गया है—**कामं योगमिति मन्यन्ते स्थिरानिन्द्रिय धारणम्**—अर्थात् जिसमें इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं उसको योग कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार—**योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः** (यो०सू०, १.२)। अर्थात् चित्त की वक्ष्यमाण प्रमाणादि वृत्तियों का जो निरोधक (रुक जाना) है वह योग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रकृति में सत्व, रज, तम तीन गुण रहते हैं। उनमें लाघव तथा प्रकाश स्वभाव वाला जो सत्व गुण है, उसका परिणाम विशेष चित्त कहा जाता है। उस चित्त की असंख्य वृत्तियां होने पर भी वे वक्ष्यमाण प्रमाण आदि पाँच रूप से संकलित हैं। वे प्रमाणादि चित्त की वृत्तियाँ जिस अवस्था विशेष में निरुद्ध हो जाती हैं, उस अवस्था विशेष को योग कहा जाता है। योग वैशारदीकार श्री वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**क्षिणोति च क्लेशान् योगः**। अर्थात् जो निरोध क्लेश आदि नाश का हेतु हो वह योग कहा जाता है। योग वार्तिककार विज्ञान-भिक्षु के अनुसार—**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् योगः**। (अर्थात् जो निरोध द्रष्टा पुरुष के स्वरूपावस्थिति का हेतु हो, वह योग कहा जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**तत्राप्राप्तस्मार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः** (सर्व०सं०, पृ० ६६) आशय यह कि अप्राप्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करना योग है। पाशुपत दर्शन के अनुसार—**चित्त द्वारेणेव संबंध हेतुः योगः** (पाशु०सू०, ५.२)। अर्थात् चित्त के द्वारा जीव का ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को योग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—क्रिया से युक्त और क्रिया की निवृत्ति। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग है उसे क्रिया युक्त योग कहते हैं तथा जिसकी संज्ञायें निष्ठा, संवित् (सत्वज्ञान), गति (शरणागत) आदि हैं वह क्रिया की निवृत्ति योग्या योग होता है। गीता में योग-विचार वेदों से सम्बद्ध है। इस सन्दर्भ में श्री कृष्ण का यह कथन द्रष्टव्य है—

इयं विवस्ते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः॥

स एवायं मयाते य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। (गी० ४.१-३)

अर्थात् जैसे इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने अपने पुत्र मनु के प्रति कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु के प्रति कहा । इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु हे अर्जुन ! वह योग बहुत काल से इस पृथिवी लोक में लोप हो गया था । वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे (अर्जुन के) लिए वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त प्रिय सखा है । गीता में योग के लक्षण के सन्दर्भ में कहा गया है कि आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को करना चाहिए, क्योंकि यह समत्व ही योग कहा जाता है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्य सिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।
(गी०, २.४८)

योगज—अलौकिक प्रत्यक्ष का भेद । न्याय दर्शन के अनुसार—**योगाभ्यास जनितो धर्म विशेषः योगजः**—अर्थात् योगाभ्यास जनित धर्म विशेष योगज प्रत्यक्ष है । बहुत अधिक समय तक योगाभ्यास करने पर साधक में एक विशेष प्रकार की शक्ति का उदय होता है जिसे न्याय दर्शन में योगज शब्द से अभि-हित किया जाता है । इनकी मान्यता है कि योगियों को इस शक्ति से निकटस्थ, समीपस्थ तथा वर्तमान वस्तु की तरह दूरस्थ, भूत तथा भविष्य की वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध होता है । विश्वनाथ ने भाषा-परिच्छेद में योगज का परिचय देते हुए इसके दो भेदों की चर्चा की है—युक्त योगज तथा युञ्जान योगज । जो साधक सर्वथा योग सिद्ध हो चुका होता है उसे युक्त योगज कहते हैं तथा जिसने आंशिक सिद्धि प्राप्त की है, उसे युञ्जान कहते हैं । बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने न्याय बिन्दु (पृ० १४) में योगज को योगी प्रत्यक्ष स्वीकार करते हुए कहा है—**भूतार्थ भावना प्रकर्ष पर्यन्तजं योगीज्ञान चेति** । अर्थात् जो समाज की चरम अवस्था में अभिव्यक्त होता है वह योगी प्रत्यक्ष है । जैन दर्शन में प्रतिपादित केवल ज्ञान नैयायिकों के योगज प्रत्यक्ष की तरह है । जैसे नैयायिकों के योगज प्रत्यक्ष में योगी को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता वैसे ही जैन दर्शन में

केवली को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता । मीमांसक योगज प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार भूत, भविष्य एवं वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान मात्र वेदों द्वारा ही हो सकता है । मीमांसकों की तरह अद्वैत वेदान्ती भी योगज प्रत्यक्ष को नहीं मानते हैं । आचार्य शंकर का मंतव्य है—**न चातीन्द्रियानर्थां श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुम्** (ब्र०सू०शां०भा०, २.१.१) । आशय यह कि श्रुति (वेद) के बिना अतीन्द्रिय विषयों को कोई उपलब्ध करता है, ऐसी संभावना नहीं की जा सकती । इसी बात को पुष्ट करते हुए शंकर आगे कहते हैं कि यदि कोई यह कहे कि कपिल आदि सिद्धों की तरह अप्रतिहत ज्ञान होने के कारण अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान हो सकता है, तो यह युक्त नहीं, क्योंकि सिद्धि भी सापेक्ष है । सिद्धि धर्मानुष्ठानों की अपेक्षा से होती है और वह धर्म चोदनात्मक विधि प्रमाणक है ।

योग प्रदीप—सम्प्रज्ञात । योग दर्शन के अनुसार—**विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णं सूर्यतुल्यम् । श्रुतौ यथा सूर्यस्यांशः प्रदीपस्तथा संप्रज्ञातोऽपि विवेकजज्ञानस्य सूर्य स्यांश इति योग प्रदीपः** (यो०भा०, ३.५४) । आशय यह कि विवेक ज्ञान से जो परिपूर्ण करता है वह योग प्रदीप है । जैसे सूर्य के प्रकाश से सभी वस्तुयें प्रकाशित होती हैं, वैसे सम्प्रज्ञात अथवा **योग** प्रदीप से भी सभी वस्तुओं का वास्तविक बोध होता है ।

योगांग—योग दर्शन के अनुसार—**यम नियमाऽऽसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि** (यो०सू०, २.२९) । अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ योग के अंग कहे जाते हैं । यहाँ ध्यातव्य यह है कि **योग सूत्र** के प्रथम पाद में पातञ्जलि ने यद्यपि अभ्यास, वैराग्य तथा श्रद्धा-वीर्य को भी योगांग माना है किन्तु इनका अन्तर्भाव इन्हीं आठों अंगों में हो जाने से योगांग आठ ही हैं ।

योगाचार—बौद्ध दर्शन में इसे विज्ञानवाद भी कहा जाता है । योग और आचार का समन्वय करने वाला मत योगाचार कहा जाता है । इस मत में योग के द्वारा मानसिक सत्ता को तो स्वीकार किया जाता है किन्तु बाह्य सत्ता का निषेध किया जाता है । इस परम्परा के प्रमुख आचार्य हैं—दिगनाग, धर्मकीर्ति, असंग आदि ।

योग्यता—**योग्यता च तात्पर्य विषयीभूत संसर्गाबाधः** (वे०परि०, पृ० १८१) । आशय यह कि तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही

योग्यता है। जैसे अग्नि से सिंचता है आदि वाक्य में योग्यता नहीं है क्योंकि उस वाक्य का अग्निकरणक आर्द्रीकरण रूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है।

योगानुशासन—योगानुशासन शब्द योग और अनुशासन दो शब्दों के योग से बना है। **युज्यतेऽनेनेतियोगः योजनं योगः**। यहाँ पर प्रयुक्त योग शब्द सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि का वाचक है। **अनुशिष्यते इति अनुशासनम्** अर्थात् अनु पश्चात्, शासन यानि कि शिष्ट का शासन। गुरु परम्परा से प्राप्त योग का फिर से उपदेश या आरम्भ। आशय यह कि योगानुशासन शब्द के द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि योग का प्रारम्भ पतञ्जलि से नहीं होता बल्कि पहले जिस योग की चर्चा की जा चुकी है उसी का पुनः विस्तार रूप पातञ्जलि द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

योगरूढ़ि—पद शक्ति। नागेश के अनुसार—**यत्र शास्त्रकल्पिता व्यवार्थान्वित विशेष्य भूतार्थं निरूपिते समुदाये बोधकत्वे सा योगरूढ़िः। यथा पंकजादिपदे** (प०ल०म०, पृ० ८९)। अर्थात् जहाँ पर किसी शब्द के प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ की अलग प्रतीति होती है किन्तु वे विशेष अर्थ में एक हो जाती है तो उसे योगरूढ़ि कहते हैं। जैसे पंकज। पंक से उत्पन्न होने वाला पंकज कहलाता है। इस रूप में जितनी भी चीजें 'पंक' से उत्पन्न होती हैं, जैसे कुमुदनी इत्यादि को भी पंकज कहना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं है। पंकज कमल विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, इसलिए यह योगरूढ़ि है।

योगरूढ़ा— **यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।**
सर्वसंकल्प संन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते॥ (गी० ६.४)

तात्पर्य यह कि जिस काल में पुरुष न तो इन्द्रियों के भोग में आसक्त होता है तथा न कर्मों में ही आसक्त होता है उस काल में सर्व संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

योगानुपलब्धि—**योग्ये अधिकरणे अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धिः**। अर्थात् योग्य अधिकरण में प्रतियोगी की प्रतीति न होना योगानुपलब्धि है। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**अनुपलब्धयोग्यता च तर्कितप्रतियोगिसत्व प्रसज्जित-प्रतियोगिकत्वम्। यस्याभावो गृह्यते तस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वे नाधिकरणे तर्कितेन प्रसन्जनयोग्यमापादनयोग्यं यत्प्रतियोग्युपलब्धिस्वरूपं यस्यानुपलम्भस्य**

तदनुपलब्धे योग्यत्वमितिस्वर्थः (वे० परि०, पृ० २६४)। अर्थात् तकत प्रतियोगी के सत्त्व (अस्तित्व) से प्राप्त हुआ प्रतियोगिकत्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित सत्त्व के योग से ऽनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलब्धि ही अनुपलब्धि की योग्यता है। जैसे स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर यहाँ यदि घट होता तो वह दिखाई देता, कह सकते हैं। अतः ऐसे स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर घटाभाव का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। किन्तु अंधकार में "घट होता तो दिखाई देता" ऐसे उपादान का संभव नहीं है। इसलिए वहां पर स्थित घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से नहीं होता।

रजोगुण—सांख्य दर्शन के अनुसार—**रजोति पिशोकादि नानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्**। अर्थात् राग, तृष्णा, शोक आदि का जो उत्पादक है वह रजोगुण है। इसीलिए इसे दुःखात्मक कहा जाता है। गीता (१४.७) में कहा गया है—

> **रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग समुद्भवम्।**
> **तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनम्॥**

अर्थात् रजो गुण का स्वरूप रागात्मक है। यह कामना और आसक्ति से उत्पन्न होता है। वह जीवात्मा को कर्मों की और उनके फल की आसक्ति से बांधता है। गीता में आगे कहा गया है—

> **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
> **रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥** (गी०, १४.१२)।

अर्थात् रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, सांसारिक चेष्टा, सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ बुद्धि से आरम्भ, मन की चंचलता और विषय भोगों की लालसा उत्पन्न होती है।

रस—न्याय दर्शन में रस को गुण माना गया है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेष गुणः** (त०भा०, पृ० २६३)। अर्थात् रसेन्द्रिय से प्रत्यक्ष किये जाने योग्य विशेष गुण को रस कहते हैं। आगे तर्कभाषा में कहा गया है—रस पृथ्वी और जल में रहता है। पृथिवी का रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के भेद से छः प्रकार का होता है और पाकज होता है। जल में केवल मधुर रस रहता है और अपाकज होता

है। तर्क भाषाकार ने नित्य तथा अनित्य भेद से रस दो प्रकार का माना है। जल के परमाणु का रस नित्य और परमाणु से भिन्न समस्त अन्य जल का रस अनित्य होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**रसो रसन ग्राह्यः** (प्र०भा०, पृ० ७०)। अर्थात् रसनेन्द्रिय से ग्रहण किए जाने वाले गुण को रस कहते हैं। प्रशस्त पादाचार्य के अनुसार—**जीवनपुष्टिबलारोग्यनिमित्तम् रसनसहकारी मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषाय भेद भिन्नः** (प्र०भा०, पृ० ७०) अर्थात् रस ही प्राणियों में जीवन, पुष्टि, बल, निरोगता का कारण है। रसेश्वर दर्शन में कहा गया है—**तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसश्चैव रसायनैः** (सर्व०सं०, पृ० ३७७)। आशय यह कि रस से बनी हुई औषधियों का सेवन करने से शरीर को वृद्ध होने से रोका जा सकता है। रसेश्वर सिद्धान्त में कहा गया है कि रस की शक्ति से देवों, दैत्यों और मनुष्यों में बहुत लोगों ने दिव्य शरीर धारण करके जीवन मुक्ति पाई है—

> **देवा: केचिन्महेशाद्या दैत्या काव्यपुरस्सरा: ।**
> **मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः ॥**
>
> (सर्व० सं०, पृ० ३७९)

रसेश्वर दर्शन में रस के अठारह संस्कारों की चर्चा की गई है। वे संस्कार है—स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, स्थापन, पादन, निरोध, नियम, दीपन, गमन, ग्रास-प्रमाण, जारण, विधान, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, क्षारण, संराग, सारण तथा क्रामण और वेक्ष। साहित्य दर्पण में रस के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—

> **विभावेनानुभावेन युक्तः संचारिणा तथा ।**
> **रसतामेति इत्यादिः स्थायी भावः सचेतसम् ॥** (सा०द०, ३.३२)

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारि भाव से व्यक्त करने वाले स्थायी भाव को रस कहते हैं। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत तथा शान्त ये नौ रस माने गये हैं। कुछ लोगों ने वात्सल्य को भी रस के रूप में माना है। इस प्रकार साहित्य शास्त्र में दस रसों की चर्चा की है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है—

> **जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।**
> **नास्ति तेषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥**

रसकर्म—रसेश्वर दर्शन में कहा गया है—

स्वेदेनमर्दन मूर्च्छन स्थापन पातन निरोध नियमाश्च ।
दीपनगमनग्रास प्रमाणमथ जारणविधानम् ॥
गर्भद्रुति बाह्यद्रुतिक्षारण संराग सारणाश्चैव ।
क्रामण वेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म ॥ (सर्व० सं०, पृ० ३८२)

अर्थात् स्वेदन, मदर्न, मूर्च्छन, स्थापन, पादन, निरोध, नियम, दीपन, गमन, ग्रास प्रमाण, जारण, विधान, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, क्षारण, संराग, सारण तथा क्रामण और वेध—ये अट्ठारह रसकर्म हैं ।

राग—दोष भेद । न्याय दर्शन के अनुसार—**रागपक्षः कामो मत्सरः स्पृहा, तृष्णा लोभ इति** (न्या० सू०, ४.१.५) । अर्थात् स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा रूप काम, नष्ट होने वाले पदार्थ के त्याग न करने की इच्छा रूप मत्सर, जिस पदार्थ में अपनी सत्ता नहीं हो ऐसे दूसरे पदार्थ को लेने की इच्छा रूप स्पृहा, जन्मान्तर के कारण रूप आशा नामक तृष्णा एवं अन्याय से दूसरे के धन के अपहरण की इच्छा रूप लोभ को राग कहते हैं । योग दर्शन के अनुसार—**सुखानुशयीरागः** (यो० सू०, २.७) । अर्थात् सुख भोग के अन्तर अन्तःकरण में रहने वाला जो अभिलाषा विशेष है, वह राग कहा जाता है ।

राजयोग—निर्बीज समाधि को ही राजयोग कहा जाता है । योग दर्शन में राजयोग, समाधि, उन्मनी, मन्योन्मी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्बन, निराजन, जीवन्मुक्ति, तुर्या ये सभी पर्याय हैं ।

रूप—इसकी व्युत्पत्ति **रूप्यते इति रूपम्** से होती है, जिसका तात्पर्य जो रूप धारण करे वह धर्म रूप है—यह अर्थ निगमित होता है । बौद्ध धर्म के अनुसार रूप धर्म एक समय में जिस स्थान को ग्रहण करता है वही स्थान दूसरे के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता (बौ०द०मी०, पृ० १८८) । नैयायिक मानते हैं कि **रूपं चक्षुमात्रग्राह्यो विशेष गुणः** (त०भा०, पृ० २६१) । अर्थात् चक्षु मात्र से प्रत्यक्ष किए जाने योग्य विशेष गुण का नाम रूप है । यहां ध्यातव्य यह है कि बौद्ध दर्शन में पांच स्कन्ध माने गये हैं । रूप उनमें से एक स्कन्ध है, जबकि नैयायिक रूप को गुण के रूप में स्वीकार करते हैं ।

रूप स्कन्ध—चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों और उनके रूप शब्दादि विषयों का पुंज रूपस्कन्ध कहलाता है । वसुबंध ने अभिधर्म कोश (१.१३) में कहा है—**रूपणात् रूपमिति इन्द्रियार्थास्ति एवेष्टा दशातनधातवः** । आशय यह कि पांच इन्द्रिय और उनके पांच विषय सभी दश तत्त्व रूप स्कन्ध हैं ।

रेचक—प्राणायाम का एक प्रकार है। योग दर्शन के अनुसार—**कोष्ठस्य वायोर्बहिनिः सारणम्** (सर्व०सं०, पृ० ३७६)। आशय यह कि जिसके द्वारा श्वांस की स्वाभाविक गति का आन्तरिक नियंत्रण होता है, उसे रेचक कहते हैं।



लक्षण—लक्ष्य पदार्थ में विद्यमान असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**लक्षणं त्वसाधारणधर्मवचनम्, यथा—गोः सास्नाविमत्वम्** (त०भा०, पृ० ४)। अर्थात् असाधारण धर्म का प्रतिपादन करना लक्षण है। जैसे—जब सास्नादिमत्व गलकम्बल आदि को 'गौ' का लक्षण कहा जाता है। तब 'गौ' लक्ष्य होता है और गलकम्बल आदि उसका लक्षण होता है। सामान्यरूप से लक्षण के तीन दोष माने जाते हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव; किन्तु इनके अतिरिक्त लक्षण के कुछ अन्य दोष भी है। जैसे—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अप्रसिद्धि इत्यादि।

लक्षणपरिणाम—**धर्मस्य वर्तमानत्वादिर्लक्षणापरिणामः** (सर्व० सं०, पृ० ६८४)। अर्थात् धर्म का वर्तमान होना लक्षणपरिणाम है। जैसे धर्मीस्वरूप से सदा विद्यमान रहने पर भी विभिन्न धर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार प्रत्येक धर्म सदा विद्यमान रहने पर भी भविष्य, वर्तमान और भूत के रूप में विभिन्न लक्षणों से युक्त होता है। यही धर्म का लक्षण परिणाम है।

लक्षणा—न्याय दर्शन के अनुसार—**स्व शक्यसम्बन्धो लक्षणा** (अर्थात् शक्यरूप पदार्थ से सम्बन्ध होना ही लक्षणा है। मीमांसकों के अनुसार—**स्व बोध्यसम्बन्धो लक्षणा**। अर्थात् शक्य रूप पदार्थ तथा वाक्यार्थ दोनों से सम्बन्ध होना ही लक्षणा है। यहां ध्यातव्य यह है कि लक्षणा के लक्षण में दिये गए 'स्व' शब्द का अर्थ नैयायिक मात्र पद के रूप में करते हैं जबकि मीमांसक उसका अर्थ पद तथा वाक्य दोनों रूपों में करते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे। मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।**

अर्थात् जहां पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाण के साथ विरोध रहने से उसका (मुख्यार्थ का) ग्रहण नहीं किया जा सकता, वहां पर मुख्य (वाच्य) अर्थ के साथ अविनाभूत (नित्य सम्बन्ध) अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है। जैसे— **गंगायाम् घोषः**। यहां पर गंगा पद का मुख्य अर्थ प्रवाह है। परन्तु उस प्रवाह पर ग्वाले के घर का रहना सम्भव नहीं। अतः गंगा पद के मुख्यार्थ प्रवाह का प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ विरोध होता है। इसलिए मुख्यार्थ को छोड़कर उसके साथ संयोग संबंध से नित्यसम्बद्ध तीररूप अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसे ही लक्षणा कहते हैं। अद्वैत वेदान्ती भी लक्षणा का लक्षण मीमांसकों के अनुकूल करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**लक्षणा च न पदमात्र वृत्ति, किन्तु वाक्यवृत्तिरपि। यथा—गंभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरायां नद्यामिति पदद्वयसमुदायस्य तीरे लक्षणा** (वे०परि०, पृ० २१७)। तात्पर्य यह कि लक्षणा केवल पदमात्र वृत्ति नहीं है किन्तु वाक्य वृत्ति भी है। जैसे— **गंभीरायां नद्यां घोषः**—गहरी नदी पर ग्वाले का घर है इस वाक्य में गम्भीर और नदी दो पदों के समूह की तीर अर्थ में लक्षणा है। यहां ध्यातव्य यह है कि नैयायिक पद मात्र वृत्ति को लक्षणा मानते हैं वहीं मीमांसक तथा वेदान्ती लक्षणा में पद वृत्ति के साथ-साथ वाक्य वृत्ति भी मानते हैं।

लक्षणाभास—दोषयुक्त लक्षणा को लक्षणाभास कहते हैं। लक्षण के मुख्य-रूप से तीन दोष माने गये हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। किन्तु इसके साथ ही साथ लक्षण के कुछ अन्य दोष भी हैं जिनके कारण लक्षण का कोई जानने योग्य रूप प्रस्तुत ही नहीं हो पाता। ये लक्षण दोष हैं—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अप्रसिद्धि।

लक्षितलक्षणा—लक्षणाभेद। **लक्षिते लक्षितस्य वा लक्षणा लक्षितलक्षणा।** अर्थात् लक्षित में अथवा लक्षित की लक्षणा होने को लक्षितलक्षणा कहते हैं। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तर प्रतीतिस्तत्र लक्षित लक्षणा, यथा द्विरेफ पदस्य रेफद्वय शक्तस्त भ्रमरपद घटित-परम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः** (वे०परि०, पृ० २०१)। अर्थात् जहां पर शक्यार्थ के परम्परासंबंध के द्वारा अर्थान्तर (वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ) की प्रतीति होती है वहां लक्षितलक्षणा होती है। जैसे द्विरेफ अर्थात् दो रेफ (रकार) रूप अर्थ में शक्त पद की भ्रमर पद से घटित परम्परा संबंध से मधुकर रूप अर्थ में वृत्ति है। शक्यार्थ रूप दो रेफों के परम्परासंबंध के द्वारा द्विरेफ

पद से मधुकररूप अर्थ की प्रतीति होने से यह लक्षितलक्षणा है। नैयायिकों के अनुसार लक्षित लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट ने वैयाकरण सिद्धान्त परम लघुमंजूषा (पृ० ३७) में कहा है—**लक्षितलक्षणा स्वबोध्य पद वाच्यत्वं सम्बन्धः**। अर्थात् द्विरेफ शब्द की अपने लक्ष्यभूत भ्रमर शब्द के वाच्य (भौंरा) अर्थ में होने वाली लक्षणा लक्षितलक्षणा कही जाती है। नव्य-नैयायिक लक्षित लक्षण को अलग से न मानकर इसका अन्तर्भाव जहद्लक्षणा में मानते हैं। न्यायमुक्तावलीकार—**लक्षितलक्षणा जहद्लक्षणाएव**—अर्थात् लक्षितलक्षणा जहदलक्षणा में ही अन्तर्निहित है, यह मानते हैं।

लय—लय विक्षेपयो (सां०सू०, ६.३)। अर्थात् चित्त का वृत्तिशून्य होकर संस्कार रूप में स्थित होना लय है। मैत्रायण्युपनिषद् (४.७) में कहा गया है—

> **लय विक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चितम्।**
> **यदा यात्यमनीभावं तदातत् परमं पदम्॥**

योग दर्शन में सम्प्रज्ञात योग को लय योग कहा जाता है। संगीत में द्रुत, मध्य और विलंबित तीन लयों की चर्चा की गई है। काव्यशास्त्र में संश्लेष यानि कि मिलाप को लय कहा गया है।

लययोग—योगदर्शन में सम्प्रज्ञात योग को लययोग कहा जाता है। इसकी विस्तृत व्याख्या सम्प्रज्ञात शब्द के संदर्भ में देखी जा सकती है।

लाभ—**विधियमानमुपायफलं लाभः** (सर्व०सं०, पृ० ३००)। अर्थात् उपाय के फलों को प्राप्त करने को लाभ कहते हैं। ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि के भेद से लाभ पांच प्रकार का होता है।

लिंग—**लय गच्छति इति लिंगम्**। अर्थात् जो अपने कारण में लीन होता है, वह लिंग कहा जाता है। महत्तत्व (बुद्धि) अपने कारण में लीन होता है, अतः उसे लिंग कहा जाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिंगम्** (त०भा०, पृ० ९७)। अर्थात् व्याप्ति के बल से अर्थ का गमकज्ञापक लिंग कहा जाता है। जैसे धूम अग्नि का लिंग है क्योंकि जहां धूम होता है, उस स्थान पर अग्नि अवश्य होती है,। उस व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही धूम अग्नि का गमक होता है, इसलिए व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिंग होता है।

लौकिक—प्रत्यक्ष का भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—इन्द्रिय एवं इसके

विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में लौकिक प्रत्यक्ष को स्वकीर न कर, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है ! वस्तुत: लौकिक प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष दोनों एक ही तरह के प्रत्यक्ष हैं। न्याय दर्शन में लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है—बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और आन्तर लौकिक प्रत्यक्ष। चक्षु, श्रोत, नासिका, त्वचा तथा जिह्वा से प्राप्त होने वाला ज्ञान बाह्य है तथा मन द्वारा यानि कि सुख-दुःख आदि का ज्ञान आन्तर ज्ञान है। यहां ध्यातव्य यह है कि न्याय दर्शन मन को एक आंतरिक इन्द्रिय मानता है इसलिए उसके द्वारा एक अलग से आन्तर ज्ञान का भेद स्वीकार किया गया है किन्तु अद्वैत वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं मानते, अस्तु उनके द्वारा यह भेद अमान्य है।

लौकिक सन्निकर्ष—न्याय दर्शन में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमा का कारण माना गया है। यहाँ लौकिक और अलौकिक भेद से सन्निकर्ष दो प्रकार का माना गया है। इस प्रकार यह (लौकिक सन्निकर्ष) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष (जो प्रत्यक्ष प्रमा का कारण है) का भेद है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**तद्यथा संयोगः, संयुक्त समवायः, संयुक्त समवेत समवाय, समवायः समवेत समवायः, विशेष्य विशेषणभावश्चेति** (त०भा०, पृ० ३३)। अर्थात् लौकिक सन्निकर्ष संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेष्य-विशेषण भाव के भेद से छः प्रकार का होता है।

व

वर्ण—**वर्ण्यंते उपलभ्यते इति वर्ण**—अर्थात् जिसका वर्णन किया जाय वह वर्ण कहलाता है। वाक्यपदीयकार के अनुसार—

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेविशेषकाः।। (वा०प०, १.१०५)

आशय यह कि कण्ठ-तालु आदि के टकराने से कम्प उत्पन्न होता है और कम्प से अकार, इकार आदि वर्णों की उत्पत्ति होती है। कण्ठ-तालु

आदि की अभिघात यदि हलकी (एक सामान्य स्तर की) होती है तो ह्रस्व वर्ण उत्पन्न होता है, परन्तु यदि अभिघात भारी (उच्च या उच्चतर स्तर की) हो तो दीर्घ या प्लुत वर्ण उत्पन्न होता है। अभिघात की मात्रा के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत वर्ण परस्पर भिन्न होते हैं। अभिघात जन्य कम्प की समाप्ति से पूर्व ही ह्रस्व आदि वर्णों के स्वरूप की निष्पत्ति अभिघातमात्रानुसार हो जाती है।

श्लोक वार्त्तिककार के अनुसार—

> **तल्वादिजातयस्तावत् सर्वपुंसां व्यवस्थिता।**
> **वक्ता तावद् ध्वनींस्ताभिरुपलक्ष्य निरस्यति॥**
> **तेषां च जातयो भिन्ना: शब्दाभिव्यक्तिहेतव:।**
> **यावद्वर्ण प्रवर्तन्ते व्यक्तयो वा तदन्विता:॥**
>
> (श्लो०वा०,श० २९६-९७)

आशय यह कि वर्णों की अभिव्यंजिका है—ध्वनि। ध्वनि के प्रेरक हैं—तलवादि स्थान। वे अपनी जातियों से पुरस्कृत होकर सभी वक्ता पुरुषों में व्यवस्थित है। विभिन्न जातीय इन ताल्वादि स्थानों से प्रेरित होने के कारण ध्वनियों की एक जातीयता व्यवस्थित होती है। अतः तालु स्थान से प्रेरित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त वर्ण एक जाति के होते हैं। वर्णों की विभिन्न जातीयता के प्रयोजक वर्णाभिव्यञ्जक ध्वनियों में रहने वाली विभिन्न जातियां हैं। जातियों से युक्त विभिन्न ध्वनि व्यक्तियां ही वर्णों में रहने वाली जातियों की अभिव्यंजिका है।

वर्णव्यवस्था—जातीय व्यवस्था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०.९०.१२) में कहा गया है—

> **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहूराजन्य:कृ त:।**
> **उरूतदस्य यद्वैश्यं पद्भ्याँ शूद्रो अजायत॥**

आशय यह कि उस विराट पुरुष के मुख, भुजाओं, जंघों और पैरों से क्रमश:) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है। श्रीमद्भगगीता में कहा गया है कि गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अविनाशी परमेश्वर के द्वारा रचे गये हैं—

> **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**
> **तस्यकर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥** (गी०, ४.१३

श्रीमद्भगवद्गीता में आगे कहा गया है कि जिन चार वर्णों की परमेश्वर से सृष्टि हुई है उनके अलग-स्वभाव हैं। उनमें से अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमाभाव, मन, इन्द्रिय एवं शरीर की सरलता, आस्तिबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मा का अनुभव ब्राह्मण का स्वभाव है। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में स्थिर रहना, दान और स्वामीभाव क्षत्रिय का स्वभाव है। खेती, गोपालन, क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार यह वैश्य का स्वभाव है। सभी वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वभाव है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।
शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावच क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ (गी०, १८.४२.४४)

इसी बात को गौतम ने मिताक्षरा में कहा है—**ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् क्षत्रियस्य विजितम् निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः।**

वर्ण्यसम—जब वादी के द्वारा दिये गये उदाहरण का विरोध यह कहकर किया जाता है कि उदाहरण का धर्म भी उसी प्रकार प्रदर्शनीय है जिस प्रकार पक्ष का धर्म तत्र वर्ण्यसम होता है। वादी कहता है—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे—घट। प्रतिवादी द्वारा खण्डन होता है—घट अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे—शब्द। यहां पर पक्ष और उदाहरण दोनों की वर्ण्यता की समानता दिखाई जाती है।

वर्तमान—काल। **वर्तमानत्वं च प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम्** (प० ल० म०) अर्थात् वह काल जो एक ऐसी क्रिया का आश्रय है जो आरम्भ किया गया पर सर्वथा समाप्त नहीं हुआ, वर्तमानकाल कहलाता है। जैसे-आत्मा है, पर्वत है इत्यादि। कौण्डभट्ट ने वर्तमान की परिभाषा देते हुए कहा है—**भूतभविष्यद् भिन्नत्वं वर्तमानत्वं।** अर्थात् जो भूतकाल तथा भविष्यकाल से भिन्न है वह वर्तमानकाल है।

वस्तु—संकेत का विषय ही वस्तु है। जैसे घट, पट इत्यादि। सांख्य प्रवचन-भाष्य(१.४४)में कहा गया है—**भावानां विनाशत्वे हेतुर्वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्येति।**

अर्थात् भाव पदार्थ का विनाश (अभाव) हो जाना ही वस्तु का धर्म है। क्योंकि **ना वस्तुनो वस्तुसिद्धिः** (सां० सू०, १.७८)। अर्थात् अभावरूप वस्तु से वस्तुसिद्धि (भाव की उत्पत्ति) नहीं हो सकती। जैसे शश शृंग आदि।

वाक्छल—छल भेद। न्यायसूत्र (१.२.११) में कहा गया है—**अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तर कल्पना वाक्छलम्**। अर्थात् किसी विशेष को न लेकर सामान्य रूप से कहे हुए शब्द के अर्थ में पूर्ववाक्य के कहने वाले के आशय से दूसरे विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना वाक्छल कहलाता है। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने वाक्छल को स्पष्ट करते हुए कहा है—**नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे तु विशेषो न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायाद् विवक्षितमन्यमर्थं नवं कम्बला अस्येति तावदभिहिते भवतेति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति। तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति** (वात्स्या०, १.२.११)। आशय यह है किसी वादी ने "यह ब्रह्मचारी नवकम्बलवाला है ऐसे वाक्य का प्रयोग किया हो तो "नव कम्बल" इस पद से नव (नये) कम्बलवाला यह ब्रह्मचारी है, ऐसा प्रयोग करना वादी का आशय है। किन्तु प्रतिवादी "नव कम्बल" इस पद में नव (नौ) कम्बलवाला यह ब्रह्मचारी है, यह कथन का वादी को जो विवक्षित अर्थ नहीं है, उसकी कल्पना करता है। वादी के "नव" इस (नये एवं नौ) सामान्य शब्द रूप वाणी में छल होने के कारण यह वाक्छल कहलाता है।

वाक्य—मीमांसा दर्शन के अनुसार—अंग और प्रधान बोधक पदों का एक साथ उच्चारण करना वाक्य है। वाक्य के सम्बन्ध में तर्कभाषाकार का मंतव्य है—**अर्थ प्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तर विषयामर्थान्तर विषयां वा आकांक्षाजनयतां प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थाप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्** (त० भा०, पृ० १४१)। आशय यह कि अपने अर्थ के प्रतिपादन द्वारा श्रोता को अन्य पद विषयक अथवा अन्य अर्थ विषयक आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले परस्पर में प्रतीत होने वाले सम्बन्ध के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले एवं एक पुरुष द्वारा अविलम्ब उच्चारित होने वाले पदों के समूह का नाम वाक्य है।

वाग्योग—जैन दर्शन के अनुसार—वचन के परिणाम की ओर अभिमुख आत्मा के प्रदेश का चलना वाग्योग है। शुभ तथा अशुभ के भेद से वाग्योग दो प्रकार का होता है। उनमें से—**सत्यमितहितभाषणादिशुभो वाग्योगः**

एतद्विपरीत्वशुभः वाग्योगः (सर्वं० सं०, पृ० १५७-५८)। अर्थात् सत्य-बोलना, आवश्यकतानुसार बोलना, हित करने वाली बातें आदि शुभ वाग्योग है और झूठ, कठोर, असभ्य आदि भाषण करना अशुभ वाग्योग है।

वाच्य—शब्द का अर्थ वाच्य कहलाता है। वाक्यपदीय में कहा गया है कि जिस अर्थ का किसी शब्द के उच्चारण करने के बाद अव्यवहित ज्ञान होता है वही अर्थवाच्य कहलाता है। भर्तृहरि ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—

अवाच्यमिति यद्वाच्यं तद्वाच्यतया यदा।
वाच्यमित्यवसीयेत् वाच्यमेव यदा भवेत्॥ (वा० प०, ३.२०)

वेदान्त पपिभाषाकार के अनुसार—वाच्य पद और वाच्य दोनों में होता है। जैसे पदजन्य अर्थ वाच्य है वैसे ही वाच्यजन्य अर्थ भी वाच्य होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थः** (सां० सू०, ५.३७)। अर्थात् शब्द अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है उसमें शब्द वाचक और अर्थ वाच्य कहलाता है।

वाद—**तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः** (त० भा०, पृ० ३४४)। आशय यह कि तत्त्व की जिज्ञासा से जो कथा की जाती है अथवा किसी विषय की विचार चर्चा की जाती है, उसका नाम वाद है। यह मुख्य रूप से गुरु और शिष्य के बीच होता है।

वायु—न्यायवैशेषिक दर्शन में द्रव्य-भेद। महर्षि कणाद के अनुसार—**स्पर्शवान वायुः** (वै० सू०, २.१.४)। अर्थात् अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्शगुण युक्त द्रव्य वायु है। प्रशस्तपादभाष्य (पृ० २४) में कहा गया है—**वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः। स्पर्श संख्यापरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागपरत्वसंस्कारवाम्।** अर्थात् वायुत्व जाति के साक्षात् समवाय सम्बन्ध से वायु नामक द्रव्य सिद्ध होता है। उस वायु द्रव्य में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरतत्व तथा वेग—ये नौ गुण रहते हैं। तर्कभाषाकार ने भी वायु के इसी का लक्षण को स्वीकार किया है। तर्कभाषाकर केशव मिश्र के अनुसार—**वायुत्वभिसम्बन्धवान् वायुः** (त० भा०, पृ० २३३)। अर्थात् वायुत्व जाति के अभिसम्बन्ध का जो आश्रय होता है उसे वायु कहा जाता है। निरूप होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। स्पर्श, शब्द, धृति और कम्प इन चार कार्यों से उसका अनुमान होता है। तर्कभाषा में नित्य और अनित्य भेद से वायु दो

प्रकार का माना गया है। परमाणु रूप से वायु नित्य है और द्वयणुक से लेकर महावायु पर्यन्त सारा वायु अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से अनित्य वायु तीन प्रकार का होता है। वायु के लक्षण के प्रसंग में श्रीमद्-भागवत में कहा गया है कि जो वृक्ष की शाखा आदि को हिलाती है, गन्धादियुक्त द्रव्य को घ्राणादि इन्द्रियों के निकट पहुँचाती है, गिरे हुए तृण आदि को एकत्रित करती है, शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय के निकट ले जाती है, वह वायु है—

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥

(भाग०, ३.२६.३७)

वायु की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि आकाश में विकार होने से वायु की उत्पत्ति होती है। स्पर्श उसका गुण है। इसके द्वारा ही इन्द्रियों में स्फूर्ति, शरीर में जीवन शक्ति, ओज और बल होता है—

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।
तस्यमात्रा गुणः शब्दो लिंगम् यद् द्रष्टृदृश्ययोः॥
नभसोऽयं निकुर्वाणाद्भूतस्पर्श गुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छद्वावांश्च प्राणः ओजः सहो बलम्॥

(भाग०, २.५:२५-२३)

सांख्य दर्शन के अनुसार—सामान्य करण वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च (सां० सू०, २.३१)। अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच वायु हैं। इनका विषय अन्तःकरण त्रय (महत्, अहंकार, मन) की सामान्यवृत्ति है। सांख्यकारिका में कहा गया है कि तीनों अन्तःकरणों (महत, अहंकार, और मन) के अपने-अपने लक्षण ही उनके व्यापार हैं। प्राण आदि पंच वायु करणत्रय की साधारण वृत्ति है। इनमें से प्राण वायु नासाग्र, हृदय, नाभि और पैर के अंगुष्ठ में रहता है। अपान वायु पीठ, पाद, पायु, उपस्थ और पार्श्वों में रहता है। समान वायु हृदय, नाभि तथा सभी संधियों में रहता है। उदान वायु हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा और भ्रूमध्य में रहता है। व्यान वायु त्वक में रहता है—

स्वलक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य तेषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्ति प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ (सां० का०, २९)

शांकर वेदान्त में प्राणः को वायु से भिन्न माना गया है। आचार्य शंकर के अनुसार—**न वायुः प्राणः नापि करण व्यापारः, कुतः ? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्ये। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात् वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्** (ब्र०सू० शां० भा०, २.४.६)। अर्थात् प्राणवायु नहीं है और न ही करणों का व्यापार है। क्योंकि प्राण का वायु से पृथक उपदेश है। यदि प्राण वायु होता तो वायु से वह पृथक उपदिष्ट नहीं होता। इसी प्रकार प्राण का इन्द्रिय व्यापार से भी उपदेश है, कारण यह कि वाणी आदि इन्द्रियों का अनुक्रम कर तत्-तत् प्रकरण में प्राण का पृथक अनुक्रम है और वृत्ति तथा वृत्तिमान का अभेद है।

वार्त्तिक—उक्तानुक्त दुरुक्त चिन्ता वार्तिकमिति शास्त्र भेदाः (का० मी०, पृ० ११)। अर्थात् उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का विवेचन वार्तिक कहा जाता है। जैसे न्याय वार्तिक, श्लोक वार्त्तिक इत्यादि।

वासना—बौद्ध दर्शन के अनुसार—**वासना नाम एकसंतानवर्तिनामालय विज्ञानानां सतत्तत्प्रवृत्ति विज्ञान जनन शक्तिः** (सर्व०सं०, पृ० ८३)। अर्थात एक प्रवाह (संतान, परम्परा) में विद्यमान रहने वाले जो आलय विज्ञान हैं वे जब अपने से सम्बद्ध प्रकृति विज्ञानों को उत्पन्न करते हैं तब उसकी उसी शक्ति का नाम वासना है। पूर्णप्रज्ञ दर्शन में कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा को ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहनी, प्रकृति और वासना भी कहते हैं। अधिक उत्पन्न होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं और विचारों को पैदा करने के कारण इसे वासना कहते हैं—

महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्त कथ्यते॥
प्रकृतिः प्रकृष्ट करणाद्वासना वासयेद्यतः॥

(सर्व० सं०, पृ० २६८)

कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि वासना नाम की न कोई वस्तु ही है और न कोई उसका व्यापक प्रमाण ही है। दूसरी बात यह है कि यदि वासना माना भी जाय तो यह पूर्वानुभव से होने वाले संस्कार स्वरूप ही होगी—

प्रमाणं वासनास्तित्वे भेदे वापि न विद्यते।
कुर्याद् ग्राहक भेदं सा ग्राह्यभेदस्तु कृतः॥

(श्लो० वा० औ, १८०)

आगे उन्होंने कहा है कि वास्य (घटादि विषय) एवं वासक (विज्ञान) ये दोनों एक ही समय नहीं रहते। अतः वासना की सत्ता ही अनुपपन्न है; क्योंकि एक ही समय रहने वाले वन्हि और अगुरु से उसी समय विद्यमान धूम ही वासित होता है। अतः पूर्ववर्त्ती विज्ञान उत्तरवर्ती विज्ञान से वासित हो ही नहीं सकता—

वास्यवासकयोश्चैवमसाहित्यान्न वासना ।
पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो वास्यते नोत्तरः क्षणः ।। (श्लो०वा०, औ०, १८२)

विकरणभाव—मधु प्रतिका सिद्धि का भेद। विकरणभाव शब्द का अर्थ है—इन्द्रियों का शरीर-निरपेक्ष विकीर्णतात्मक व्यापित होना। योग दर्शन के अनुसार—**विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकाल विषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः** (यो० सू०, ३.४८)। अर्थात् जिस देश, काल तथा विषय में योगी की अभिलाषा होती है, उसमें देह की अपेक्षा बिना ही इन्द्रियों की गति हो जाती है, जिससे काशी में स्थित योगी भी प्रयाग में स्थित पुरुष का नेत्रादि द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है।

विकल्प—योग दर्शन में वृत्ति-भेद। योग दर्शन के अनुसार **शब्द ज्ञाना-नुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** (यो० सू०, १.९)। अर्थात् जो वृत्ति ज्ञान वस्तु से शून्य (अलीक) पदार्थ विषयक तथा शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से ही अलीक पदा-र्थाकार से अनुपाती (अनुपतनशील) हो, वह विकल्प कहा जाता है। जैसे—"बन्ध्यायापुत्र आता है", इस शब्दजन्य ज्ञान से जो अलीक (शून्य) बन्ध्यापुत्रा-कार चित्त के परिणामरूप वृत्ति विशेष है उसे विकल्प कहा जाता है। इसी तरह "राहोः शिरः" (राहु का शिर) यह कहने पर राहु और शिर का परस्पर भेद प्रतीत होने से विशेषण-विशेष्यभाव प्रतीत होता है। किन्तु राहु और शिर का जो भेद प्रतीत होता है वह बोध के बाद विचार करने पर वास्तविक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जो राहु है वही शिर है। अतः वस्तु शून्य भेद को विषय करने वाला होने से "राहोः शिरः" यह ज्ञान विकल्पात्मक है।

विकल्पसम—जिसमें प्रतिवादी किसी वाद का खण्डन करने के लिए पक्ष और दृष्टान्त पर वैकल्पिक धर्मों का आरोप करता है, वहाँ पर विकल्पसम होता है (सर्व० सं०, पृ० ४७०)।

विकार—न्याय दर्शन के अनुसार—**विकार धर्मो द्रव्यसमान्ये यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वो व्यूहो निवर्तते व्यूहान्तरं चोप-**

जायते तं विकारमाचक्षते (वात्स्या० सू०, २.२.४५)। अर्थात् मृत्तिका अथवा सुवर्णरूप जो द्रव्य होता है उसका अपना मृत्तिका अथवा सुवर्ण का सम्बन्ध रहते हुए उसका पूर्व अवयविरूप हटकर दूसरे घट, अलंकाररूप अवयवी के जो स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उसी को विकार कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार—स्थिर रहने वाले धर्मों के पूर्व-पूर्व धर्मों का तिरस्कार होकर दूसरे धर्म का प्रकट होना ही विकार है। सांख्य दर्शन में—**षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव** (सर्व० सं०, पृ० ६२७)। अर्थात् सोलह संख्या से परिमित गण (समुदाय) को ही विकार कहा जाता है। वेदान्तसार में कहा गया है—**सतत्वतोऽन्यथा-प्रथा विकार इत्युदीरतः** (वे० सा०, पृ०, १५४)। अर्थात् किसी वस्तु का अन्य रूप से प्रसिद्ध होना विकार कहलाता है। जैसे दूध का अपने स्वरूप को छोड़कर दही के आकार में परिणत हो जाना विकार है।

विक्षिप्त—योग दर्शन में चित्त-भूमि। योग दर्शन के अनुसार चित्त की वह अवस्था जिसमें सत्व गुण के आविर्भाव से वह (चित्त) किसी विशेष विषय में कुछ समय के लिए स्थिर हो जाता है (यो०, सू० १.१)। ऐसा चित्त देवताओं में सदा ही रहता है।

विक्षेप—न्याय दर्शन में निग्रह स्थान। **विक्षिपन्ति योगाद् अपनयन्ति इति विक्षेपः।** अर्थात् जो चित्त को विक्षिप्त करता है उसे विक्षेप कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—**कार्याव्यासंगात्कथा विच्छेदो विच्छेपः** (न्या०सू०, ५.२.१९)। अर्थात् किसी कार्य के करने के बहाने से कथा का भंग करना विक्षेप निग्रहस्थान कहलाता है। भाष्यकार वात्स्यायन का इस संदर्भ में मंतव्य है—जिस समय किसी करने योग्य कार्य की आसक्ति दिखाकर वादी या प्रतिवादी कथा को भंग कर देता है कि मुझे यह कार्य करना है, उसके समाप्त होने के पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर दूंगा। इस प्रकार के कथन को विक्षेप निग्रह-स्थान कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में विक्षेप को माया की शक्ति माना गया है। जिस प्रकार रज्जु विषयक अज्ञान, अपने द्वारा ढंकी हुई रज्जु में, अपनी शक्ति से, सर्प इत्यादि की उद्भावना कर देता है उसी प्रकार अज्ञान (माया) अपने द्वारा ढंकी हुई आत्मा में अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाशादि कार्य समूह की उद्भावना कर देता है। सुबोधिनी में कहा गया है—**ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत जलबुद्बुदवत नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेप शक्तिः।** अर्थात् विक्षेप शक्ति वह है जिससे ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक समस्त नाम-रूपात्मक जगत की जल में बुलबुलों की भाँति सृष्टि होती है। वेदान्तसार

(पृ० ६४) में कहा गया है—अखण्डवस्त्व नवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। अर्थात् अखण्ड वस्तु का आलम्बन न करने के कारण चित्त वृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना विक्षेप है। योग दर्शन में कहा गया है—व्याधिस्त्यान संशय प्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्ति दर्शनाऽलब्ध भूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायः (योग० सू०, १.३०)। अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व ये नव चित्त के विक्षेपक हैं। इन्हें योग में विघ्नरूप कहा जाता है। क्योंकि ये योग के विरोधी होते हैं।

विग्रह—न्याय दर्शन के अनुसार—निर्देशे यथावचनं विग्रह (वात्स्या०, १.१.१.)। तात्पर्य यह कि प्रमाणादि के लक्षण सूत्रों, जो एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के भेदों के ग्रहण करने का प्रयोजन है, वही विग्रह कहलाता है।

विच्छिन्न—क्लेश का अवान्तर भेद। योग दर्शन के अनुसार—विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशनाभिभवः (सर्व० सं०, पृ० ५९५)। अर्थात् विच्छिन्न क्लेश तब होता है, जब वह किसी दूसरे अधिक बलवान क्लेश के ही द्वारा परास्त कर दिया जाता है। जैसे द्वेष की अवस्था में राग विच्छिन्न हो जाता है और राग की अवस्था में द्वेष।

विजातीय—वस्तुगत भेद। प्रतियोगी का दूसरी जाति का होने पर जो भेद होता है वह विजातीय कहलाता है। जैसे—पेड़ का पत्थर से भेद या परमात्मा का आकाशादि से भेद विजातीय है।

विज्ञान—बौद्ध दर्शन में विज्ञान को चित् तथा मन का पर्याय माना गया है। विज्ञान का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लंकावतार सूत्र में कहा गया है कि जो विषय-ग्रहण का कारण होता है उसे विज्ञान कहते हैं—

चित्तमालयविज्ञानं मनोयत्मनत्यात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते॥

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के अनुसार—जो सम्पूर्ण जागतिक सत्ता का आधार है वह विज्ञान है। वह इसके अनेक रूप को मानता है। उसके अनुसार—विज्ञान द्रव्य है, विज्ञान विचार है, विज्ञान एक इकाई है, विज्ञान कूटस्थ है, विज्ञान भौतिक वस्तुओं का सार है, विज्ञान पूर्ण है, विज्ञान देश तथा काल से

परे है, विज्ञान व्यापक है इत्यादि। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च प्रसिद्धिज्ञानं विज्ञानम्** (सर्व० सं०, पृ० ३०५)। अर्थात् सिद्ध के द्वारा सभी शास्त्रों के विषयों को ग्रन्थ (पंक्ति) और उसके अर्थ के साथ जान लेना विज्ञान है।

विज्ञानकल—शैव दर्शन में जीव-भेद। शैव दर्शन के अनुसार—**विज्ञान-योगसंन्यासैर्भोगेन वा कर्मक्षये सति कर्मक्षयार्थस्य कलादि भोगबन्धस्य अभावात् केवलमलमात्रयुक्तो विज्ञानकल इति व्यपदिश्यते** (सर्व०सं०, पृ० ३३५)। अर्थात् जो केवल कल से युक्त होता है उसे विज्ञानकल कहते हैं, क्योंकि इसमें विज्ञान (परतत्व के स्वरूप का ज्ञान), योग और संन्यास अथवा योग से कर्म का विनाश हो जाता है तथा कर्मक्षय के लिए बने कला आदि भोगबन्ध (शरीर) का अभाव रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि विज्ञान के कारण अकलता प्राप्त होती है इसलिए इसे विज्ञानकल कहते हैं। विज्ञानकल दो प्रकार का होता है—(१) जिनका कलुष समाप्त हो गया है और (२) जिनका कलुष समाप्त नहीं हुआ है।

वितण्डा—**स्वपक्ष स्थापना हीनो वितण्डा** (त०भा०, पृ० ३४८)। आशय यह कि जिस कथा में अपने पक्ष की स्थापना न कर केवल परपक्ष का खण्डन ही किया जाता है उस कथा का नाम वितण्डा है। वितण्डा भी जल्प जैसी ही होती है। अन्तर केवल इतना है कि जल्प में परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना करनी पड़ती है, किन्तु वितण्डा में एकमात्र परपक्ष का खण्डन ही किया जाता है।

विदेह—योग दर्शन में कहा गया है कि पञ्चभूत तथा एकादश इन्द्रियरूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो उपासना करते हैं, वे विदेह कहे जाते हैं (यो०भा०, १.१९)।

विधारण – सांख्य दर्शन के अनुसार—**निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्** (सां० सू०, ३.३३)। अर्थात् उचित उपाय से कोष्ठ में वायु का धारण करना विधारण कहलाता है। योग दर्शन के अनुसार—**विधारणं प्राणायामा** (यो०सू०, १.३४) अर्थात् बाहर निकले हुए वायु को सहसा भीतर प्रवेश न होने देना, किन्तु बाहर ही स्थापना करना विधारण कहलाता है। विज्ञानभिक्षु कुम्भक को ही विधारण कहते हैं।

विधि—जैन दर्शन के अनुसार—अज्ञात ज्ञापक वाक्य जो प्रेरणा प्रदान करे उसे विधि कहते हैं। जैसे स्वर्ग कामोयजेत्। इसके चार भेद हैं—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि, तथा प्रयोग विधि (सर्व० सं०, पृ० १२१)। पाशुपत दर्शन के अनुसार—धर्म रूपी अर्थ (लक्ष्य) की सिद्धि कराने के लिए जो भी व्यापार करें, वह विधि है। इन्होंने इसके दो भेद किए हैं—प्रधान विधि और गौण विधि। जैमिनि दर्शन में अज्ञात वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को विधिवाक्य कहते हैं। 'जैसे स्वर्ग की कामना करने वाले को अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए' (सर्व०सं०, पृ० ५७)।

विपक्ष—जिस धर्मी साध्याभाव का निश्चय हो उसे विपक्ष कहा जाता है। जैसे—"पर्वत में अग्नि है" इस अनुमान में जलहृद को विपक्ष कहा जायेगा। क्योंकि उसमें साध्य अग्नि का अभाव निश्चित रहता है।

विपर्यय—विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद् ग्रहः भ्रम इति यावत् (त० भा०, पृ० ३१९)। अर्थात् जहां जिस वस्तु का अभाव होता है, वहां यदि उस वस्तु का अनुभव हो तो उस अनुभव को विपर्यय कहते हैं। जैसे परोवर्ती रजत भिन्न शुक्ति में रजत का बोध विपर्यय है।

विपाक—विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः (सर्व०सं०, पृ० ७०३)। अर्थात् कर्मों के फलों को विपाक कहते हैं। विपाक तीन माने गये हैं—जाति (जन्म), आयु (जीवन का समय) तथा भोग (सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले साधनों का प्रयोग)।

विभव—वैशेषिक दर्शन के अनुसार—विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा (वै०सू०, ७.१.२२८)। अर्थात् जो सर्वव्यापक होता है उसे विभव कहा जाता है। जैसे आकाश तथा आत्मा। ये विभुत्ववान (सर्व व्यापक) होने के कारण विभव हैं। रामानुज के अनुसार—रामाद्यवतारोविभवः (सर्व०सं०, पृ० २२३)। अर्थात् राम आदि के रूप में अवतार को विभव कहते हैं। यह मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का होता है। जब परमात्मा अपनी इच्छा से भक्तों पर कृपा करने के लिए अवतरित होता है तब उसे मुख्य विभव कहते हैं। जैसे गीता का यह कथन कि धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने पर साधु पुरुषों का उद्धार तथा दूषित कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए ईश्वर स्वयं प्रकट होता है, यह मुख्यविभव का उदाहरण है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (गी०, ४.७-८)

गौण विभव वह होता है, जिसमें ईश्वर आदेश के साथ अवतरित होता है। जैसे प्रह्लाद की रक्षा तथा हिरण्यकश्यप के विनाश के लिए नरसिंहावतार गौण विभव का उदाहरण है।

विभाग—गुण। न्याय दर्शन के अनुसार—**विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः** (त०भा०, पृ० २७८)। अर्थात् जो गुण "यह द्रव्य इस द्रव्य से विभक्त है" इस शब्द से अभिहित होने वाली प्रतीति का असाधारण कारण होता है उसे विभाग कहा जाता है। जैसे वृक्ष से कौवे के उड़ने पर वृक्ष कौवे से अलग हो गया, इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति के पूर्व वृक्ष और कौवे का जो परस्पर अलगाव होता है वही वृक्ष के साथ कौवे का विभाग है। तर्कभाषाकार के अनुसार—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥
(त०भा०, पृ० २७८)

अर्थात् जिन दो द्रव्यों का पहले से परस्पर संयोग रहता है, उन्हीं का परस्पर विभाग होता है। विभाग दो द्रव्यों में आश्रित होता है, अर्थात् जो द्रव्य परस्पर संयुक्त रहते हैं वे ही परस्पर विभक्त होते हैं। अतः विभाग एक द्रव्यमात्र में आश्रित न रहकर उभयाश्रित होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**प्राप्ति पूर्विका प्राप्तिविभागः। स च त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजो विभाग जश्च विभागः इति** (प्र० भा०, पृ० १०७)। अर्थात् संयोगपूर्वक प्राप्ति के अभाव को विभाग कहते हैं। यह अन्यतर कर्मज, उभय कर्मज तथा विभागज के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें दो द्रव्यों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग अन्यतर कर्मज है। जैसे—वृक्ष तथा पक्षी इन दो में से केवल पक्षी की क्रिया से वृक्ष तथा पक्षी का विभाग होता है, अतः यह अन्यतर कर्मज विभाग है। अपने आश्रयभूत दोनों द्रव्यों के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग उभय कर्मज है। जैसे—मल्ल की क्रिया में दोनों लड़ने वालों का परस्पर पृथक होना उभयकर्मज है। हस्त और वृक्ष के परस्पर विभाग से शरीर का जो

प्रयत्नात्मक उत्साह होता है, उसे वीर्य कहते हैं। वह (वीर्य) सविषयक पदार्थ होने से वह भी अपने विषय स्मृति को उत्पन्न करता है।

विभु—विभु का अर्थ है—व्यापक होना। शैव दर्शन के अनुसार—

अनवच्छिन्न सद्भावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥
(सर्व० सं०, पृ० ३३३)

अर्थात् जो वस्तु देश और काल की इयत्ता से रहित सत्ता धारण करती है, उसे विभु कहते हैं। जैसे—आत्मा। देश और काल के द्वारा आत्मा की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता, अस्तु वह विभु है। न्याय दर्शन में आकाश को विभु माना गया है। क्योंकि वह देश और काल की सीमा के परे है। इसलिए उसे नित्य भी माना गया है। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को विभु माना गया है।

विमर्श—इसका सामान्य अर्थ होता है विचार करना, विपरीत निर्णय लेना, संदेह करना इत्यादि। न्याय दर्शन के अनुसार—**विमर्श संशयः** (न्या० सू०, १.१.२३)। अर्थात् विरुद्ध दो पक्षों का विषय करने वाला ज्ञान विमर्श कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार—**चिद्रूपत्वमनवच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वामानन्यैकघनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः। स एव ह्ययं भावात्मा विमर्शः शुद्धे परमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये तत्र प्रकाश-रूपता ज्ञानम्** (सर्व० सं०, पृ० आशय यह कि ३६३)। ज्ञान-क्रिया शान्ति का अव्यवहित यानि कि उपाधि-हीन होना विमर्श है। यहाँ पर शुद्ध विमर्श अर्थात् शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया ईश्वर में ही माना गया है। अपने ज्ञान से वह सभी वस्तुओं का प्रकाशन करता है। सभी वस्तुएं उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार स्वयं ईश्वर।

विमोक—कामनाओं में आसक्ति न रखने को विमोक कहते हैं। (सर्व० सं०, पृ० २३८)

विराम—**वृत्तीनामभावो विरामः** (यो० सू०, १.१८)। अर्थात् वृत्ति के अभाव को विराम कहते हैं। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह कि विराम वह प्रत्यय है जहाँ पर चित्त की सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। वैयाकरण वर्ण के अभाव को विराम कहते हैं।

विरुद्ध—जब साध्य का साधन करने के लिए किसी ऐसे हेतु का प्रयोग

कर दिया जाता है जो साध्य का व्याप्य न होकर साध्य के विरोधी साध्याभाव का व्याप्य होता है, तब वह हेतु विरुद्ध कहा जाता है (त० भा०, पृ० १२१)।

विवरण—शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में प्रकाशात्मयति द्वारा प्रतिस्थापित **एक स्वतंत्र मत**। इसे ही विवरण परम्परा, विवरण प्रस्थान या विवरण मत कहते हैं। पद्मपादाचार्य की पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति ने "पंचपादिका विवरण" की रचना की जिससे अद्वैत वेदांत में एक भिन्न विचारधारा निर्गमित हुई। इस परम्परा में जो अन्य आचार्य हैं उनके नाम व ग्रंथ हैं—आत्मस्वरूप—प्रबोधपरिशोधिनी, विज्ञानात्मा—तात्पर्यार्थद्योतिनी, विष्णुभट्टोपाध्याय—ऋजुविवरण, चित्सुखाचार्य—विवरणतात्पर्यदीपिका, नृसिंहाचार्य—विवरणभाव प्रकाशिका, विद्यारण्य—विवरणप्रमेय संग्रह, रामानन्द स्वामी—विवरणोपन्यास इत्यादि।

विवर्त्त—अद्वैत वेदांन्त के अनुसार—**विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक-कार्यापत्तिः** (वे० परि०; पृ० १००)। अर्थात् उपादान की सत्ता की अपेक्षा विषम सत्ता से युक्त कार्य की प्राप्ति होना विवर्त्त कहलाता है। वेदान्तसार में कहा गया है—**अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त** इत्युदाहृतः (वे० सा०, पृ० १५४)। अर्थात् जब कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग किए बिना ही दूसरे रूप में भासित होने लगती है तो उसे विवर्त कहते हैं। जैसे—रस्सी अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही सर्प के रूप में प्रतीत होने लगती है। यह प्रतीति ही विवर्त है। स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी (१३.९) में कहा है—**अवस्थान्तर भानं तु विवर्तो रज्जु सर्पवत्**। अर्थात् पूर्व अवस्था का त्याग किये बिना ही दूसरी अवस्था का भासित होना उस वस्तु का विवर्त है। जैसे—रज्जु का रज्जु रूप में रहने पर भी सर्प में भासित होना विवर्त है। व्याकरण दर्शन के अनुसार—किसी वस्तु में वस्तुतः कोई परिवर्तन हुए बिना जो परिवर्तन दिखाई देता है, दूसरी आकृति या क्रिया का जो भान होता है वह विवर्त है। जैसे—कभी-कभी चमकीली सीपी चांदी प्रतीत होती है या रस्सी सांप दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में सीपी या रस्सी में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, फिर भी चाँदी या साँप की प्रतीति होती है। यहाँ पर विवर्त को "**स्वप्न प्रतिभासवत्**" माना गया है। स्वप्न में भी ऐसा ही होता है, जो सचमुच नहीं है। आकार और क्रिया के भेद से विवर्त दो प्रकार का होता है। शब्द ब्रह्म के विवर्त गो-घटादि पदार्थ अपने-अपने रूपों में दिखाई देते हैं और चलते-फिरते,

बनते-बिगड़ते भी दिखाई देते हैं। रस्सी को साँप देखने वाले में वास्तविक साँप की भाँति भय का उद्वेग भी होता है और पलायन की प्रतिक्रिया भी—**एकस्य तत्वाद प्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्यारूपेणोपग्राहिता विवर्त्तः, स्वप्नविषयाप्रतिभासवत्। स च द्विविधः। मूर्ति विवर्तः क्रियाविवर्तश्च। तथा हि क्षीणालोके निपतितायां रज्जौ कस्यचिदागन्तुकस्य सर्पप्रतिभासः सर्परूपोपग्राहिता वा भवति, तदयं मूर्ति विवर्तः। यदि च प्रसर्पणजिह्वासंचालनप्रतिभासोऽपि भवति, तदयम् क्रिया विवर्तः** (हरिवृषभवृत्ति, वा० प०, १.१)।

विवेक—ज्ञान। सांख्य दर्शन के अनुसार—प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान विवेक कहलाता है। रामानुज दर्शन के अनुसार—**विवेको नामादुष्टान्नात्सत्वशुद्धि** (सर्व० सं०, पृ० २३८)। अर्थात् अदूषित अन्न से सत्व (प्रकृति) की शुद्धि विवेक है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**नित्यानित्यवस्तुविवेकः** (ब० सू० शां० भा०, १.१.१)। अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तु में भेद करना विवेक है। जैसे—संसार के समस्त विषय काल की सीमा से आबद्ध होने के कारण अनित्य हैं और ब्रह्म त्रिकालाबाधित होने के कारण नित्य है। यहाँ पर जब किसी जीव के द्वारा इस अनित्य रूप जगत और नित्य रूप ब्रह्म का अलग-अलग रूप से इन दोनों (ब्रह्म और जगत) का बोध हो जाता है तो वही विवेक कहलाता है।

विशिष्टाद्वैत—परमतत्व का विवेचन एक विशिष्ट प्रकार से करने के कारण रामानुज के दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। उनके अनुसार चित् और अचित् ये दो परमतत्व के विशेषण हैं। वह (परमतत्व) इन दो विशेषणों से विशिष्ट होकर भी एक ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। रामानुज परमतत्व या ब्रह्म के निर्गुण रूप का निराकरण करते हैं और विशेष गुणों से युक्त सगुण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—

सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं।
तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरं॥

(ब्र० सू० श्रीभाष्य, २.१.९)

अर्थात् चित् और अचित् ईश्वर या ब्रह्म के शरीर हैं। ईश्वर अंशी है और चित्-अचित् उसके अंश हैं। इन दोनों (चित्-अचित्) में ईश्वर अन्तर्यामी रूप से

निवास करता है।

विशुद्धि—**मिथ्याज्ञानादि नामत्यन्तव्ययोहो विशुद्धिः**। (सर्व० सं०, पृ० ३०२)। अर्थात् मिथ्या ज्ञान आदि का सर्वथा विनाश हो जाना विशुद्धि है। अज्ञान हानि, अधर्म हानि, आसक्ति हेतु की हानि, च्युति हानि और पशुत्व हानि के भेद से विशुद्धि पाँच प्रकार की मानी गई है।

विशेष—पदार्थ। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**विशेषो नामान्योन्याभाव-विरोधि सामान्यरहितः समवेतः** (सर्व० सं०, पृ० ४०७)। अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य से रहित हो वह विशेष कहलाता है। विशेष पदार्थ के द्वारा एक परमाणु में अन्य सजातीय परमाणु से भेद मात्र की प्रतीति होती है। प्रशस्तपाद के अनुसार—**अन्तेष्षुभवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः** (प्र० भा०, पृ० २८४)। अर्थात् विनाश तथा उत्पत्ति रहित होने से अन्त शब्द से प्रतिपादन योग्य पृथिव्यादि चार द्रव्यों के परमाणु तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन इन प्रत्येक द्रव्यों में पृथक्-पृथक् एक-एक वर्तमान होकर जो परस्पर अत्यन्त भेद बुद्धि उत्पन्न करते हैं उसे विशेष पदार्थ कहते हैं। तर्कभाषाकार केशव मिश्रा अनुसार—**विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्र हेतुः। नित्य द्रव्याणित्वाकाशादीनि पञ्च। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणु रूपाः** (त० भा०, पृ० ३०७)। आशय यह कि विशेष पदार्थ नित्य होता है और नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसका लक्षण है—अनुगताकार प्रतीति का हेतु न होते हुए भेद प्रतीति का हेतु होना विशेष कहलाता है। जैसे अन्य वस्तुएँ अपवित्र मांस के सम्पर्क से अपवित्र होती हैं किन्तु मांस किसी अन्य मांस के सम्पर्क से अपवित्र नहीं होता, अपितु स्वतः अपवित्र होता है उसी प्रकार एक जातीय नित्य द्रव्यों का परस्पर भेद विशेष से होता है, और "विशेष" का परस्पर भेद स्वतः होता है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन यह पाँच तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु—यह चार, इस प्रकार कुल नौ द्रव्य नित्य हैं। विशेष पदार्थ इन्हीं द्रव्यों में आश्रित होता है।

विशेषणासिद्ध—स्वरूपासिद्ध हेतु दोष का भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—जिस हेतु का विशेषण भाग आश्रय पक्ष में नहीं रहता, वह विशेषणासिद्ध होता है। जैसे—शब्दनित्य है, द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व का आश्रय होने से। इस अनुमान में अस्पर्शत्वमात्र हेतु नहीं है किन्तु **द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व**

हेतु है । इसमें अस्पर्शत्व स्पर्शशून्य विशेष्य है और द्रव्यत्व विशेषण है । पक्षभूत शब्द गुण है, इसमें उक्त हेतु का द्रव्यत्वरूप विशेषण भाग नहीं रहता । अतः उक्त हेतु विशेषणासिद्ध है (त० भा०, पृ० ३५०) ।

विशेष्यासिद्ध—जिस हेतु का विशेष्य भाग आश्रय पक्ष में नहीं रहता वह विशेष्यासिद्ध होता है । जैसे—शब्द नित्य है, अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व का आश्रय होने से । इस अनुमान में अस्पर्शत्व विशिष्ट द्रव्यत्व हेतु है । इसका विशेष्य भाग द्रव्यत्व शब्द रूप गुणात्मक पक्ष में नहीं रहता । विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट का भी अभाव होता ही है । अतः शब्द पक्ष में अस्पर्शत्व रूप विशेषण के रहने पर भी द्रव्यत्वस्वरूप विशेष्य का अभाव होने से अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व का अभाव है । इसलिए यह हेतु शब्दात्मक पक्ष में विशेष्यासिद्ध है (त० भा०, पृ० ३५०) ।

विशोका—**सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपा विशोका सिद्धिः** (सर्व० सं०, पृ० ७३५) । अर्थात् सभी भावों (सत् पदार्थों) का स्वामी बन जाना आदि के रूप में प्राप्त योग सिद्धि विशोका है ।

विषमव्याप्ति—यदि नियत साहचर्य एक ही पक्ष में रहे तो उसे विषम व्याप्ति कहते हैं । जैसे धूम कभी अग्नि के बिना नहीं पाया जाता, किन्तु अग्नि बिना धुंए के भी पाई जाती है । एकदेशीय नियत साहचर्य के कारण इसे विषमव्याप्ति कहा जाता है ।

विषय—अनुबंध । वेदान्तसार में कहा गया है—**अनुबंधो नामाधिकारिविषय सम्बन्ध प्रयोजनानि** । अर्थात् अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन को अनुबंध कहा जाता है । इसमें किसी शास्त्र या ग्रन्थ के प्रतिपाद्य वस्तु को विषय कहा जाता है । जैसे—न्याय दर्शन का विषय है—प्रामाणादि सोलह पदार्थ । किसी भी शास्त्र के अध्ययन के लिए अध्येता को उसके विषय की जानकारी होनी चाहिए । क्योंकि जब तक वह उसके विषय से परिचित नहीं होता, तब तक वह उस शास्त्र की ओर उन्मुख नहीं होगा । कहीं-कहीं विषय को अधिकरण का भी भेद माना गया है । मीमांसा दर्शन के अनुसार जिस पर आधृत होकर कोई विचार प्रवृत्त होता है, उसे विषय कहते हैं । जैसे—'**स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः' इत्येद्वाक्यं विषयः** (सर्व० सं०, पृ० ५२२) । अर्थात् स्वाध्याय यानि कि वेद का अध्ययन करना चाहिए—यह वाक्य ही विषय है ।

कुमारिल भट्ट के अनुसार—बुद्धि बिना विषय के नहीं होती है। गवादि में जो अनुवृत्ति प्रत्यक्ष स्वरूप बुद्धि होती है गोत्वादि जातियाँ उस बुद्धि के विषय हैं—**विषयेण हि बुद्धीनां विना नोत्पत्तिरिष्यते।** (श्लो० वा०, आ०, ३७)।

वृत्ति—इसका सामान्य अर्थ होता है अस्तित्व, अवस्था इत्यादि। योग दर्शन में चित्त के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। जैसे ब्राह्मण के जीवन निर्वाह का साधन यजमान कर्म है अतः यजमान कर्म वृत्ति कहलाता है, वैसे ही वृत्ति के अचित्-चित्त की स्थिति अर्थात् निर्वाह का साधन होने से प्रमाण आदि परिणाम चित्त की वृत्ति कहलाते हैं। वृत्ति की विशिष्टता को प्रतिपादित करते हुए योगसूत्र के व्यास भाष्य (१.४) में कहा गया है **व्युत्थाने याश्चि-याश्चित्तवृत्तयस्तद विशिष्टवृत्तिः पुरुषः।** आशय यह कि जैसे जपाकुसुम और स्फटिक के सन्निधान होने पर ऐक्य भ्रांति होने से जपाकुसुम की अरुणिमा स्फटिक में भासती है वैसे ही बुद्धि और पुरुष के सन्निधान होने पर बुद्धि और पुरुष में ऐक्य भ्रांति होने से बुद्धिगत शांत, घोर, मूढ़ादि वृत्तियाँ पुरुष में भासित होती हैं। वह पुरुष अपने में आरोपित शान्तादि वृत्तियों के कारण 'मैं शान्त हूं, मैं घोर हूं, मैं मूढ़ हूं,' इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है। योग दर्शन में पाँच प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं—प्रमाण-वृत्ति, विपर्यय वृत्ति, विकल्पवृत्ति, निद्रावृत्ति तथा स्मृतिवृत्ति। सांख्य दर्शन में वृत्ति को द्रव्य माना गया है। सांख्य प्रवचन भाष्य (पृ० २२८) में कहा गया है कि वृत्ति न इन्द्रियों का अंश है और न रूपादि की तरह गुण है। वृत्ति इन्द्रिय का परिणाम है। अतः इन्द्रियावस्थित है। वह सम्बद्ध विषयाभिमुख है और विषयोपराग से अनुरञ्जित हैं। वृत्ति प्रसर्पण क्रिया योगिनी है। वह घटादि सदृश देशव्यापी द्रव्य की तरह द्रव्य नहीं है। यहाँ पर वृत्ति कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यजन-याजनादि द्वारा ब्राह्मण जीवित रहते हैं, अतः वे कर्म उनकी वृत्ति कहलाते हैं उसी प्रकार वृत्तियों से चित्त व्यक्त रहता है। अतः वे वृत्ति कहलाती हैं। यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि योग एवं सांख्य दोनों दर्शनों की वृत्ति विषयक व्याख्या की दृष्टि एक ही है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर के अनुसार अन्तःकरण की अवस्था विशेष वृत्ति है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—**कामादयश्चास्य वृत्तय इति** (ब्र० सू० शां० भा०, २.३.३२)। वृत्ति के स्वभाव को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं—**प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्यचाकारकत्वात्** (ब्र० सू०शां०भा०, २.४.६) अर्थात् समस्त कारणों की एक वृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय की

पृथक् एक-एक वृत्ति है। स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी (१०.१७) में कहा है—**अन्तस्थाभी सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः**। तात्पर्य यह कि अन्तस्थ बुद्धि का इन्द्रिय द्वारों से बार-बार बाहर आना वृत्ति है। वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वृत्ति के सन्दर्भ में अपना मत प्रकट करते हुए कहा—**तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादि द्वारा निर्गत्य घटादि विषयदेशं गत्वा घटादि विषयाकारेण परिणमते, स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते** (वे० परि०, पृ० ४५-४६) आशय यह कि तैजस अन्तःकरण का चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर घट आदि विषय तक जाकर उसी के आकार में परिणत हो जाना परिणामी वृत्ति कहलाती है। इसका एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए परिभाषाकार कहते हैं कि जैसे तालाब का जल छिद्र से बाहर निकलकर नाली द्वारा क्यारी में जाकर उसी क्यारी का आकार ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार इस वृत्ति के विषय में भी समझना चाहिए।

वेद—वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से होती है जिसका अर्थ होता है—ज्ञान। इसके लक्षण के संदर्भ में कहा जाता है—**मंत्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्**। अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण का नाम ही वेद है। न्याय दर्शन के अनुसार—**मन्त्रायुर्वेदप्रमाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्** (न्या० सू०, २.१.६९)। अर्थात् जिस प्रकार मंत्र तथा आयुर्वेद ईश्वर तथा धन्वंतरि आदि आप्तपुरुषों से निर्मित होने के कारण प्रमाण हैं, उसी प्रकार वेद भी ईश्वर रूप आप्त पुरुष के द्वारा निर्मित होने के कारण प्रमाण हैं। कहने का तात्पर्य यह कि नैयायिक वेद को शब्द प्रमाण के रूप में मानते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**अपौरुषेया वेदाः, सम्प्रदाया विच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्** (सर्व० सं०, पृ० ५४१)। अर्थात् वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि सम्प्रदाय (परम्परा) अविच्छिन्न रहने पर भी उनके कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जा सकता, जैसे—आत्मा। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ सम्प्रदाय अविच्छिन्न रहने पर कर्त्ता का स्मरण न करें तब तो स्मरणाभाव के कारण कर्ता का न होना ही है, इस रूप में वेद अपौरुषेय हैं। मीमांसकों की तरह अद्वैत वेदांती भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वेदान्त परिभाषा के अनुसार—**सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वंवेदानां। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्** (वे० परि०, पृ० २४५)। अर्थात् आद्यसृष्टि के समय परमेश्वर ने पूर्व कल्पसिद्ध अनुक्रम के अनुसार ही जिसका

अनुक्रम है, ऐसे वेद की रचना की। भिन्न अनुक्रम से वेद की रचना नहीं की। इसी कारण उसमें पौरूषेत्व नहीं है यानि कि वेद अपौरुषेय हैं। किन्तु सजातीय उच्चारण की जिन्हें अपेक्षा नहीं होती ऐसे उच्चारण किए जाने वाले अर्थात् विजातीय आनुपूर्वीवाले ग्रंथ पौरुषेय होते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार—वेद अनित्य होते हुए भी पौरुषेय नहीं यानि अपौरुषेय हैं। सांख्य सूत्रकार के अनुसार—**न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्** (सां०सू०, ५.४६)। अर्थात् नित्य न होने पर भी वेद पौरुषेय नहीं हैं, क्योंकि वेदकर्ता पुरुष का अभाव है। उन्होंने इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है—**नापौरुषेयत्वानित्यत्वमंकुरादिवत्** (सां० सू०, ५.४८)। अर्थात् जिस प्रकार अंकुरादि अनित्य है पर पौरुषेय नहीं, उसी प्रकार वेद अनित्य हैं किन्तु पौरुषेय नहीं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि नैयायिक वेद को ईश्वर रूप आप्त पुरुष द्वारा रचित होने के कारण पौरुषेय मानते हैं, जबकि सांख्य, मीमांसक एवं वेदान्ती इसे अपौरुषेय मानते हैं। वेदों की सांख्य चार है, जिनके नाम हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।

वेदना—वसुबंधु के अनुसार—**वेदनानुभवः। सुख दुःख, अदुःखासुखश्च।** आशय यह कि किसी बाह्य वस्तु का स्पर्श करने पर जो अनुभव होता है उसे वेदना कहते हैं। वेदना तीन प्रकार की होती है—सुख, दुःख और उदासीन। यहाँ कथ्य यह होगा कि बौद्ध दर्शन में द्वितीय आर्य सत्य "दुःखसमुदाय" के अन्तर्गत जो भवचक्र या अलातचक्र की चर्चा की गई है, उसमें वेदना का उल्लेख किया गया है।

वेदनास्कन्ध—इष्ट या अनिष्ट विषय का सम्बन्ध होने पर जो सुखाकार, दुःखाकार या सुख दुःखरहित उपेक्षा भावनारूप चित्त की जो स्थूल अवस्थाऐं उत्पन्न होती हैं उन्हें ही वेदनास्कन्ध कहते हैं।

वेद वाक्य—**प्रमाणान्तरागोचरार्थप्रतिपादं हि वाक्यं वेदवाक्यम्।** (सर्व० सं०, पृ० ५४७)। अर्थात् जो वाक्य दूसरे किसी भी प्रमाण से न प्रतीत होने वाले विषयों का प्रतिपादन करता है वही वेदवाक्य कहलाता है।

वेदान्त—वेदान्त शब्द की व्युत्पत्ति "विद्" धातु में घञ् प्रत्यय करने पर होती है, जिसका अर्थ विशिष्ट ज्ञान होता है। यदि हम उपरोक्त रीति से विच्छेद करें तो इसका रूप इस प्रकार होगा—"**वेदस्य वेदानां वा अन्तः (शिरोभागः) वेदान्तः**"—अर्थात् वेदों का अंतिम भाग वेदान्त कहा जाता है। आरम्भ में उपनिषदों के लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग हुआ किन्तु बाद में

उपनिषदों के सिद्धान्तों को आधार मानकर जिन विचारों का विकास हुआ, उसके लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग होने लगा। वेदों के अंतिम भाग-रूप उपनिषद् साहित्य से वेदान्त का प्रादुर्भाव होता है। वेद की विभिन्न संहिताओं, यथा—ऋग्संहिता, यजुष्संहिता, सामसंहिता, अथर्वसंहिता तथा उनकी शाखाओं से अनेक उपनिषद् हमें प्राप्त होते हैं जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा वृह्दारण्यक प्रमुख हैं। उपनिषद् संख्या में अधिक होने तथा विषय-वैविध्य के कारण उनकी उक्तियों में परस्पर असामंजस्यता का आभास होता है। उनमें कहीं सगुण का निरूपण है तो कहीं निर्गुण का, कहीं शिव का तो कहीं विष्णु का आदि। कालान्तर में इनकी एकार्थता की सिद्धि के लिए वादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की, जिसे वेदान्तसूत्र, शारीरक सूत्र, शारीरक मीमांसा या उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों के सिद्धान्तों को सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। सूत्रों के भाव अस्पष्ट होने के कारण विभिन्न भाष्यकारों ने अलग-अलग ढंग से अपने भाष्यों में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। इनमें से प्रमुख हैं—शंकर का शांकर भाष्य, रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य, मध्वाचार्य का पूर्णप्रज्ञ भाष्य, निम्बार्क का वेदान्त परिजात भाष्य और श्रीवल्लभाचार्य का अणुभाष्य। इन आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों के द्वारा क्रमशः विभिन्न सम्प्रदायों का निर्माण किया—अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद। इस प्रकार वेदान्त परम्परा के विकास में तीन युग देखे जाते हैं—आदि युग (उपनिषद् साहित्य), मध्ययुग (ब्रह्मसूत्र), उत्तरयुग (भाष्य तथा टीकाएँ)।

वैधर्म्य—**वैधर्म्याच्च साध्यसाधन हेतुः** (वात्स्या०, १.१.३५)। अर्थात् साध्य के विरुद्ध धर्म होने से जो हेतु नामक अवयव साध्य की सिद्धि करता है वही वैधर्म्य कहलाता है। प्रशस्तपाद के अनुसार—**सर्व साधर्म्यविपर्ययाद्वैधर्म्य च वाच्यम्** (प्र०भा०, पृ० १३)। आशय यह कि पदार्थों में जो साधर्म्य होता है वही विपर्यय से (न होने से) दूसरे पदार्थों का वैधर्म्य होता है। जैसे—पृथिवी गन्धवती है यह गन्धवत्वलक्षण पृथिवी का इतर पदार्थों से वैधर्म्य होगा। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**पदार्था वैधर्म्यां तत्व ज्ञानान्निःश्रेयसम्** (वै० सू०, १.१.४)। अर्थात् वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा उत्पन्न तत्व ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। आचार्य शंकर स्वप्न और जाग्रत अवस्था के ज्ञान में वैधर्म्य मानते हैं। इनके अनुसार—**किं पुनर्वैधर्म्यं? बाधा बाधाविति ब्रूमः। बाध्यते**

हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मायोपलब्धो माहाजनसमागम इति । न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनेषा भ्रान्ति-रुद्भवेति (ब्र०सू०शां०भा०, २.२.२९) । अर्थात् बाध और अबाध वैधर्म्य हैं। क्योंकि स्वप्न अवस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत अवस्था में बाधित होती है। जैसे—यदि किसी को स्वप्न में महाजन का समागम होता है तो जाग्रत में उसे उस महाजन की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिए जाग्रत अवस्था में वह स्वप्न-द्रष्टा पुरुष यही कहता है कि मुझे जो स्वप्न में महाजन का समागम हुआ था वह मिथ्या है। वास्तव में मुझे महाजन समागम हुआ नहीं ; मेरा मन निद्रा से ग्लानियुक्त हुआ, जिससे यह भ्रान्ति हुई।

वैधर्म्यसम—जब वैधर्म्य के उदाहरण से युक्त वाद का विरोध प्रतिपक्षी करता है तथा वह अपने विरोध पक्ष में वैधर्म्य का ही उदाहरण देता है, तब उसे वैधर्म्यसम कहते हैं। वैधर्म्य के उदाहरण के कारण उसे वैधर्म्यसम कहते हैं (सर्व० सं०, पृ० ४७६) । जैसे वादी का कथन है शब्द अनित्य है, क्योंकि यह कृतक है, जो अनित्य नहीं वह कृतक नहीं है, जैसे आकाश। अब प्रतिपक्षी कहता है शब्द नित्य है क्योंकि वह अमूर्त है, जो नित्य नहीं वह अमूर्त नहीं है, जैसे घट। दोनों स्थानों पर वैधर्म्य के उदाहरण हैं, जिनको लेकर समता है।

वैभाषिक—बौद्ध सम्प्रदाय। अभिधर्म महाविभासा के आधार पर बौद्ध-दर्शन में वैभाषिक परम्परा का आविर्भाव हुआ। कहने का तात्पर्य यह कि जो लोग महाविभाषों के अनुयायी हैं उन्हें वैभाषिक कहा जाता है। इस परम्परा के अनुसार—**बाह्यार्थं प्रत्यक्षत्वरावदानातिष्ठन्ते** (सर्व०सं०, पृ० ३५) । अर्थात् वैभाषिक परम्परा में बाह्य वस्तु को अनुमेय न मानकर पूर्णतया प्रत्यक्ष-गम्य माना जाता है।

वैराग्य—सांसारिक वासनाओं का अभाव हो जाना वैराग्य है। योग दर्शन के अनुसार—**दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** (यो० सू०, १.१५) । अर्थात् लोक में दृष्टिगोचर—जड़चेतनात्मक स्त्री, चन्दन, वनिता, अन्न-पान आदि तथा वेदबोधित पारलौकिक स्वर्गादि के अमृतपान, अप्सरा आदि संभोगजन्य विषयों में तृष्णा रहित होकर जब व्यक्ति उन विषयों को अपने वश में कर लेता तब उसे वैराग्य कहते हैं। पर और अपर भेद से वैराग्य दो प्रकार का होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**इहामुत्रार्थफलभोग विरागः** (ब्र०सू०शां० भा०, १.१.१) । अर्थात् इस लोक में और स्वर्गादि दूसरे

लोक में प्राप्त होने वाले कमनीय पदार्थ कर्मजन्य होने से फल हैं। इन फलों का भोग करने के प्रति उपेक्षा बुद्धि का होना ही वैराग्य है। शंकराचार्य ने चर्पटपंजरिकास्तोत्र (१५) में कहा है—**सुखतः क्रियते रामाभोगः, पश्चात् हन्त शरीरे रोगः।** अर्थात् आत्मकामी पुरुष को भोगों का परित्याग करना ही होगा। क्योंकि भोगों का आस्वादन और परमात्मा की प्राप्ति दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। कठोपनिषद् में नचिकेता का यह कथन वैराग्य का उत्कृष्ट उदाहरण है कि 'ये भोग कल रहेंगे या नहीं इस सन्देह के विषय हैं। यह सम्पूर्ण जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। अतः हे यमराज आपकी सवारियां और अप्सराओं के नाचगाने आपको ही अर्पित हों, मुझे उनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है।'

वैशेषिक—विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्वनिश्चयः तेन व्यवहरतीत्यर्थः वैशेषिकः (किरणावली)। अर्थात् तत्त्वनिश्चय पूर्वक व्यवहार करने वाले को वैशेषिक कहा जाता है। षड्दर्शन समुच्चय की व्याख्या में मणिभद्र सूरि ने कहा है—**नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामान्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्।** अर्थात् नैयायिकों तथा अन्य दार्शनिक परम्पराओं की अपेक्षा द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष आदि पदार्थों की कणाद् के द्वारा उत्कृष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण उनके दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। माध्वाचार्य के अनुसार जिसकी बुद्धि, द्वित्व की संख्या के विषय में, पाकज उत्पत्ति (अग्निसंयोग के कारण होने वाले परिवर्तन) के विषय में तथा विभाग से उत्पन्न होने वाले विभाग के विषय में, स्खलित नहीं होती उसे ही वैशेषिक कहते हैं—

> **द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।**
> **यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥**

व्यक्ति—व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः (न्या०सू०, २.२.६६)। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने के कारण जो प्रकट होती है उसको व्यक्ति कहते हैं। जैसे—परमाणु, आकाश इनका इन्द्रियों से ज्ञान न होने के कारण व्यक्ति नहीं कहलाते। जो रूप से लेकर स्पर्शपर्यन्त तथा गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व, संस्कार इन विशेष गुणों से तथा अव्यापक परिमाण का भी यथासंभव आधार हो उसे परस्पर अवयवों के संबंध से युक्त होने के कारण मूर्ति कहते हैं, इसका ही नाम व्यक्तिरूप पदार्थ है। शब्द की शक्ति-बोध में नैयायिक व्यक्ति को ही प्रधान मानते हैं जबकि मीमांसक तथा वैयाकरण क्रमशः आकृति और जाति

को। नैयायिकों के अनुसार—**शक्ति-ग्राहक-शिरोमणिरव्यवहारो व्यक्ताव एव शक्ति ग्राहयति। गवादि पदेन लोके व्यक्तेर एव बोधात्।** अर्थात् शक्ति का ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण तथा प्रसिद्ध पद की समीपता से होता है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। इन शब्द की शक्ति के बोधकों में प्रधानभूत "व्यवहार" व्यक्ति में ही शब्द की शक्ति का बोध कराता है तथा लोक में "गो" आदि शब्द से व्यक्ति का ही बोध होता है सांख्य दर्शन के अनुसार—**व्यक्तिभेदः कर्मविशोषात्**(सां०सू०,३.१०)। अर्थात् सर्गादि में लिंग शरीर एक होने पर हिरण्यगर्भोपाधिरूप कर्मविशेष के अनुसार उनके व्यक्ति भेद होते हैं। तात्पर्य यह कि सभी जीवात्माओं में बुद्धि आदि समस्त करणों की रचना समान रहने पर भी लोक में जो व्यक्ति भेद दिखाई देता है, वह उनके शुभ-अशुभ 'कर्मभेदों' के कारण दिखाई देता है। संग्रहकार व्याडि व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानते हैं। उनके अनुसार—शब्द से लिंग और वचन का विधान व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने पर होता है। जैसे—पुरुष-स्त्री, बालक-बालिका, इत्यादि लिंग का बोध व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने पर सम्भव है।

व्यतिरेक—अभाव। एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का भी अभाव देखकर दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध जान लेना व्यतिरेक है। जैसे—जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ-वहाँ धूम नहीं है।

व्यतिरेकव्याप्ति—**साध्याभाव व्यापकाभावप्रतियोगिकत्वं व्यतिरेक व्याप्तिः।** अर्थात् हेतु का साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना व्यतिरेक है। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान करने पर अग्नि का अभाव है साध्याभाव, उसका व्यापक अभाव है धूमाभाव, उसका प्रतियोगी है धूम। इस प्रकार धूम में अग्नि अभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व ही धूम में अग्नि की व्यतिरेक व्याप्ति है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः—अन्वयव्याप्तौ यद् व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः, यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति** (त०भा०,पृ० १०७)। आशय यह कि अन्वयव्याप्ति में जो व्यापक होता है उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्य होता है। श्लोक वार्तिककार कुमारिल भट्ट के अनुसार—

> **व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।**
> **तयोरभाव योस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥**
> **धूमभावेऽग्निभावेन व्याप्तेऽग्निस्ततश्च्युतः।**
>
> (श्लो० वा०, पृ० ४७२)

अर्थात् जिस भाव पदार्थ में जैसा व्याप्यव्यापक भाव होता है उनके अभाव में वैसा व्याप्यव्यापक भाव नहीं होता किन्तु उससे विपरीत प्रतीत होता है। जैसे—धूम भाव में अग्नि भाव पदार्थ की व्याप्ति आ जाती है तो 'अनग्नि' अर्थात् अग्न्यभाव धूमाधिकरण से व्यावृत्त होकर 'अधूम' में ही अर्थात् धूमाभावाधिकरण में ही नियत हो जाता है। तदनुसार भाव के विपरीत (वन्हिधूम के विपरीत) वन्हि के अभाव में ही व्याप्यता धूमाभाव में ही व्यापकता प्राप्त होती है।

व्यभिचार—एक पक्ष में व्यवधान होना व्यभिचार कहलाता है। वात्स्यायन के अनुसार—**व्यभिचारः एकत्राव्यवस्थितिः** (वात्स्या०, १.२.५)। अर्थात् जो साध्य (पक्ष) तथा उसके समान जाति के सपक्ष तथा विपक्ष में भी रहता है, वह व्याभिचार होता है। जैसे—शब्द नित्य है, स्पर्श रहित होने से। यह एक व्यभिचार है। वास्तव में स्पर्शाधार और अनित्यता इन दोनों में साध्य-साधनरूप सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि स्पर्शाश्रयता अनित्यता की तथा अनित्यता स्पर्शाश्रयता की सिद्धि नहीं करता।

व्याकरण—**शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्** (का०मी०, पृ०)। अर्थात् प्रकृति और प्रत्ययों द्वारा सुबन्त एवं तिङ्न्त आदि शब्दों की सिद्धि करने वाला व्याकरण कहा जाता है। जैसे—शाकटायन, पाणिनि आदि के सूत्रबद्ध व्याकरण ग्रंथ। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के अनुसार—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तनं तपः।
प्रथमं छन्दसाभंगम् प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ (वा०प०, १.११)

अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक शब्द तत्व का साक्षात्कार जिससे होता है वह व्याकरण है। ज्ञान का संस्कार करने वाली विद्याओं में व्याकरण विद्या सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्म के प्राप्त्युपाय और प्रतिभा प्रणवास्वरूप वेद की भी यह विद्या निकटतम और उपकारक है। ब्रह्मचर्यादि मन-वचन-कर्म को पवित्र करने वाले तपों में यह सर्वश्रेष्ठ तप है। वेद के छः अंगों में व्याकरण प्रथम अंग है।

व्याघात—आत्मविरोध। असंबद्ध अर्थ से युक्त वाक्य को व्याघात कहते हैं। जैसे किसी के द्वारा यह कहना कि मैं मूक हूँ या मेरी माता बंध्या है। इन दोनों वाक्यों में व्याघात है।

व्याधि—योग दर्शन के अनुसार—**धातुरसकरणवैषम्य व्याधिः** (यो० सू०, १.३०)। आशय यह कि धातु, रस एवं करण की विषमता को व्याधि कहा

जाता है । वात, पित्त, कफ रूप तीन धातुओं में से किसी एक के कुपित होने से न्यूनाधिक भाव होना धातु वैषम्य कहा जाता है । भुक्त-पीत अन्न जल का परिपाक न होना रस वैषम्य कहा जाता है । ज्ञान के कारण श्रोत्र आदि इन्द्रियों की शक्ति मन्द होना करण वैषम्य कहा जाता है । इन्हीं तीनों (धातु, रस, करण की विषमताओं) को व्याधि कहते हैं ।

व्यान—वायुभेद । समस्त शरीर में व्याप्त जो जीवन वृत्ति विशेष है, उसे व्यान कहा जाता है ।

व्यापार—व्यापार का सामान्य अर्थ होता है—व्यवसाय, नियोजन इत्यादि । निरुक्तकार यास्क के अनुसार—**व्यापार मुख्य विशेष्यको बोधः** (नि०, १.१) । अर्थात् व्यापार का बोध मुख्य रूप से विशेष्य के रूप में होता है । वैयाकरण नागेश भट्ट ने परमलघु मंजूषा में कहा – **व्यापारत्वं च-धात्वर्थ-फल जनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्** । अर्थात् धातु के अर्थ (फल) का उत्पादक होते हुए धातु का वाच्य अर्थ व्यापार है । यहाँ पर व्यापार की परिभाषा में दो बातें कही गई हैं—पहली बात यह कि व्यापार धात्वर्थ रूप फल का उत्पादक होता है क्योंकि फलानुकूल प्रयास को ही व्यापार कहा जाता है तथा दूसरी बात यह कि व्यापार स्वयं भी धातु का अर्थ होता है । तर्कभाषा की टीका में बद्रीनाथ शुक्ल ने व्यापार का लक्षण दो दृष्टियों से प्रतिपादित किया है—(१) **तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व** अर्थात् जो जिस कारण से उत्पन्न होकर जिस कार्य का जनक होता है, वह उस कारण का उस कार्य के प्रति व्यापार होता है । जैसे—कपालद्वय का संयोग दण्ड आदि से उत्पन्न होकर दण्ड आदि के घटात्मक कार्य का जनक होता है । अतः कपालद्वय-संयोग दण्ड आदि करणों का घटात्मक कार्य के प्रति व्यापार है, (२) **तज्जनकताप्रयोजकजनकताकत्व**—अर्थात् जो अपनी जनकता से जिसमें जिस कार्य के जनकत्व का सम्पादन करता है वह उसका उस कार्य के प्रति व्यापार होता है । जैसे कपालद्वय संयोग अपनी जनकता से दण्ड आदि में घट के जनकत्व का सम्पादन करता है, क्योंकि दण्ड आदि में यदि कपालद्वय संयोग की जनकता न हो तो दण्ड आदि में घट का जनकत्व नहीं हो सकता । अतः कपालद्वय संयोग घटात्मक कार्य के प्रति दण्ड आदि कारणों का व्यापार होता है ।

व्याप्ति—व्याप्ति का सामान्य अर्थ होता है—**विशिष्ट आप्तिः व्याप्तिः**—अर्थात् विशेष संबंध । यहाँ पर विशेष संबंध से तात्पर्य है दो वस्तुओं का एक

साथ रहना । जैसे—**यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः** । इस प्रकार का साहचर्य संबंध व्याप्ति है । यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है—सम व्याप्ति और विषम व्याप्ति । नैयायिकों के अनुसार हेतु के साथ साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है (त०भा०, पृ० ९९) । वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार—**व्याप्तिश्च अशेष साधनाश्रयाश्रित साध्यसमानाधिकरण्यरूपा** (वे० परि०, पृ० १४६) । अर्थात् अशेष साधनों का जो आश्रय, तद् आश्रित जो साध्य, उससे हेतु का जो सामानाधिकरण्य है वह व्याप्ति है । जैसे—**वन्हिमान धूमातः**—इस अनुमिति में धूम साधन है । साधनता धूमनिष्ठ है । साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है । उस धूमत्व से **अवच्छिन्न** (पर्वत आदि भिन्न-भिन्न स्थान के साधन रूप) धूम व्याप्ति हैं । इसके आश्रय पर्वत आदि पदार्थ हैं; उन्हीं का आश्रय की हुई, साध्यतावच्छेदकरूप वन्हित्व से अवच्छिन्न वन्हिरूप साध्य व्यक्तियों के साथ धूम व्यक्तियों का सामानाधिकरण्य (पर्वतादि समान अधिकरण पर वृत्तित्व होना ही व्याप्ति का स्वरूप है । अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर धूम और अग्नि का होना **यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः** इस आकार का जो सामान्याधिकारण्य (**एकाधिकरण वृत्तित्व**) है वही व्याप्ति का स्वरूप है ।

व्याप्यत्वासिद्ध—न्याय दर्शन के अनुसार—**व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिनर्वागम्यते** (त० भा०, पृ० ३५२) आशय यह कि जिस हेतु में व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता वह व्याप्यत्वासिद्ध होता है । साध्यासहचरित और सोपाधिकसाध्य सम्बन्धी भेद से यह दो प्रकार का होता है। साध्यासहचरित का अर्थ होता है—साध्य के साथ न रहने वाला । जैसे—जो सत होता है वह क्षणिक होता है, जैसे—मेघ । इस अनुमान में शब्द आदि पक्ष है उसमें क्षणिकत्व साध्य है और सत्व हेतु है । यहाँ सत्व हेतु में क्षणिकत्व की व्याप्ति का ज्ञान न होने से उक्त क्षणिकत्वानुमान में सत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है । जिस हेतु में उपाधि के कारण व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है वह सोपाधि व्याप्यत्वासिद्ध होता है । जैसे वह श्याम है, मैत्री का तनय होने से, मैत्री के अन्य तनयों के समान । इस अनुमान द्वारा पक्षभूत तनय में मैत्रीतनयत्व हेतु से श्यामत्व का प्रयोजक नहीं है अपितु शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिणाम प्रयोजक है । यहां पर मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिणाम ही उपाधि है । इस प्रकार उपाधि युक्त होने से मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता । अतः इस अनुमान में मैत्रीतनयत्व व्याप्यत्वासिद्ध है ।

व्याप्यत्वासिद्धि—हेत्वाभास। जो हेतु आश्रय पक्ष में अपने स्वरूप से सिद्ध न हो उसे व्याप्यत्वासिद्धि कहा जाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार — **व्याप्यत्वसिद्धिस्तु द्विविधा। एको व्याप्तिग्राहक प्रमाणाभावात्, अपरस्तूपाधिसद्भावात्** (त० भा०, पृ० ११७)। अर्थात् व्याप्यत्वासिद्धि दो प्रकार की होती है—एक वह, जिसमें व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से व्याप्तिसिद्ध नहीं हो पाती और दूसरा वह, जिसमें उपाधि होने से व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती। उनमें पहले व्याप्यत्वासिद्धि का उदाहरण है क्षणिकत्व का साधन करने के लिए प्रयुक्त होने वाला सत्व। जैसे—शब्द क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है, जो-जो सत होता है वह क्षणिक होता है जैसे--बादलों की घटा। शब्दादि पदार्थ वैसा ही सत् है। इस अनुमान में क्षणिकत्व के साधनार्थ प्रयुक्त सत्व हेतु में क्षणिकत्व की व्याप्ति नहीं सिद्ध हो पाती, क्योंकि क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव से व्याप्ति की सिद्धि न होने के कारण क्षणिकत्व के अनुमानार्थ प्रयुक्त सत्व हेतु व्याप्यत्वासिद्धि है (त०भा०, पृ० ११७)। दूसरे व्याप्यत्वासिद्धि का उदाहरण इस प्रकार है—यज्ञ में होने वाली हिंसा को पक्ष बनाकर उसमें अधर्मसाधनत्व की अनुमिति कराने के उद्देश्य से जब इस प्रकार का अनुमान किया जाता है कि यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म की उत्पादिका है, क्योंकि वह भी हिंसा है। हिंसा जो भी हो वह सब अधर्म की उत्पादिका होती है, जैसे यज्ञ के बाहर की हिंसा; तो इस अनुमान में प्रयुक्त हिंसात्व हेतु उपाधिग्रस्त होने से व्याप्यत्वासिद्धि हो जाता है (त० भा०, पृ० ११६)।

व्यावहारिक—सत्ता भेद। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—

वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेऽवधौ।
तद्व्यावहारिकं सत्वं बाध्यं मात्रा सहैवतत्॥

(सर्व० सं०, पृ० ८५२)

आशय यह कि परमार्थ दशा में जो वस्तु वैदिक प्रमाण यानि कि आगम प्रमाण से बाधित हो जाये उसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार जो सत्ता व्यवहारकाल तक ही अबाधित रहे उसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं जैसे—जगत। जगत की सत्ता व्यावहारिक है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर वह बाधित हो जाता है।

व्यूह—व्यूह का सामान्य अर्थ होता है—शरीर के अंगों की संरचना

करना। न्याय सूत्र (३.१.३०) में कहा गया है—**गंधक्लेदपाकव्युहावकाशे दानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्**। आशय यह कि भोजन किये आहार के रस के संचारण से शरीर का पुष्ट दिखाई देना रूप व्यूह रूप है। रामानुज दर्शन के अनुसार—**व्यूहश्चतुर्विधो वज्ञासुदेव संकर्षण प्रद्युम्नानिरूद्धसंक:** (सर्व० सं०, पृ० २२३)। अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध के भेद से व्यूह चार प्रकार का होता है। इनमें से जो ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त है, वह वासुदेव है, जो ज्ञान और ब्रह्म से युक्त है, वह संकर्षण व्यूह है, जो ऐश्वर्य और वीर से युक्त है, वह प्रद्युम्न व्यूह है, जो शक्ति तथा तेज से युक्त है वह अनिरूद्ध व्यूह है।

व्रत—इसका सामान्य अर्थ होता है—संकल्प, प्रतिज्ञा, अनुष्ठान, अभ्यास इत्यादि। व्रत के लक्षण के सन्दर्भ में कहा जाता है कि उपवास आदि के नियत विशेष, जिससे पूर्ण फल की प्राप्ति होती है, को व्रत कहते हैं। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**भस्मस्नानशयनोपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्** (सर्व० सं०, पृ० ३१०)। अर्थात् भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा—ये व्रत हैं।

श

शक्ति—शक्ति शब्द की व्युत्पत्ति शक् धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाने से होती है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—बल, योग्यता, सामर्थ्य तथा ऊर्जा इत्यादि। शक्ति शब्द का प्रयोग हमें सर्वप्रथम वेद में मिलता है। वेदों में शक्ति शब्द के द्वारा परब्रह्म की त्रिगुणात्मिका माया का बोध कराया गया है। वहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—**इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः मायाभिः स्वकीयाभिः शक्तिभिः, मायिनं कपटवन्तमिति**। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परब्रह्म की ज्ञान, क्रिया और बल इन तीन शक्तियों की चर्चा की गई है—**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयतेस्वभाविकी ज्ञान बलक्रिया च** (श्वेता०, ६.८) न्याय दर्शन में कारणता के लक्षण के प्रसंग में कहा गया है कि **कार्योत्पत्तिनियतपूर्व**

भावित्वं कारणत्वम् अर्थात् कार्योत्पत्ति से पूर्व के क्षण में अनिवार्य रूप से स्थित रहना ही कारणता का लक्षण है। इसके दो स्वरूप हैं—(१) सत्तारूप और (२) फलोपधायकतारूप कारणता। इनमें से फलोपाधायकतारूप कारणता को ही न्याय दर्शन में शक्ति कहा गया है।

शक्तिग्रह—किसी शब्द के द्वारा निश्चित अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करना शक्तिग्रह कहलाता है (सर्व० सं०, पृ० १५)। जैसे गाय कहने पर चार पैर, दो सींग तथा खुर वाले प्राणी का बोध करना। शक्तिग्रह के हेतुओं का उल्लेख निम्नकारिका में किया गया है—

> **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।**
> **वाक्यस्य शेषादि विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥**

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार आदि हेतुओं से शक्तिग्रह होता है।

शब्द—शब्द्यते इति शब्दः। शब्द के इस स्वरूप के विषय में शास्त्रों में मतभेद है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार—जिसकी श्रोतृ से उपलब्धि होती है, जो बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो उच्चारण से अभिव्यक्त होता है और आकाश जिसका स्थान है उसे शब्द कहते हैं (म०भा०,आ० २)। यहाँ पर भाष्यकार शब्द के दो रूप मानते हैं—स्फोट रूप और ध्वनिरूप। स्फोट मुख्य शब्द है और ध्वनि उसका गुण है। वाक्यपदीयकार का मत है कि शब्द वर्ण समूह मात्र नहीं है अपितु इससे अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। यदि शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती तो वह शब्द नहीं, रूपमात्र है (वा० प०; ३.११९)। मीमांसा दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वस्तु को शब्द कहा गया है। मीमांसाकार शबरस्वामी ने शब्द के लक्षण में कहा है—श्रोतृ से जिसका ग्रहण होता है इस अर्थ में ही 'शब्द' का लोक में व्यवहार प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ—"गो" में गकार, ओकार और विसर्जनीय ये शब्द हैं। श्रोतृ से ग्रहण होने वाले हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार वर्णों के अतिरिक्त स्फोट नाम की कोई वस्तु नहीं है। कारण यह कि स्फोटवाद को स्वीकार करने पर पदाश्रित "ऊह" आदि कार्य सम्भव नहीं होगा। नैयायिकों ने भी शब्द के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है। विश्वनाथ पंचानन ने शब्द के प्रसंग में न्यायमुक्तावली में कहा है—**श्रोत्रेन्द्रिय जन्यज्ञाननीय लौकिक विषयताऽवच्छेदकगुणतद्कात्य जातिमत्वं शब्दस्य लक्षणम्।** इस लक्षण के आधार पर उन्होने शब्द के दो प्रकार स्वीकार

किए हैं—(१) ध्वन्यात्मक और (२) वर्णात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द तीन प्रकार का होता है—संयोगज, विभागज तथा शब्दज। इसी प्रकार वर्णात्मक शब्द भी दो प्रकार का होता है—संयोगज तथा वर्णज।

शब्दपुनरुक्त्—पुनरुक्त निग्रह स्थान। **शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्** (न्या० सू०, ५ २.१४)। अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों का बार-बार कहना पुनरुक्त कहलाता है। वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—**अन्यत्रानुवाद् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा, नित्यशब्दोः नित्यःशब्द इति शब्दपुनरुक्तम्**। तात्पर्य यह कि प्रयोजन सहित पुनरुक्ति रूप अनुवाद को छोड़कर शब्द नित्य है, शब्द नित्य है ऐसा दो बार कहना शब्द-पुनरुक्त कहलाता है।

शब्दानुशासन—इसका सामान्य अर्थ होता है—शब्दशास्त्र यानि कि व्याकरण। पाणिनि दर्शन के अनुसार—**अनेन हि वैदिकः शब्दाः "शं नो देवीरभिष्टये" इत्याद्यस्तदुपकारिणो लौकिकाः शब्दाः "गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनी" इत्यादियश्चानुशिष्यन्ते, व्युत्पाद्य संष्क्रियन्ते प्रकृति प्रत्यय विभागवत्तया बोध्यन्त इति शब्दानुशासनम्** (सर्व० सं०, पृ० ५७४)। आशय यह कि 'दिव्य जल हमारा कल्याण करे और इच्छापूर्ति में सहायक हो' इत्यादि वैदिक शब्दों का और अर्थ प्रकाशन के माध्यम से उनकी सहायता करने वाले गौ, अश्व, पुरुष, शकुनि आदि लौकिक शब्दों का अनुशासन होता है। व्युत्पत्ति के द्वारा उसका संस्कार होता है, ये प्रकृति और प्रत्यय के रूप में बाँटकर समझे जाते हैं यही शब्दानुशासन है।

शब्दार्थ—**वाक्यात् प्रकरणाद् अर्थात् औचित्याद् देशकालतः।**
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
(वा० प०, २.३१४)

आशय यह कि वाक्य, प्रकरण, अर्थ औचित्य, देश तथा काल के आधार पर शब्दार्थ का निर्णय होता है। शब्दार्थ शब्द की चर्चा जब हम करते हैं तो इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से तीन बातें सामने आती हैं। सर्वप्रथम शब्द और अर्थ क्या है? द्वितीय शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है अथवा नहीं। और तृतीय यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है तो वह नित्य है या अनित्य। शब्द और अर्थ क्या है?—इसकी चर्चा शब्द और अर्थ के प्रसंग में की गयी है। अस्तु यहाँ पर मुख्यतः शब्दार्थ सम्बन्ध एवं उसकी नित्यता तथा अनित्यता पर ही विचार

किया जायेगा। नागेश के अनुसार—**संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, यो यं शब्दः सोऽर्थः, योऽर्थः स शब्दः** (प० ल० म०, पृ० २५)। आशय यह है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है क्योंकि शब्द में अर्थ का और अर्थ में शब्द का आरोप होकर इतरेतराध्यास होता है। भर्तृहरि के अनुसार—

कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चांगम् सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥

(वा० प०, १.२५)

आशय यह कि शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—कार्य कारणभाव सम्बन्ध और योग्यभावसम्बन्ध। कभी शब्द अर्थ का कारण होता है और कभी अर्थ शब्द का कारण होता है। इस प्रकार इन दोनों का एक दूसरे के प्रति कार्य-कारणभाव सम्बन्ध होता है। जैसे—"गो" शब्द के उच्चारण से सास्नादिमत आकृतिविशेष की प्रतीति होती है। यहाँ शब्द अर्थ का कारण है। ऐसे ही सास्नादिमत आकृति का बोध कराने के लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है तो अर्थ शब्द का कारण बन जाता है। यही शब्द और अर्थ का कार्य-कारण सम्बन्ध है। प्रत्येक शब्द की एक योग्यता या क्षमता होती है जिससे वह एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में समक्ष होता है। यही योग्यभाव-सम्बन्ध है शब्द और अर्थ का। जैसे आँख में रूपदर्शन की एक विशेष योग्यता होती है या कान में शब्द श्रवण की विशेषयोग्यता होती है वैसे ही शब्द में अर्थबोधन की विशेष योग्यता होती है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार—**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (मी० श० भा०, १.१.१)। अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है। नैयायिकों के अनुसार—**सामायिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य** (न्या०सू०, २.१.५६)। अर्थात् शब्द तथा अर्थ में संकेत सम्बन्ध होता है। आशय यह कि संकेत के कारण ही शब्द से अर्थ का बोध होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः** (वै० सू०, ७.२.२०)। अर्थात् शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वर-संकेत से होती है। अतः ईश्वरेच्छा ही शब्दार्थ के बीच का सम्बन्ध है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः** (सां० सू०, ५.३७)। अर्थात् शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य है या अनित्य—इस सन्दर्भ में दार्शनिक जगत में अनेक प्रतिपत्तियां सामने आती हैं। वाक्यपदीयकार के अनुसार—

नित्याः शब्दार्थ संबंधाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥ (वा०प०, १.२३)

अर्थात् शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों नित्य में; ऐसा सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पञ्जलि ने कहा है। शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं, इस बात को सूत्रकार पाणिनि ने **"तदशिष्य संज्ञा प्रमाणत्वात्"** सूत्र के द्वारा, वार्तिककार ने **"सिद्धेः शब्दार्थसम्बन्धे"** के द्वारा, भाष्यकार ने **"संग्रहेएतत्प्रधान्येन परीक्षितं—नित्यः शब्दः"** इत्यादि के द्वारा व्यक्त किया है। मीमांसक शब्दार्थ संबंध को नित्य मानते हैं, जिसका निर्देश जैमिनि ने **"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (मी०सू०, १.१.५) में किया है। नैयायिक शब्दार्थ सम्बन्ध को पुरुषकृत संकेत रूप मानते हैं। अतः उनके मत से यह सम्बन्ध अनित्य है। जैन दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य माना गया है। उनके अनुसार—**सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्** (प्र०क०मा०, पृ० १२४)। अर्थात् शब्दार्थ संबंध उसी प्रकार अनित्य है यानि कि विनाश को प्राप्त होते हैं जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्टत्व को प्राप्त होता है।

शम—**शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः** (वे० सा०, पृ० ५३)। अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन को छोड़कर उनसे भिन्न विषयों से मन को हटा लेने को शम कहते हैं।

शरीर—शरीर शब्द की व्युत्पत्ति "शॄ" धातु में 'ईश्न' प्रत्यय लगाने पर होती है, जिसका सामान्य अर्थ होता है—जड़ एवं चेतन का सम्मिलित रूप। आत्मा के भोग का अधिष्ठान शरीर है। जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में कहा है—भोग करने वाला आत्मा जिस आश्रय में भोग करे वह शरीर है। (न्या० मं०, पृ० ४५)। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम के अनुसार—**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्** (न्या०सू०, १.१.११)। अर्थात् हित की प्राप्ति तथा अहित परिहार रूप चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थ (विषयों) के आधार को शरीर कहते हैं। यहाँ पर दो प्रकार के शरीर की चर्चा की गई है—योनिज और अयोनिज। शुक्र और शोणित के संयोग से उत्पन्न शरीर को योनिज कहते हैं और शुक्र एवं शोणित के सम्पर्क के बिना ही उत्पन्न शरीर को अयोनिज कहते हैं।

शाब्दबोध—शब्दाजायमानो बोधः शाब्दबोधः । अर्थात् शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं । नैयायिकों के अनुसार—

पदं ज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थ धीः ।
शाब्दबोधः फलम् तत्र शक्ति धीः सहकारिणी ।।
(भा० परि०, का० ८१)

अर्थात् शाब्द बोध को फल, पद के ज्ञान को कारण, शब्द के अर्थ की स्मृति को द्वार तथा शब्द की वृत्ति के ज्ञान को सहकारी कारण कहते हैं । नागेश भट्ट के अनुसार—**वृत्ति स्मृतिरेव शब्द बुद्धिरेव ।** अर्थात् वृत्ति की स्मृति का अनुमान कराने वाला शाब्दबोध कहलाता है । शाब्द बोध में कार्यकारण भाव के स्वरूप की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट कहते हैं—**तद्-धर्मावच्छिन्न-विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्न निरूपित—वृत्तिविशिष्ट ज्ञानं हेतुः । अतएव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्द बोधः** (प०ल०मं०) । आशय यह कि जिस धर्म से विशिष्ट वृत्ति वाले शब्द का ज्ञान होगा, उसी धर्म से विशिष्ट पदार्थ का ही शब्दबोध होगा, अन्य धर्म से विशिष्ट पदार्थ का शाब्दबोध नहीं होगा । जैसे—घट पदार्थ विषयक शाब्दबोध के प्रति घट शब्द तथा उसकी घट पदार्थ से सम्बद्ध वृत्ति का ज्ञान कारण है । इसी तरह पट आदि सभी पदार्थों के शाब्दबोध में कार्य-कारण भाव की स्थिति होती है ।

शाब्दीभावना—शब्द के द्वारा जो प्रेरणात्मक व्यापार उत्पन्न होता है उसे शाब्दी भावना कहते हैं जैसे—**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** । यह शब्द सुनने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि यह (शब्द) मुझे अध्ययन कर्म में प्रेरित कर रहा है । मीमांसा दर्शन में शाब्दीभावना को भावना का भेद माना गया है (सर्व०सं०, पृ० ५२९) ।

शास्त्र—शास्ति च त्रायतेन्वेति शास्त्रम् । कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि नित्य (वेद) कृतक (स्मृत्यादि) प्रभृति जिस किसी वाक्य से पुरुष की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का निर्देश किया जाय वही शब्द विशेष शास्त्र है—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसा येनोपदिश्येत तशत्शास्त्रवभिधीयते ।। (श्लो० वा०, ५)

मध्वाचार्य ने पूर्णप्रज्ञ भाष्य में शास्त्र के लक्षण के संदर्भ में कहा है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, महाभारत, पाञ्चरात्र और मूलरामायण—ये ही

ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। जो ग्रन्थ इनके सिद्धान्तों के अनुकूल हैं वे भी शास्त्र हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त जो भी ग्रन्थों का समूह है वह शास्त्र नहीं है।

शिक्षा—**वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षा आपिशलीयादिका** (का०मी०, पृ० ७)। अर्थात् शिक्षा शास्त्र वह है जिसके द्वारा वर्णों के स्थान, करणं, प्रयत्न एवं उच्चारण आदि का युक्ति-युक्त निर्णय किया जाता है। जैसे—आपिशालि, पाणिनि, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत शिक्षा ग्रन्थ।

शिव—शं सुखं नित्यमानन्दमविकारः पुरुषः स्मृतः।
वकारः शक्तिरमृतं मेलनं शिव उच्यते॥

(शि० पु०, १.१२.७६)

आशय यह कि "श" का तात्पर्य आनन्द है, "इ" का परमात्मा और "व" का अमृत शक्ति। इन तीन गुणों से जो युक्त हो वह शिव है। सर्वदर्शनसंग्रहकार ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सन्दर्भ में कहा है—

एक बारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना॥

(सर्व० सं०, पृ० ३५४)

आशय यह कि जब एक बार प्रमाणों के द्वारा, शास्त्र के द्वारा, या गुरुजनों की वाणी के द्वारा दृढ़ आत्मा से प्रतिपत्ति पूर्वक (विश्वास पूर्वक) सर्वत्र स्थित शिवतत्व का ज्ञान हो जाता है तब न तो किसी वाणी का कोई काम है और न भावना का ही।

शुद्धा—लक्षणा भेद। नागेश भट्ट के अनुसार—**तदतिरिक्त सम्बन्धेन शक्य सम्बन्ध्यर्थं प्रतिपादिका शुद्धा** (प०ल०मं०, पृ० ६३)। अर्थात् कार्यकारण आदि सम्बन्धों के आधार पर वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ को बताने वाली लक्षणा को शुद्धा लक्षणा कहते हैं। साहित्यदर्पण (२.१४) में कहा गया है—**पूर्वा तु उपचारामिश्रणात् शुद्धा**—अर्थात् जिसमें उपचार या आरोप का मिश्रण नहीं होता उसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं।

शुद्धाद्वैत—**शुद्धयोः अद्वैतं शुद्धाद्वैतं**—अर्थात् माया से रहित अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) को शुद्धाद्वैत कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य लिखकर

श्रीवल्लभाचार्य ने जिस सिद्धान्त की स्थापना की वह शुद्धाद्वैत के नाम से जाना जाता है। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड (श्लोक २८) में कहा गया है—

माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥

अर्थात् माया के सम्बन्ध से रहित होने के कारण ब्रह्म सर्वदा शुद्ध है। यही माया रहित ब्रह्म इस संसार में कार्य तथा कारणरूप से सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिए इसे शुद्धाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है।

शून्य—बौद्ध दर्शन में माध्यमिक सम्प्रदायवादी परमार्थ सत्य को शून्य के रूप में स्वीकार करते हैं, इसीलिए इसे शून्यवाद कहा जाता है। शून्य शब्द द्वारा माध्यमिक एक ऐसी सत्ता की ओर संकेत करते हैं जो अवाच्य एवं अवर्णनीय है। नागार्जुन ने मध्यमकारिका में कहा है—

न सन् नासन् न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ॥ (मा०का०, १.७)

आशय यह कि "तत्त्व" यानि कि शून्य न सत् है, न असत है, न सत असत उभय है और न सत् असत् अनुभय है। अर्थात् वह इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त यानि कि अवर्णनीय है। अद्वैतवादी आचार्य शंकर शून्य को "अभाव" के रूप में मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक आचार्य शंकर द्वारा मान्य शून्य के अभाव रूप को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है यानि कि अभाव भाव की अपेक्षा रखता है, परन्तु शून्य निरपेक्ष है। निरपेक्ष होने के कारण इसे अभाव रूप नहीं मान सकते। चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक कारिका वृत्ति में कहा है—"सर्वेषां दृष्टिकृतानां सर्वग्राहाभिनिवेशानां यन्तिः सरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता। आशय यह कि जो सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की समस्त धारणाओं से परे है, वह शून्य है।

शृंगारण—नकुलीश पाशुपत दर्शन में द्वारचर्या (बाह्य प्रदर्शन के योग्य मुद्रा विशेष)। नकुलीश दर्शन के अनुसार—रूपयौवनसम्पन्नां कामिनीमवलोक्यात्मानम् कामुकमिव यैर्विलासैः प्रदर्शयति तत् शृंगारणम् (सर्व० सं०, पृ० ३१२)। अर्थात् रूप और यौवन से सम्पन्न किसी कामिनी को देखकर अपने को कामुक के समान प्रदर्शित करते हुए साधक कामुकों के योग्य जिन-जिन विलासों का प्रदर्शन करता है वे शृंगारण हैं।

शेष—अवशेष, परिशेष इत्यादि। न्याय दर्शन के अनुसार—द्रव्यगुण

कर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यकर्म-गुणसंशये, न द्रव्यम् एकद्रव्यत्वात्, न कर्म, शब्दान्तर हेतुत्वात् यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शेषः (वात्स्या०, १.१.५) आशय यह कि द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में विशेषता न रखते हुए सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक नित्य तीन पदार्थों से विभक्त पृथक किए हुए शब्द में वह शब्द द्रव्य, गुण अथवा कर्म पदार्थ है, ऐसा संदेह होने पर, एक आकाश रूप द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण शब्द द्रव्य नहीं हो सकता, दूसरे शब्द की उत्पत्ति का कारण होने से, कर्म पदार्थ भी नहीं हो सकता—इस प्रकार द्रव्य तथा कर्म पदार्थ में भी अन्तर्भाव के कारण न होने पर जो अवशिष्ट है—शब्द शेष कहलाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार—**शेषः परार्थत्वात्** (जै०सू०, ३.१.२)। अर्थात् दूसरे के लिए होने वाला शेष कहलाता है। आचार्य बादरि के मत में द्रव्य, गुण तथा संस्कार में शेष की प्रवृत्ति होती है (जै० सू०, ३.१.३)। जैमिनि के अनुसार—**कर्माण्यपि जैमिननीः फलार्थत्वात्, फलं च पुरुषार्थत्वात्, पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्** (जै० सू०, ३.१.४-६)। आशय यह कि फल के लिए होने से यज्ञ, दान आदि शेष हैं और पुरुषार्थ के लिए होने से द्रव्य, गुण, संस्कार और कर्म के समान ही फल शेष हैं, साथ ही कर्म का निमित्त होने से पुरुष द्रव्य के समान ही शेष है।

शेषवत्—अनुमान-भेद। न्याय दर्शन के अनुसार—**शेषवत्तत् - यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्या-पूर्णत्वं शीघ्रत्वंच दृष्ट्वा स्रोत-सोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति** (वात्स्या०, १.१.५) अर्थात् जिस अनुमान में कार्य से कारण की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि होती है, उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। जिस प्रकार पूर्व में देखे हुए नदी के स्वाभाविक जल के विपरीत बड़े प्रवाहों के साथ बहते हुए नदी के जल को, जो चारों तरफ से भरा हुआ है तथा शीघ्रता से बहता है, देखकर उन प्रवाहों से अनुमान किया जाता है कि इससे पूर्व वृष्टि अवश्य हुई थी। एक अन्य लक्षण प्रस्तुत हुए वात्स्यायन कहते हैं—**शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्त परिषेधेऽन्यत्राऽप्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषण सामान्यविशेष समवायेभ्योविभक्तस्यशब्दस्यतस्मिन् द्रव्यगुणकर्मगुणसंशये, न द्रव्यम्, एकद्रव्य-त्वात्, नकर्म, शब्दान्तरहेतुत्वात् यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्व प्रति-पत्तिः** (वात्स्या०, १.१.५)। अर्थात् शेषवत् शब्द का अर्थ है—परिशेष (बचना)। सम्भावित विषयों में से कुछ विषयों का निषेध होने पर उक्त सम्भावित

विषयों में से किसी में सम्भावना न होने के कारण उक्त सम्भावित विषयों में कहे हुए निषेध के पश्चात् जो परिशिष्ट हो उनमें निश्चय रूप ज्ञान होना शेषवत् अनुमान कहा जाता है। जैसे—द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में विशेषता न रखते हुए सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक नित्य पदार्थों से पृथक किए हुए शब्द में वह द्रव्य, गुण अथवा कर्म पदार्थ है, ऐसा संदेह होने पर, एक आकाश रूप द्रव्य में ही समवाय संबंध से रहने के कारण शब्द नहीं हो सकता; दूसरे शब्द की उत्पत्ति का कारण होने से, कर्म पदार्थ भी नहीं हो सकता। इस प्रकार द्रव्य तथा कर्म पदार्थ में भी अन्तर्भाव के कारण न होने पर जो अवशिष्ट बच जाता है, वह शब्द है। इस प्रकार शेषवत् नामक अनुमान से शब्द गुण पदार्थ है ऐसा सिद्ध होता है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्य तत्व कौमुदी में शेषवत् को अवीत अनुमान का भेद बतलाया है। उनके अनुसार—**शिष्यते परिशिष्यते इतिशेषः स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमान ज्ञानस्य तच्छेषवत्** (सां०त०कौ०, का० ५)। अर्थात् शेष अथवा परिशेष जिस अनुमान रूप ज्ञान का विषय हो उसे शेषवत् कहते हैं।

श्रद्धा—आस्था। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—**श्रद्धा हृदय इति होवाच**—अर्थात् श्रद्धा हृदय की वृत्ति है। मनुस्मृति के अनुसार—**श्रद्धाकृते ध्यते ते भवतः स्वगतैर्धनैः**। आशय यह कि धर्म तभी निश्चित फल देता है जब वह श्रद्धापूर्वक किया गया हो। श्रीमद्भगवतगीता में कहा गया है कि बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और किया हुआ कर्म असत् है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गी०, १७.२८)

श्रद्धा की विशिष्टता को प्रतिपादित करते हुए गीता (४.४०) में कहा गया है कि भगवत-विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा रहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

गीता में तीन प्रकार की श्रद्धा मानी गई है जिसका उल्लेख गीता (१७.२) में किया गया है—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥

अर्थात् मनुष्यों की स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है । इनमें से जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही उसका स्वरूप होता है । तुलसीदास ने रामचरित मानस में श्रद्धा को इसी रूप में माना है । उन्होंने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।

अर्थात् जिसकी जैसी भावना यानि कि श्रद्धा होती है उसको ईश्वर उसी रूप में दिखाई देता है । उन्होंने (तुलसीदास ने) रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही कहा है—

भवानी शंकरौवंदे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥

यहाँ पर पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप माना गया है जिसके बिना यानि कि श्रद्धा तथा विश्वास के बिना सिद्धजन अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते ।

श्रवण—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन । वेदान्त पारिभाषाकार के अनुसार—**श्रवणं नाम वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकुला मानसी क्रिया** (वे० परि०, पृ० ३६१) । अर्थात् श्रवण का अर्थ है—अद्वितीय ब्रह्म में विद्यमान वेदान्त तात्पर्य के निश्चयार्थ मानसिक क्रिया । सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है—**श्रवणं नाम षड्विधलिंगैरशेषवेदांतानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्** (वे० सा०, पृ० १९२) । अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य है, इसका छः प्रकार के लिंगों से निश्चय करना श्रवण है । ये छः लिंग हैं - उपक्रम (प्रारम्भ), उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति । भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**तावदुपनिषद्वाक्य-श्रवणमात्राद्भवति, या किलाचक्षते श्रवणमिति** (भा०, ३.४.२६) । अर्थात् उपनिषद् वाक्य के श्रवण मात्र से उत्पन्न होने वाली प्रतिपत्ति श्रवण है । विवरण परम्परा के आचार्य पद्मपाद के अनुसार—**श्रवण नाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः शरीरकश्रवणं च** (पं० पा०, पृ० ३५२) । अर्थात् ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए वेदान्त वाक्यों का विचार तथा शारीरक का श्रवण "श्रवण" है ।

श्रुत श्रुति शब्द का सामान्य अर्थ होता है—ध्यान लगाकर श्रवण किया हुआ। जैन दर्शन में ज्ञान। जैन दर्शन के अनुसार- **ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्ट ज्ञानं श्रुतम्** (सर्व०सं०, पृ० १३८)। अर्थात् ज्ञान के आवरण का क्षय या उपशम हो जाने पर, मतिज्ञान से उत्पन्न, स्पष्ट ज्ञान को श्रुत कहते हैं। इसे ही नैयायिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।

श्रुति—जिसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, ऐसे शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति "श्रु" श्रवणे धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाने से होती है, जिसका अर्थ होता है—सुनना। यहाँ पर कहने का तत्पर्य यह है कि जिससे अर्थ को सुना जाये या जाना जाये वह श्रुति है। वैदिक परम्परा में मंत्र और ब्राह्मण वचन दोनों को ही श्रुति शब्द से सम्बोधित किया जाता रहा है। मनुस्मृति (२.१५) में कहा गया है—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौस्मृतः।
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

मीमांसा दर्शन में श्रुति को विनियोग का पर्याय माना गया है। उनके अनुसार जिससे सम्बन्ध विशेष का ज्ञान हो, वह ब्राह्मण वाक्य श्रुति कहालाता है।

श्रोत्र—श्रुयतेऽनेन इति श्रोत्रम्—से श्रोत्र शब्द की उत्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ होता है जिससे सुना जाय वह श्रोत्र है। तर्कभाषाकार ने श्रोत्र के लक्षण के संदर्भ में कहा है—**शब्दोपलब्धि साधनमिन्द्रिय श्रोत्रम्** (त० भा०, पृ० २१२)। आशय यह कि जो इन्द्रिय शब्द की उपलब्धि का साधन हो उसे श्रोत्र कहा जाता है।

श्वास—वायु का विशेष व्यापार। योग दर्शन में कहा गया है—**प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचमति स श्वासः** (यो० सू०, १.२१)। अर्थात् प्राण जो बिना इच्छा के वाह्य वायु का नासिकारंध्र द्वारा भीतर प्रवेश करता है, वह श्वास कहलाता है। मनुष्य एक दिन में २१ हजार ६ सौ बार श्वास ग्रहण करता है।

श्वेताम्बर—जैनों का धर्मगत भेद। जैन दर्शन अनुसार—

सरोजहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजा।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गका जैनसाधवः॥
(सर्व० सं०, पृ० १७८)

आशय यह कि धूल झाड़ने वाले को साथ रखने वाले, अपने केशों को उखाड़ने वाले, क्षमाशील तथा आशक्ति रहित जैन साधु श्वेताम्बर हैं।

ष

षडायतन—बौद्ध दर्शन में दुःख समुदाय का अंग। यहाँ पर आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा इन पाँच इन्द्रियों और एक मन इन्द्रिय को जब सम्पृक्त कर दिया जाता है तब उसे षडायतन कहते हैं। बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है कि व्यक्ति को माता के उदर में गर्भ धारण करते ही इन छः इन्द्रियों से अलग-अलग विषयों का ज्ञान प्राप्त होने लगता है।

स

संकर—**परस्परात्यन्ताभाव समानाधिकरण्ये सति जात्यन्तरेण समानाधिकरण्यन्। यथा भूतत्वस्य मूर्तत्वाबिना संकरः** (दिनकरी, ६)। आशय यह कि कुछ पदार्थों को यदि अलग ढंग से दो वर्गों में विभाजित करने पर यदि कुछ दोनों प्रकार के वर्ग के साथ रहें और कुछ पहले प्रकार के विभाजन में कुछ पदार्थों के साथ रहते हुए दूसरे प्रकार के विभाजन में अन्य पदार्थों के साथ रहें तो ऐसे पदार्थों में विद्यमान आधारभूत धर्म को संकर धर्म कहते हैं। जैसे पदार्थों का एक मूर्त एवं अमूर्त्त रूप में विभाजन करने पर पुनः मूर्त पदार्थ को अमूर्त रूप तथा अमूर्त पदार्थ को मूर्त रूप में विभाजन करना संकर धर्म है।

संख्या—संख्या शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान। प्रशस्तपाद भाष्य में कहा गया है—**एकत्वादि व्यवहार हेतुः संख्या** (प्र० भा०, पृ० ८६)। अर्थात् एकत्व आदि व्यवहार का हेतु संख्या है। वैशेषिक दर्शन में मान्य सामान्य गुणों में संख्या प्रथम गुण माना गया है। वैसे सामान्य रूप में वैशेषिक बहुत्व संख्या को नहीं मानता, किन्तु न्यायकन्दलीकार ने बहुत्व को भी एक संख्या विशेष स्वीकार किया है। वहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है—**वयं तु ब्रूमः त्रित्वादिसमानाधिकरणं संख्यान्तमेव बहुत्वं त्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिजन्य प्रागभावभेदादेवं भावः** (वै० उप०, पृ० १८०)।

संग—**परस्पर प्राप्ति मात्रं संगः** (सर्व०सं०, पृ० १६८) । अर्थात् एक दूसरे पदार्थ का केवल सम्पर्क संग है । जैसे — आत्मा और शरीर ।

संगति—संगति अधिकरण का एक भेद है । इसके अन्तर्गत कोई विचार किस शास्त्र, किस अध्याय और किस पाद में करना ठीक है, यही संगति है (सर्व० सं०, पृ० ५२१) । कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी संगति को अधिकरण के अंग के रूप में स्वीकार नहीं करते ।

संग्रह— **विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां तत्त्वसिद्धये ।**
समासेनाभिधानं यत्संग्रहं तं विदुर्बुधाः ।।

(सर्व० सं०, पृ० १६६)

अर्थात् जब किसी विषय को विस्तार या व्याख्या शैली में न कहकर समास शैली में कहा जाय तो वह संग्रह कहलाता है ।

संज्ञा—इसका सामान्य अर्थ चेतना, संवित्, पहचान, नाम, बोधक, ग्राहक, प्रत्यायक, सूर्यपत्नी इत्यादि होता है । वाक्यपदीयकार के अनुसार—

स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते ।
जातेः कर्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ।।
संज्ञिनी व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
जाति प्रत्यायिता व्यक्ति। प्रदेशेषूपतिष्ठते ।।

(वा० प०, १.६८-६६)

अर्थात् कुछ लोग शब्द का अपना स्वरूप (स्ववर्णानुपूर्वी), व्यक्ति (अग्नि आदि) के रूप में संज्ञा होती है, ऐसा मानते हैं । इस संज्ञा की संज्ञिनी जाति होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का समावेश रहता है । कुछ लोग शब्दत्व को संज्ञा मानते हैं ।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि की मान्यता है कि वाणी ही संसार में रहने वाले प्राणियों और पदार्थों की संज्ञा है । यह प्राणि-शरीर, वस्तु-शरीर भीतर और बाहर विद्यमान है। प्राणियों में जो चेतना है, वस्तु मात्र में जो संज्ञा है, वह वाणी ही है—

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु ।।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि चेतना या वाणी को संज्ञा कहने का तात्पर्य यह नहीं लगाना चाहिए कि जिन वस्तुओं में ये गुण नहीं है, उनको संज्ञा नहीं होती ।

इस विषय में सर्वप्रथम कथ्य तो यह है कि संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो चेतन नहीं है। हाँ, चेतना में स्तरगत भेद अवश्य है। मनुष्य विशेष सचेतन, पशु सामान्य सचेतन, वनस्पति अल्पसचेतन और पाषाणादि शून्य सचेतन कहलाते हैं। पाषाणादि को सर्वथा चेतनाहीन समझना एक भूल है। पाषाणादि के भी नाम होते हैं, इसलिए वे भी ससंज्ञक होते है। पाषाणादि सचेतन हैं। इन पदार्थों में स्पन्दन और संवेदन होता है। विद्युत और वैद्युतउपकरण इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। सभी भौतिक एवं रासायनिक ऊर्जाएं संवेदनशील और स्पन्दनशील होती हैं। इसकी संवेदनशीलता और स्पन्दनशीलता मनुष्य से बहुत विशाल और बहुत सूक्ष्म भी होती है। वैयाकरणों ने कृत्रिमरूप, अकृत्रिमरूप, कृत्रिम-अकृत्रिम और अकृत्रिम-कृत्रिम भेद से संज्ञा चार प्रकार की मानी है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्** (वै०सू०, २.१.१८)। अर्थात् संज्ञा हम लोगों यानि कि सामान्य मनुष्यों से विशिष्ट परमेश्वर और योगी की अनुमति में हेतु है।

संज्ञास्कन्ध—गौरित्यादि शब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः (सर्व०सं०, पृ० ८७)। अर्थात् 'गौ' इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले ज्ञानों का प्रवाह संज्ञास्कन्ध है।

संदिग्ध—हेत्वाभास। प्रशस्तपाद के अनुसार—जो हेतु पक्ष में वर्तमान होकर सपक्ष तथा विपक्ष में भी सामान्यरूप से वर्तमान ही होता है वह साध्य के संशय का उत्पादक होने से संदिग्ध हेत्वाभास होता है। जैसे यह पिण्ड (शरीर) गौ है, श्रृंगवान होने से। ऐसे अनुमान में उस (श्रृंगवत्ता) का हेतु गौरूप पक्ष में तथा अन्य गौरूप सपक्ष तथा महिषरूप विपक्ष में भी वर्तमान होने के कारण गोत्वरूप साध्य के संशय का जनक होने से संदिग्ध हेत्वाभास होता है—**यस्तु सन्ननुमेये तत्समानासमानजातीययोः साधारणः सन्देहजनकत्वात् संदिग्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति** (प्र०भा०, पृ० १६२)।

संनिकर्ष—इन्द्रिय के व्यापार रूप में जो साक्षात्कारिणी है वह सन्निकर्ष कहलाता है। लौकिक और अलौकिक भेद से संनिकर्ष दो प्रकार का होता है। इनमें से संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय, और विशेषण-विशेष्यभाव लौकिक संनिकर्ष है। सामान्य, ज्ञान और योगज ये तीन अलौकिक संनिकर्ष हैं।

संनिधि—अव्यवधान। संनिधि को आसत्ति भी कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—**अविनाभाववृत्तिः संनिधिरिति** (वात्स्या०, २.२.५८)। अर्थात् व्याप्यव्यापक सम्बन्ध को संनिधि कहते हैं। वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार पदजन्य पदार्थ का अव्यवधान से उपस्थित होना ही संनिधि है।

संपत्ति—ऐश्वर्य। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**शमदमादिसाधनसंपत्** (ब्र०सू०शां०भा०, १.१.१) अर्थात् शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान ये छः साधन संपत्ति हैं। गीता में दैवी और आसुरी भेद से दो प्रकार की संपत्तियों की चर्चा की गई है। जिसमें सर्वथा भय का अभाव, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार से स्वच्छता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव (शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता), अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की भी निन्दा आदि न करना, सभी प्राणियों में हेतु रहित दया इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का न होना, मार्दव, लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, अपने में पूज्यता का अभाव—ये दैवी सम्पत्ति हैं—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जवम्॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रोहचापलम्॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गी०, १६.१-३)

इसके विपरीत पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी, अज्ञान, ये सभी आसुरी संपत्ति के लक्षण हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ (गी०, १६.४)

संप्रज्ञात—योग दर्शन में समाधि भेद। **सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातः।** अर्थात् जिसके द्वारा ध्येय का स्वरूप संशय तथा विपर्यय रहित यथार्थ रूप से ज्ञात होता है वही संप्रज्ञात कहा जाता है। योग सूत्र (१.१७) में कहा गया है—**वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञात्।** आशय यह कि वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता के स्वरूप के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्ति का निरोध होता है वह ध्येयाकार चिन्तनरूप भावना विशेष संप्रज्ञात समाधि कही जाती है। इस संप्रज्ञात समाधि को सविकल्प समाधि भी कहते हैं। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भेद से संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है।

संप्रसाद—**संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते** (ब्र०सू०शां०भा०, १.३.८)। अर्थात् सुषुप्ति स्थान को संप्रसाद कहा जाता है। आचार्य शंकर बृहदारण्यक उपनिषद् को उद्धृत करते हुए कहते है कि संप्रसाद अवस्था में प्राण जागता-स्वव्यापार करता है, इसलिए संप्रसाद शब्द से (लक्षणावृत्ति से) प्राण अभिप्रेत है—**संप्रसादावस्थायां प्राणो जगर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभिप्रेयते** (ब्र०सू०शां० भा०, १.३.८)।

सम्बन्ध—अनुबंध-भेद। शास्त्र या ग्रन्थ के साथ विषय का प्रतिपादकत्व सम्बन्ध कहलाता है।

संभव—प्रमाण। **संभवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्तस्य सत्ताग्रहणम्। यथा द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम् आढकस्य सत्ता ग्रहणात्प्रस्थस्येति** (न्या०सू०, २.२.१)। अर्थात् जिससे अविनाभावि (व्याप्तिवाले) एक पदार्थ की सत्ता के ज्ञान से दूसरे पदार्थ की सत्ता का ज्ञान होता है उसे सभव प्रमाण कहते हैं। जिस प्रकार द्रोण (पसेरी) रूप परिमाण (तोल) के ग्राम से उस परिमाण के साथ अवश्य रहने वाले आढ़क (अढ़ाई सेर) रूप तौल परिमाण का तथा आढ़क परिमाण का ज्ञान होने से प्रस्थ (सवा सेर) का ज्ञान होता है, ऐसा यह संभव नामक प्रमाण कहलाता है। संभव का एक अन्य लक्षण देते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि अविनाभाव (एक के बिना दूसरे का न होना) रूप व्याप्ति सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध समुदाय तथा समुदायी (समुदाय वाले) इन दोनों में से समुदाय से समुदायी का ज्ञान होना संभव

प्रमाण कहलाता है—**अविनाभाववृत्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदाय येनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः** (न्या०सू०वा०भा०, २.२.२)।

संयम—त्रयमेकत्र संयमः (यो०सू०, ३.४)। अर्थात् जब धारण, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का एक विषय विषयक हो तब इन तीनों का समुदाय संयम कहा जाता है। व्यास ने इस सूत्र के भाष्य में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—**एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तांत्रिकी परिभाषा संयम इति** (यो०भा०, ३.४)। अर्थात् जब ये धारण, ध्यान तथा समाधि रूप तीनों साधन एक विषयविषयक हों, तब वे संयम शब्द से व्यवहृत होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रथम धारणा की गई हो उसी विषय में यदि ध्यान तथा समाधि भी किये गये हों तब इन तीनों का समुदाय संयम कहा जाता है।

संवर—सम् वृणोति इति संवरः। आशय यह कि जो ढंक देता है वह संवर है। जैन दर्शन के अनुसार—**आस्त्रव निरोधः संवरः** (सर्व०सं०, पृ० १६४)। अर्थात् आस्त्रव का निरोध हो जाना (कर्म पुद्गलों का आत्मा में प्रविष्ट न होना) संवर है।

संवाद—वाद-विवाद। **समायवदः संवादः** (वात्स्या०, ४.२.४७)। अर्थात् समाय यानि कि समता के लिए अर्थात् अनुमति के लिए वाद यानि कि तत्त्व-ज्ञान की इच्छा से कथा की प्रवृत्ति होना संवाद कहलाता है। नैयायिकों का मंतव्य है कि न्याय शास्त्र रूप अध्यात्मविद्या के ज्ञाताओं के साथ संवाद (वाद-विवाद) करने से श्रेय की प्राप्ति होती है।

संवित्—ज्ञान। विष्णु पुराण में संवित् को विष्णु की शक्ति माना गया है। शांकर दर्शन के अनुसार—

> **अत्रोच्यते द्वयी संविद्वस्तुनो भूतलादिनः।**
> **एका संसृष्टविषया तन्मात्रविषयापरा॥** (सर्व०सं०, पृ० ८२१)

अर्थात् भूतल आदि वस्तु में दो प्रकार का संवित् (ज्ञान) माना गया है। एक का तो संसृष्ट विषय होता है जैसे भूतल घट से युक्त है। दूसरे प्रकार के संवित् (ज्ञान) का विषय केवल वह वस्तु ही है। जैसे—केवल भूतल का ज्ञान।

संवृत्ति—असत्प्रकाशनशक्तिरविद्या संवृतिरिति (सर्व०सं०, पृ० ८३६)। अर्थात् असत् पदार्थों के प्रकाशन की क्षमता को संवृति कहते हैं। वास्तव में असत् पदार्थों के प्रकाशन की शक्ति, अविद्या और संवृति ये तीनों पर्याय हैं। बौद्ध दर्शन में संवृत्ति को एक आवरण माना गया है। नागार्जुन के अनुसार—बुद्धि के सत्-असत् आदि विकल्पों के द्वारा सांसारिक प्रपंचों का जो ज्ञान है वह संवृति है—**बुद्धिरगोचरस्तत्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते** (मा०का०, ६.२)। बौद्ध दर्शन में मिथ्या और तथ्य भेद से संवृति दो प्रकार की मानी गई हैं। अद्वैत वेदान्त में संवृत्ति के ये दोनों भेद प्रतिभास और व्यवहार नाम से जाने जाते हैं। जैसे स्वप्न का ज्ञान, भ्रमात्मक ज्ञान आदि मिथ्या या प्रतिभास संवृत्ति है और घट-पट आदि का ज्ञान तथ्य या व्यवहार संवृत्ति है।

संशय—किसी वस्तु के अनिश्चित ज्ञान को संशय कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार—**एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नाना अविमर्शः संशयः** (त०भा०, पृ० ३३६)। अर्थात् एक धर्मी के परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के अवमर्श बोध का नाम है—संशय। गौतम के अनुसार किसी वस्तु के सम्बन्ध में विरोधी निर्णयों का होना संशय है (न्याय०सू०, १.२.४२)। सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है कि—**अनवधारणात्मकम् ज्ञानं संशयः** (सर्व०सं०, पृ० ४६३)। अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे सामने दिखाई देने वाली वस्तु में यह स्थाणु है या पुरुष—यह निश्चय न कर पाना संशय है। योग दर्शन में संशय को विक्षेप का भेद माना गया है। योग दर्शन के अनुसार—**संशय उभय कोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैव स्यादिति**। (यो०भा०, १.३०)। अर्थात् यह ऐसा होगा अथवा ऐसा नहीं होगा, इस प्रकार का एक धर्मी में उभय कोटि का विषयज्ञान संशय कहा जाता है।

संशयसम—जिसमें वादी का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि दृष्टान्त तथा सामान्य दोनों के समान रूप से इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण, उनके नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की वस्तुओं का साधर्म्य देखकर संशय होता है उसे संशयसम कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४८०)।

संसर्ग—इसका सामान्य अर्थ होता है—सम्बन्ध। मनुस्मृति में कहा गया है—

यो येन यति तेनेषा संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यातत्संसर्गं विशुद्धये॥

सांख्य दर्शन में संसर्ग का तात्पर्य सम्बन्ध के अर्थ में किया गया है। वहाँ पर यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष के संसर्ग से जगत की सृष्टि होती है। वेदान्तसार में कहा गया है कि किसी वाक्य में आये हुए पदों से निर्दिष्ट पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं (वे०सा०, पृ० १७१)। भेद रूप और अभेद रूप के भेद से संसर्ग दो प्रकार का होता है। जहां पर वाक्यगत पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने से सामान्याधिकरण्य का अभाव होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ भेद संसर्ग रूप माना जाता है। जैसे—**दण्डेन गोमानय**—इस वाक्य के पदों में सामानाधिकरण्य नहीं है, इसलिए यहाँ पर वाक्यार्थ भेद संसर्ग रूप है। जहाँ पर वाक्यगत पदों में समान विभक्ति का प्रयोग होने से सामानाधिकरण्य होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ अभेद संसर्ग रूप माना जाता है। जैसे—**नीलमुत्पलम्** वाक्य के पदों में सामान्याधिकरण्य होने से वाक्यार्थ अभेद संसर्ग रूप है।

संसर्गाभाव—अभाव। संसर्ग के विरोधी अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। इसे दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकते हैं—एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध संसर्गाभाव है। जैसे—इस भूतल पर घड़ा नहीं है—यह संसर्गाभाव है; क्योंकि इस वाक्य में घड़ा का भूतल पर पूर्ण निषेध किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार—**तादात्म्यसम्बन्धानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः संसर्गाभावः।** अर्थात् जो अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी न हो वह संसर्गाभाव है। तर्कभाषा में कहा गया है—**संसर्गाभाव त्रिविधः—प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति** (त०भा०, पृ० ३१०)। अर्थात् प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव के भेद से संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है। इसी बात की ओर संकेत करते हुए कारिकावलीकार ने कहा है—

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥

(भा०प०, १२-१३)

संसार—**संसरतीति संसारः**। आशय यह कि जो घटी चक्र (रहट) की तरह लगातार चलता रहता है वह संसार है। न्याय दर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान से लेकर दुःख तक जो धर्म हैं, वे अवच्छिन्न हैं; जिनका प्रवर्तन ही संसार है (सर्व०सं०, पृ० ४६०)। सांख्य दर्शन के अनुसार महत् तत्व से

लेकर सूक्ष्म तत्वों से बना हुआ, भोग रहित, धर्माधर्म आदि भावों से अधिवासित, लयशील इस सूक्ष्म शरीर का संसरण जहाँ पर होता है, वह संसार है (सांख्य कारिका, ४०)। श्री वल्लभाचार्य ने तत्वार्थ दीप निबन्ध (शास्त्रार्थ प्रकरण) में कहा है—

प्रपंचो भगवत कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्याऽविद्ययात्वस्य जीव संसार उच्यते ॥

आशय यह कि संसार भगवान् की माया नाम की शक्ति से बना है। जीव माया की अविद्या नामक शक्ति के आश्रय से संसार को बनाता है। यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि वल्लभाचार्य ने जगत् और संसार में भेद सिद्ध किया है, जबकि अन्य दार्शनिक दोनों को एक मानते हैं। उनके अनुसार संसार अहंतात्मक होने के कारण अनित्य एवं असत्य है, जबकि जगत् ब्रह्मात्मक होने के कारण नित्य एवं सत्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**अविद्यास्तमयो मोक्षःसा संसार उदाहृता** (ब्र०सि०, ३.१०६)। आशय यह कि अविद्या ही संसार है।

संसारी—जैन दर्शन में जीव-भेद। उनके अनुसार—**भवद्भवान्तर प्राप्तिमन्तः संसारिणः** (सर्व०सं०, पृ० १५०)। अर्थात् एक जन्म से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले जीव संसारी कहलाते हैं। संसारी जीव दो प्रकार का होता है—समनस्क और अमनस्क।

संस्कार—न्याय दर्शन में गुण। तर्कभाषाकार के अनुसार—**संस्कार, व्यवहारासाधारणकारणं संस्कारः** (त०भा०, पृ० २९९)। अर्थात् जो व्यवहार संस्कारमूलक हैं उनके असाधारण कारण को संस्कार कहा जाता है। जैसे पूर्वानुभूत विषय की कालान्तर में जो शाब्दिक चर्चा होती है वह संस्कार के कारण ही होती है। संस्कार के अभाव में यह क्रिया सम्भव नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में संस्कार तीन प्रकार का माना गया है। वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक। बौद्ध दर्शन में संस्कार को कारण के रूप में माना गया है। इनकी मान्यता है कि संस्कार के कारण ही प्राणी गर्भ में आता है, जहाँ वह विज्ञान या चैतन्य की प्राप्ति करता है। योग दर्शन के अनुसार—**संस्कार साक्षात्कारणात् पूर्वजातिज्ञानम्** (यो०सू०, ३.१८)। अर्थात् जिससे प्राणी को पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त होता है वह संस्कार है। यहाँ पर संस्कार दो प्रकार

के माने गये हैं—एक स्मृति रागादि क्लेश के हेतु, जो वासनारूप हैं और दूसरे जाति, आयु तथा भोग रूप विपाक के हेतु, जो शुभाशुभ कर्म-जन्य धर्माधर्म रूप हैं।

संस्कारशेष—समाधिसिद्धि। योग दर्शन के अनुसार सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर, जो योगी परम वैराग्य से युक्त हो गया है, उसे बीज (वस्तु ज्ञान) से रहित समाधि मिलती है। जो जाति बीज के रूप में विद्यमान क्लेशों को रोकने में समर्थ है, उसे संस्कारशेष समाधि कहते हैं।

संस्कारस्कन्ध—**वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः** (सर्व०सं०, पृ० ८७)। अर्थात् वेदना स्कन्ध पर आधारित रागद्वेषादि क्लेश (कष्ट), मद-मानादि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म को संस्कारस्कन्ध कहते हैं।

सकल—शैव दर्शन में जीव भेद। शैव दर्शन के अनुसार—**मल माया-कर्मात्मकबन्धत्रय सहितः सकलः** (सर्व०सं०, पृ० ३३५)। अर्थात् मल, माया एवं कर्म तीन पाश या बन्धन जिसमें रहते हैं, उसे सकल कहते हैं। यहाँ पर सकल जीव के दो भेद किए गए हैं—पक्क कलुष एवं अपक्क कलुष।

सजातीय—वस्तुगत भेद। जिसमें प्रतियोगी अपनी जाति का ही हो उसे सजातीय भेद कहते हैं जैसे एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद सजातीय भेद है (सर्व०सं०, पृ० २४८)।

सत्—**यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्** (गी०शां०भा०, २.१५)। अर्थात् जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार (परिवर्तन) नहीं होता वह सत् है। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जो आंखों से न दिखाई पड़ने पर भी सदैव रहने वाला है तथा जिसका रूप कभी परिवर्तित नहीं होता, वह सत् है। छान्दोग्योपनिषद् (६.२.१) में कहा गया है—**सदेव सौम्येदमग्रमासीत कथमसतः सज्जायते**। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति के पूर्व यह सत् ही था। जो असत् है उससे सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। गीता में कहा गया है कि जो नहीं है वह हो ही नहीं सकता और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं हो सकता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (गी० २.१६)

शंकराचार्य ने तत्वबोध में कहा है—**कालत्रयेऽपि तिष्ठति इति सत्**। अर्थात् जो तीनों कालों में स्थित रहता है, वह सत् है।

सत्कार्यवाद—दार्शनिक परम्परा में सत्कार्यवाद से कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है। भारतीय दर्शन में कुछ दार्शनिक सम्प्रदाय इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं और कुछ इसका मण्डन करते हैं। सांख्य दर्शन कार्य को कारण का परिणाम मानकर सत्कार्यवाद की प्रतिस्थापना करता है। सांख्यकारिकाकार ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि असत् कारण से, उपादान के ग्रहण से, सबमें सबका अभाव होने से, शक्त के शक्य कारण से एवं कारण के अभाव से सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है—

असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्व संभवाभावात्।
शक्तस्य शक्य करणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम्॥ (सां०का०,९)

वेदान्त दर्शन में सूत्रकार ने '**तदनन्यत्वम्**' (२.१.१४) सूत्र से कार्य और कारण के अनन्य सम्बन्ध को प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार शंकर ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—**अनन्यत्वेऽपि कार्य-कारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वम्** (ब्र०सू०, शां०भा०, २.१.९)। आशय यह है कि कारण और कार्य में अनन्यता है। वैष्णववादी रामानुज का कथन है—**कार्य कारणयोः एकं वस्तु द्विरूपं प्रतीयते** (ब्र०सू०, श्रीभाष्य, १.१.४)। अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध में एक वस्तु के दो रूप प्रतीत होते हैं। मीमांसक सत्कार्यवाद को स्वीकार नहीं करते। कुमारिल के अनुसार—**न हित शक्त्यात्मना किंचितसज्जन्य प्रपद्यते** (श्लो० वा०,उ०परि०, ३३)। आशय यह कि उपादान में सूक्ष्म रूप से अविद्यमान वस्तु की कभी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) नहीं हो सकती। इसलिए सत्कार्यवाद का विचार अनुपयुक्त है। किन्तु प्रभाकर का मत इस सन्दर्भ में कुमारिल के विपरीत है। प्रभाकर की मान्यता है—**कार्य हि कारणदेशं भवति** (बृ०, पृ० २१७)। अर्थात् कारण ही कार्य के रूप में परिवर्तित होता है। न्याय वैशेषिक कार्य को कारण से सर्वथा भिन्न बतलाता है, इसलिए वह सत्कार्यवाद का खण्डन करता है। यहाँ पर कार्य को प्रागभाव का प्रतियोगी कहा गया है। बौद्ध दार्शनिक भी सत्कार्यवाद की सत्ता में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार कारण के सिद्ध होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे कारण

रूप बीज के विनाश के बाद उससे कार्यरूप अंकुर की उत्पत्ति होती है। अतः सत् कारण से कार्य की उत्पत्ति न होकर असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है।

सत्ख्याति—ख्याति-भेद। रामानुज ने भ्रम की व्याख्या सत्ख्याति के द्वारा की है। रामानुज के अनुसार—**यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्** (श्रीभाष्य, पृ० २९)। अर्थात् सभी ज्ञान यथार्थ होता है। कारण यह कि जिस तरह पञ्चीकरण सिद्धान्त में एक भूत में अन्य भूत मिश्रित रहते हैं, उसी तरह शुक्ति, जो कि भ्रम का अधिष्ठान है, में रजत का अंश विद्यमान रहता है। जहाँ पर शुक्ति का ज्ञान न होकर रजत का ज्ञान होता है, वहाँ पर सत् रजत की ही शुक्ति में ख्याति होती है। इसलिए इसे सत्ख्याति कहते हैं।

सत्ता—इसका सामान्य अर्थ होता है—विद्यमान होना, वस्तुस्थिति, अस्तित्व आदि। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता** (वै०सू०, १.२.७)। अर्थात् जिसके कारण द्रव्य सत् है, गुणसत् है और कर्म सत् है, इस प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं वही सत्ता है। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि तीनों कालों (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) में, व्यवहार दशा में तथा प्रतीति के समय भी पदार्थों के ज्ञान का प्रतिरोध न हो, इसलिए उनकी तीन प्रकार की सत्ताएं मानी गई हैं। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है, आकाशादि की सत्ता व्यावहारिक तथा रजत आदि पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है—

कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।
बाधाभावात्पदार्थानां सत्वत्रैविध्यमिष्यते॥
तात्विकं ब्रह्मणः सत्वं व्योमादेर्व्यावहारिणम्।
रूप्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते॥

(सर्व०सं०, पृ० ८५१)

सत्य—सत्य शब्द की व्युत्पत्ति सत् धातु में अत् प्रत्यय करने पर होती है जिसका अर्थ होता है—वास्तविक यथार्थ इत्यादि। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है—**सत्यं यर्थार्थं वांगमनसे यथादृष्टं यथानुमिति यथा श्रुतं तथा वांगमनश्चेति**। अर्थात् वाणी और मन का यथार्थ होना, जैसा देखा, जैसा अनुमान किया और जैसा सुना, मन और वाणी का वैसा ही व्यवहार करना सत्य है। मनुस्मृति में कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात्ति प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।। (मनु०, ४.१३८)

सत्प्रतिपक्ष—सत्प्रतिपक्ष को प्रकरणसम भी कहा जाता है। जो लोग साध्य-साधक तथा साध्याभावसाधक अनुमानों को एक-दूसरे का प्रतिपक्ष मानकर उनके अनुमित्यात्मक कार्यों का प्रतिषेध मानते हैं वे उन अनुमानों में प्रयुक्त हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं और जो लोग साध्य-साधक तथा साध्याभाव साधक अनुमानों के सहसन्निधान में साध्य और संशयात्मक अनुमिति की उत्पत्ति मानते हैं, वे उन अनुमानों में प्रयुक्त हेतु को प्रकरणसम कहते हैं। (त०भा०, पृ० १२३) ।

सपक्ष—जिस धर्मी में साध्यात्मक धर्म का निश्चय हो उसे सपक्ष कहा जाता है (त०भा०, पृ० ११४)। जैसे पर्वत में अग्नि है इस अनुमान में महानस सपक्ष है, क्योंकि उक्त अनुमान से पूर्व भी उसमें साध्य अग्नि का सद्भाव निश्चित रहता है।

सप्तभंगीनय—भंग का अर्थ समुच्चय होना है। इसलिए जिसमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि का एक साथ ही समुच्चय होता है, वह सप्तभंगीनय कहलाता है (सर्व०सं०, पृ० १६९)। सात प्रकार से कहने की रीति से भी इसका यह नाम पड़ा है। जैन न्याय शास्त्र में परामर्श जो कि सात वाक्यों के रूप में होता है उसे सप्तभंगीनय कहते हैं। सात परामर्श इस प्रकार हैं—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अव्यक्तव्यम् च, स्यात् अस्ति च अव्यक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अव्यक्तव्यम् च, स्यात् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यम् च। रामानुज दर्शन के अनुसार—**सर्वस्यास्य मूलभूतः सप्तभंगीनयः** (सर्व०सं०, पृ० १८३)। आशय यह कि सारे प्रपंचों की जड़ सप्तभंगीनय है।

समनस्क—जैन दर्शन में संसारी जीव का भेद। जैन दर्शन के अनुसार—**संज्ञिनः समनस्काः** (सर्व०सं०, पृ० १५०)। अर्थात् संज्ञायुक्त जीव समनस्क है। सामान्य रूप से संज्ञा का तात्पर्य मनुष्यों एवं पशुओं के खाने-पीने आदि की चेतनता है, किन्तु जैन दर्शन उसे सीमित अर्थ में लेता है। उनके अनुसार शिक्षा, क्रिया, आलाप का ग्रहण करना ही संज्ञा है।

समवाय—समवाय का सामान्य अर्थ होता है—दो वस्तुओं का मिलन, सम्मिश्रण, संयोग इत्यादि। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**इहेदमिति यतः कार्य-**

कारणयोः स समवायः (वै०सू०, ७.२.२६)। अर्थात् कारण तथा कार्य में **कारणे कार्य वर्तते** (कारण में कार्य है) इस प्रकार की प्रतीति जिसके कारण होती है वही समवाय सम्बन्ध कहलाता है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः** (त०भा०, पृ० ३६)। अर्थात् दो अयुतसिद्ध पदार्थों का समवाय सम्बन्ध होता है। जैसे तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं, अतः इन दोनों में समवाय सम्बन्ध है। यहाँ पर एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से यह होती है कि अयुतसिद्ध पदार्थ कौन हैं, जिनमें समवाय सम्बन्ध होता है। इस सन्दर्भ में तर्कभाषाकार का मन्तव्य है कि—**ययोर्मध्ये, एकमविनश्यदपराश्रिदपराश्रितमेवावतिष्ठते तत्वयुतसिद्धौ** (त०भा०, पृ० ३७)। अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें से कोई एक अपने विनाश की सामग्री की अनुपस्थिति-दशा में दूसरे पर आश्रित होकर ही अवस्थित रहता है, अयुतसिद्ध कहा जाता है।

समवायि—समवायि को किसी कार्य की उत्पत्ति के एक कारण के रूप में माना जाता है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार—जिसमें समवेत रखते हुए कार्य उत्पन्न होता है वह समवायि कारण है। जैसे—तागा कपड़े का और कपड़ा अपने रंग आदि गुणों का समवायि कारण है—

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायि कारणम्।
यथा तन्तवः पटस्य पटश्च स्वगतरूपादेः॥

समव्याप्ति—जब दो वस्तुओं का एक-दूसरे से नियत साहचर्य सम्बन्ध होता है तो उसे समव्याप्ति कहते हैं। जैसे—पृथ्वी के बिना गंध नहीं हो सकती और गंध के बिना पृथ्वी। इसे ही समव्याप्ति कहते हैं।

समाख्या—यौगिक शब्दों को समाख्या कहते हैं (यो०सू०, पृ० ५१७)। जैसे—होत्रम्। होतृ के द्वारा किये जाने वाले कर्मों को होत्र कहते हैं। अतः होत्र के नाम से जिसका विधान हो उसे होतृ के द्वारा किये जाने योग्य कर्म समझना चाहिए।

समाधान—**निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्** (वे०सा०, पृ० ५३)। अर्थात् निगृहीत चित्त का श्रवणादि में तथा श्रवणादि के अनुकूल (गुरु शुश्रुषा आदि) विषयों में स्थिर हो जाना समाधान है।

समाधि—समाधि का सामान्य अर्थ होता है—मन को एकाग्र करना, किसी एक विषय पर मन को केन्द्रित करना इत्यादि। बौद्ध धर्म के अनुसार चित्त को तथा चित्त के व्यापार को एक आलम्बन के ऊपर सम्पर्क रूप से लगाना समाधि है। न्याय दर्शन के अनुसार—**समाधि विशेषाभ्यासात्** (न्या०सू०, ४.२.३८)। अर्थात् इन्द्रियों से प्रतीप (उल्टे) हटाये हुए किसी हृदय कमलादि रूप प्रदेश में आत्मा के अपने स्थान में मन की धारणा करने के प्रयास से जो आत्मा और मन का संयोग होता है वही तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से होने वाला समाधि कहलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्ड चैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा समाधि-रित्युच्यते** (वे०सा०, पृ० २२२)। अर्थात् जब चित्त वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान निश्चल होता हुआ अखण्ड चैतन्य मात्र के रूप में स्थित होता है तब उसे समाधि कहते हैं। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि पाँच नाडिका (घटिका) काल-पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति धारणा, साठ नाडिका काल-पर्यन्त चित्तवृत्ति की स्थिति ध्यान तथा द्वादश दिन पर्यन्त चित्त-वृत्ति की स्थिति समाधि कही जाती है—

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिन द्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥

सांख्य दर्शन के अनुसार—**समाधिसम्प्रज्ञातावस्था** (सां०प्र०भा०, २.६)। अर्थात् चित्त की असम्प्रज्ञात अवस्था समाधि कहलाती है। योग दर्शन के अनुसार—**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः** (यो०सू०, ३.३)। अर्थात् ध्यान काल में चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति का विषय; इन तीनों के समुदायरूप त्रिपुटी, जिसको क्रमशः ध्याता, ध्यान तथा ध्येय कहते हैं, उसका भान होता है; परन्तु जब वही ध्यान अभ्यासवश अपनी ध्यानकारता को त्याग कर केवल ध्येय रूप से स्थित होता हुआ प्रतिभासित होता है तब समाधि कहा जाता है। जैसे जल में डाला हुआ नमक विद्यमान रहता हुआ भी जल रूप हो जाने के कारण नमक रूप से न भासकर केवल जल रूप में भासता है, वैसे ही समाधि काल में ध्यान विद्यमान रहता हुआ भी ध्येयरूप हो जाने से ध्यान रूप से न भासकर केवल ध्येय रूप से भासता है। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से समाधि के दो प्रकार बतलाये गये हैं। इनका दूसरा नाम क्रमशः निर्विकल्प और सविकल्प या सबीज या निर्बीज समाधि है।

सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत ।

समान—वायुभेद । योग दर्शन के अनुसार हृदय से आरम्भ कर नाभि-पर्यन्त वर्तने वाला जो जीवन वृत्ति विशेष है, वह खाये-पीये अन्न-जल के परिणाम रूप रस को अपने-अपने स्थानों में समान रूप से प्राप्त करने से समान कहा जाता है (यो०भा०, ३.३९) ।

समानतंत्र—जिन दो सम्प्रदायों में सिद्धान्तगत अत्यधिक समता हो तथा उन दोनों के साहित्य में भी समानता हो, उसे समानतंत्र कहते हैं । जैसे—न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तर मीमांसा इत्यादि ।

समानाधिकरण—एक ही आधार पर स्थिर रहना समानाधिकरण है (सर्व०सं०, पृ० ३२) । जैसे—**वृक्षोऽयं शिशपा** । यहाँ पर वृक्ष और शिशपा में समानाधिकरण है क्योंकि दोनों का आधार या धर्म एक ही है । शिशपा में भी वृक्षत्व है और वृक्ष में भी ।

समानाभिहार—एक प्रकार के पदार्थों का एक ही स्थान पर रहना समानाभिहार कहलाता है । पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार—**समानाभिहारादि प्रतिबंधकबलाद् भेदभानव्यवहाराभावोपपत्तिः** (सर्व०सं०, पृ० २५५) । अर्थात् दो पदार्थों के सादृश्य के कारण मिश्रित हो जाने से उनका पार्थक्य जो समझ में नहीं आता है वह समानाभिहार है । जैसे नीर-क्षीर में स्वरूप का ग्रहण कर लेने पर भेद का प्रतिभास इसलिए नहीं होता क्योंकि उनमें समानाभिहार होता है । सांख्य दर्शन के अनुसार—**समानाभिहारात् यथा तोयदविमुक्तानुद-बिन्दून् जलाशये न पश्यति** (सां०त०कौ०, का० ७) । अर्थात् समान वस्तु के साथ मिश्रित हो जाना, जिसका पृथक् आभास नहीं हो पाता, समानाभिहार कहलाता है । जैसे—मेघ से गिरे हुए जल बिन्दुओं को सरोवर में पृथक् कर कोई नहीं देख पाता, इसका कारण समानाभिहार ही है ।

समिति—जैन दर्शन के अनुसार—**प्राणिपीडापरिहारेण सम्यगयनं समितिः** (सर्व०सं०, पृ० १६४) । अर्थात् प्राणियों की पीड़ा से अपने को बचाते हुए अच्छी तरह व्यवहार करना समिति है । ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और उत्सर्ग भेद से समिति पाँच प्रकार की होती है ।

समीक्षा—**अन्तर्भाष्यं समीक्षा** (का०मी०, पृ० ११)। अर्थात् भाष्य के अवान्तर गर्भित अर्थों का स्पष्टीकरण समीक्षा कहलाता है।

समुदय—सम् उपसर्ग पूर्वक 'उद्' धातु में 'अच्' प्रत्यय करने पर समुदय शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका सामान्य अर्थ उदय होना, प्रकट होना इत्यादि होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—जिससे रागादि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है, आत्मा के अपने स्वभाव के नाम जो विद्यमान है, वही समुदय है—

रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ॥

(सर्व०सं०, पृ० १०२)

सम्यक्चारित्र—जैन दर्शन में मोक्ष मार्ग का साधन। जैन दर्शन के अनुसार—**संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारण-क्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्** (सर्व०सं०, पृ० १४०)। अर्थात् संसार में कर्मों के नष्ट हो जाने पर, पाप नाश के लिए उद्यत, श्रद्धावान तथा ज्ञानवान पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से निवृत हो जाना ही सम्यक्चारित्र है। जैन दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भेद से सम्यक्-चारित्र पाँच प्रकार का माना गया है। सम्यक् चारित्र के इन पाँच भेदों का उल्लेख पातञ्जल दर्शन में यम के रूप में किया गया है।

सम्यक्ज्ञान—जैन दर्शन में मोक्ष का साधन। जैन दर्शन के अनुसार—**येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्वेना-वगमः सम्यक्ज्ञानम्** (सर्व०सं०, पृ० १३७)। अर्थात् जिस रूप में जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उसी रूप में मोह अथवा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक्ज्ञान है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है—

यथाव्यवस्थिततत्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यक्ज्ञानं मनीषिणः ॥

(सर्व०सं०, पृ० ३७)

अर्थात् तत्वों का उनकी व्यवस्था के अनुरूप, संक्षेप या विस्तार से, जो बोध होता है उसे ही विद्वान् लोग सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

सम्यक्‌दर्शन—जैन दर्शन में मोक्ष के मार्ग का साधन। उमा स्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है—**तत्वार्थे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति**। अर्थात् तत्वार्थ में श्रद्धा रखना ही सम्यक्‌दर्शन कहलाता है। सर्व दर्शन संग्रहकार के अनुसार—**येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** (सर्व०सं०, पृ० १३६)। अर्थात् जिस रूप में जीवादि पदार्थों की व्यवस्था जगत् में है अर्हत् ने उसी रूप में उनके तात्विक अर्थ का प्रतिपादन किया है, उन उक्तियों में श्रद्धा रखना, जिसका दूसरा नाम विरुद्ध सिद्धान्तों में आस्था नहीं रखना है, ही सम्यक्‌दर्शन कहलाता है। सर्व दर्शन संग्रह में आगे कहा है—**रुचिर्जिनोक्ततत्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते** (सर्व०सं०, पृ० १३७)। अर्थात् 'जिन देव' के द्वारा कहे गये तत्वों में रुचि लेना सम्यक् दर्शन कहलाता है।

सर्वज्ञ—जैन दर्शन के अनुसार—**प्रागुप्त कारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सर्वज्ञः** (सर्व०सं०, पृ० १३५)। अर्थात् सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र इन तीनों कारणों के बल से आवरण के क्षीण हो जाने पर किसी को भी सर्वज्ञ कहा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**यः सर्वज्ञः सर्ववित** (वे०सा०, पृ० ७७)। अर्थात् जो विशेष रूप से सब कुछ जानने वाला है, वह सर्वज्ञ है। मुण्डकोपनिषद् (१.१.१९) में कहा गया है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमंत्रं तपः।
तस्मात्येतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

योग दर्शन के अनुसार—**यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः** (यो०सू०, १.२५)। अर्थात् जहाँ जाकर ज्ञान की विश्रान्ति होती है वह सर्वज्ञ है। नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार—**उक्तानुक्ताशेषार्थेषु सभास विस्तरविभाग विशेषतश्चतत्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वमिति** (सर्व०सं०, पृ० ३०५)। अर्थात् गुरु के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट सभी विषयों में समास, विस्तर, विभाग और विशेष के द्वारा तत्व के रूप में सम्बद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि-ज्ञान को सर्वज्ञत्व कहते हैं।

सर्वतंत्र—न्याय दर्शन में सिद्धान्त पदार्थ का भेद। न्याय सूत्र (१.१.२८) में कहा गया है—**सर्वतंत्राविरुद्धस्तन्त्रे ऽधिकृतोऽर्थः सर्वतंत्र सिद्धान्तः**। आशय यह कि जिस अर्थ (विषय) का किसी भी शास्त्र में विरोध न हो एवं अपने

शास्त्र में जिसका प्रतिपादन किया हो, ऐसे विषय की इत्थं भावव्यवस्था को सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे घ्राण, रसना, चक्षु आदि इन्द्रिय हैं तथा गंध, रस, रूप आदि इन्द्रियों के विषय हैं, पृथिवी, जल इत्यादि भूत द्रव्य हैं तथा प्रमाणों से प्रमेय पदार्थ का ग्रहण होता है, यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है, क्योंकि न्याय शास्त्र में कहे हुए इन विषयों में किसी भी दूसरे शास्त्रों का विरोध नहीं है। तर्कभाषाकार के अनुसार—**सर्वतंत्र सिद्धान्तो यथा धर्मिमात्र सद्भाव:** (त०भा०, पृ० ३३९)। आशय यह कि सभी शास्त्रों को मान्य सिद्धान्त सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे—धर्मी की स्वरूपसत्ता।

सविकल्प—प्रत्यक्ष का भेद। **विकल्प्यते विशिष्यते वस्तु यो ज्ञान स विकल्प:**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार—विशेषणयुक्त वस्तु को ग्रहण करने वाला तथा विशेषण और विशेष्य के अन्योन्य सम्बन्ध का भान करने वाला ज्ञान सविकल्प कहलाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—**सविकल्पं च विशिष्टं ज्ञानं यथा गौरयमिति** (त०चि०, पृ० ८३९)। तात्पर्य यह कि जिस विषय के विशिष्ट एवं सामान्य गुण आपस में मिल जाते हैं, उसे सविकल्प ज्ञान कहते हैं। जैसे—'गौ' से इन्द्रिय का संयोग होने पर इसके आकार, रंग आदि विशेष गुण तथा गोत्व सामान्य गुण के सम्बद्ध हो जाने पर हमारा गो के विषय में जो स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान होता है, वह सविकल्प होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार सविकल्प अमुग्ध (निश्चित) ज्ञान है। इस प्रत्यक्ष में वस्तु का विकल्प एवं संकल्प पाया जाता है तथा उसे नाम, जाति, गुण आदि से सम्बद्ध किया जाता है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्य तत्व कौमुदी की ८वीं कारिका में कहा है—संकल्पक मन के साथ योग होना एक स्वाभाविक घटना है। वाक्य द्वारा अभिहित न होने पर भी यह सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है—सर्वथा मूक व्यक्तियों में यह ज्ञान उत्पन्न होता है; क्योंकि उनमें भी संकल्पक मन का व्यापार यथावत् होता ही है। सांख्य दर्शन के आचार्य विन्ध्यवासिनी सविकल्प प्रत्यक्ष को नहीं मानते। वे बौद्ध दार्शनिकों की तरह मात्र निर्विकल्प प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के अनुसार सविकल्प प्रत्यक्ष वह है जिसमें वस्तु के साथ-साथ उसके सामान्य एवं विशेष गुणों को भी जानते हैं। कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में इसकी चर्चा करते हुए कहा है—

पुन: पुनर्विकल्पेऽपि सती जाति: प्रतीयते।
तत्सम्बन्धानुसारेण सर्वं प्रत्यक्षमिष्यते॥

(श्लो०वा०, पृ० १२५)

आशय यह कि इन्द्रिय एवं विषय के सन्निकर्ष से एवं जाति प्रभृति से युक्त होकर विषयों का जो बार-बार ज्ञान होता है, वह सविकल्प प्रत्यक्ष है। बौद्ध दार्शनिक सविकल्प प्रत्यक्ष को नहीं मानते। उनके अनुसार जब किसी वस्तु के बोध में मन द्वारा उसके नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि का प्रयोग किया जाता है, तब उसमें गलती की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए बौद्ध दार्शनिक इसे अमान्य सिद्ध करते हैं। व्याकरण दर्शन के अनुसार किसी वस्तु को जानने का अर्थ है—उसका शब्दानुविद्ध होना। वाक्यपदीयकार की मान्यता है कि बाह्य इन्द्रियों से रस-रूप आदि की प्रतीति तथा अन्तःकरण में सुख-दुःख आदि की अनुभूति जो कुछ तथा जैसी भी होती है शब्दानुगम से ही होती है (वा०प०, १.१२३)। इसलिए इनके अनुसार जिसमें वस्तु के गुण, जाति एवं क्रिया को शब्दों द्वारा अनुबद्ध किया जा सके, ऐसा सविकल्प प्रत्यक्ष ही सम्भव है निर्विकल्प नहीं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पम्** (वे०परि०, पृ० २७)। आशय यह कि जिसमें वस्तु के विशिष्ट गुणों का अवगाहन किया जाता है, वह सविकल्प प्रत्यक्ष है। जैसे **घटमहं जानामि** में 'अहं' विशेष्य तथा 'जानामि' विशेषण है, जो आपस में सम्बन्धित है। अतः यह सविकल्प प्रत्यक्ष है।

सविचार—संप्रज्ञात समाधि का भेद। योग दर्शन के अनुसार—स्थूल पंचमहाभूत के कारण सूक्ष्म पंच महाभूत पंचतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध) रूप ग्राह्य विषयक भावना विशेष सविचार संप्रज्ञात समाधि कही जाती है (यो०सू०, १.१७)। सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है—**यदा तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य देशाद्यवच्छेदेन भावना प्रवर्तते तदा सविचारः** (सर्व०सं०, ६८९)। आशय यह कि जब तन्मात्र (रूप, रस आदि) तथा अन्तःकरण, इन सूक्ष्म पदार्थों को विषय बनाकर देश, काल आदि के विचार से मिलकर भावना उत्पन्न होती है, तब उसे सविचार सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

सवितर्क—संप्रज्ञात समाधि का भेद। योग दर्शन के अनुसार चित्त का आलम्बन रूप स्थूल पंचमहाभूत रूप ग्राह्य विषयक अथवा पाँच भौतिक चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा रूप ग्राह्य विषयक जो प्रज्ञारूप भावना विशेष है वह सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है (यो०सू०, १.१७)। आगे इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है—**तत्र शब्दार्थ ज्ञानविकल्पैः**

संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः (यो०सू०, १.४२)। आशय यह कि जिसमें शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप भिन्न पदार्थों का अभेद रूप भान होता है, वह सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि है।

सव्यभिचार—हेत्वाभास। **व्यभिचारेण सहितः सव्यभिचारः**। अर्थात् जो व्यभिचार (दोष) से युक्त है वह सव्यभिचार कहलाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—**अनेकान्तिकः सव्यभिचारः** (न्या०सू०, १.२.५)। अर्थात् जो हेतु एक पक्ष में स्थिर न होने से एकान्तिक (एक पक्ष में वर्तमान) नहीं होता, वह दोषयुक्त होने के कारण सव्यभिचार दुष्ट हेतु होता है। वात्स्यायन ने इस सूत्र के भाष्य में कहा है—**सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः**। अर्थात् जो व्यभिचार दोष के साथ रहता है उसे सव्यभिचार कहते हैं।

सहकारी—**सहकारिप्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता** (सर्व०सं०, पृ० ३५)। अर्थात् ज्ञान को स्पष्ट करने वाला प्रकाश सहकारी है। बौद्ध दर्शन में सहकारी को ज्ञान का कारण माना गया है।

सांख्य—सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति संख्या शब्द में **'तस्येदम्'** सूत्र से तद्धित अण प्रत्यय करने पर होती है। जिसका सामान्य अर्थ गणना से सम्बन्धित, गणना से जानने योग्य, सम्यक् विचार इत्यादि होता है। महाभारत शान्ति पर्व में कहा गया है कि तत्वों की संख्या का निर्धारण करने वाले शास्त्र को सांख्य कहते हैं—

संख्यां प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्वतः॥

मत्स्य पुराण (४.२८) में कहा गया है कि जिस शास्त्र में तत्वों की संख्या का निर्धारण किया गया है उसे सांख्य कहते हैं—**सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते**। भामतीकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार—**संख्या सम्यक् बुद्धिर्वैदिकी तथा वर्तन्त इति सांख्यः**। गीता में सांख्य का तात्पर्य संन्यासमार्ग बतलाया गया है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां श‍ृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

साकाङ्क्ष—वाक्यजन्य ज्ञान में कारण। न्याय दर्शन के अनुसार—**अर्थाः साकांक्षा परस्परान्वययोग्याः** (त०भा०, पृ० १४०)। अर्थात् जो अर्थ जिस

अर्थ के सम्बन्ध में आकांक्षा का उत्पादन करता है वह अर्थ उस अर्थ में साकाङ्क्ष कहा जाता है। जैसे—**तीरे फलानि सन्ति**—इस वाक्य का उच्चारण करने पर श्रोता को जब 'तीरे' शब्द से तीर रूप आधार का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के होते ही यह जिज्ञासा होती है कि तीर का आधेय क्या है? क्योंकि किसी आधेय के बिना कोई आधार नहीं हो सकता। अत: जब तक तीर का कोई आधेय न होगा तब तक तीर का आधारतत्व नहीं उत्पन्न हो सकता। इस प्रकार आधेय के रूप में फलरूप अन्य अर्थ विषयक आकांक्षा का उत्पादक होने से तीर रूप आधारभूत अर्थ फलरूप आधेयभूत अर्थ में साकाङ्क्ष होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—परस्पर अपेक्षा की योग्यता जिन पदों में रहती है उन पदों को साकाङ्क्ष शब्द कहते हैं (वे०परि०, पृ० १०२)।

साक्षी—**सह अक्षियस्य स: साक्षी**। अर्थात् साक्षी का सामान्य अर्थ होता है द्रष्टा, देखने वाला, अवलोकन करने वाला इत्यादि। उपनिषदों में साक्षी शब्द का प्रयोग प्रज्ञा, द्रष्टा, अन्तर्यामी, ईश्वर, आत्मज्योति इत्यादि अर्थों में किया जाता है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका के दूसरे प्रकरण के बारहवीं कारिका में साक्षी के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा है कि जो सब कुछ जानने वाला हैं, वह साक्षी है—

कल्पयत्यामनात्मानमात्मादेवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः॥

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा है—**अहं प्रत्ययिनमशेषस्व प्रचार साक्षिणी प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तंत्र प्रत्यगात्मनं सर्वसाक्षिणं तत् विपर्ययेणान्त करणादिष्वध्यस्यति** (ब्र०सू०शां०भा०, उपो०)। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्यगात्मा समस्त वृत्तियों का साक्षी है। विद्यारण्य ने पञ्चदशी में साक्षी के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहा है कि कर्ता, क्रिया तथा दृक् से भिन्न एवं परस्पर विलक्षण समस्त विषयों या दृश्य वर्ग को नित्य चैतन्य का जो रूप एक साथ प्रकाशित करता है, वही साक्षी है—

कर्तारं च क्रिया तद्वद्का कर्ताविषयानपि।
स्कारेयेदप्रयत्नेन योऽसो साक्ष्यम् चिद् विदुः॥

पाणिनि के अनुसार—**साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्** (पा०सू०, ५.२.९२)। अर्थात् 'साक्षी' शब्द द्रष्टा अर्थ में निष्पन्न होता है। साक्षात् द्रष्टत्व का अर्थ है

अव्यवधान से दृष्टत्व यानि कि व्यवधानरहित दृष्टत्व । सांख्य दर्शन के अनुसार—**यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी । यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनो विवाद विषयं साक्षिणो दर्शयतः, एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी** (सां०त०कौ०, का० १९) । अर्थात् जिसको विषय दिखाया जाता है वह साक्षी है । जिस प्रकार लोक में वादी और प्रतिवादी विवाद का विषय साक्षी को दिखाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने द्वारा निर्मित किये गए कार्यों को पुरुष को दिखाती है, अतः पुरुष साक्षी है ।

सादृश्य—जो सामान्य भावरूप है वह सादृश्य है। सांख्य दर्शन के अनुसार अनेक अवयवों में जो समानता दिखाई देती है वह सादृश्य कहलाती है (सां०प्र०भा०, ५.९४) । कहने का तात्पर्य यह कि सदृश पदार्थ में ही सादृश्य का बोध होता है । साँख्य प्रवचनकार का मत है कि सादृश्य वस्तुगत शक्ति विशेष की अभिव्यक्ति है (सां०प्र०भा०, ५.९५) । कुछ लोगों का मंतव्य है कि संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध सादृश्य है, किन्तु प्रवचनकार इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध भाव को जो नहीं जानता, उसे भी सादृश्य ज्ञान होता है। इसलिए संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध को सादृश्य कहना असंगत है । साधारण, असाधारण एवं विरुद्ध भेद से सादृश्य तीन प्रकार का माना गया है ।

साधनचतुष्टय—अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने ब्रह्म की जिज्ञासा के लिए चार साधनों को अनिवार्य रूप से माना है जिसे साधनचतुष्टय के नाम से जाना जाता है । ये साधनचतुष्टय हैं—**नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थ-भोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षत्वं च** (ब्र०सू०शां०भा०, १.१.१) । अर्थात् विवेक, वैराग्य, सद्सम्पत्ति एवं मुमुक्षत्व को साधनचतुष्टय कहते हैं ।

साधर्म्य—**द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्** (वै०सू०, १.१.९) । अर्थात् अपने सजातीय (एक जातीय) पदार्थान्तर को उत्पन्न करना साधर्म्य है । जैसे—वैशेषिक दर्शन में द्रव्य से विशेष तक पाँच पदार्थों का समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होना तथा अनेक होना साधर्म्य है । गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय तक पाँच पदार्थों की गुण-शून्यता तथा क्रियाशून्यता साधर्म्य है । अणुपरिमाणादि को छोड़कर दूसरे पटादि परिमाणादिकों का कारणत्व साधर्म्य है । वात्स्यायन के अनुसार—**सामान्यात्साधर्म्यम्** (वात्स्या०, ५.१.३४) । अर्थात् जिस हेतु में समान धर्म होता है वह साधर्म्य कहलाता है ।

साधर्म्यसम—जब साधर्म्य में दिये गये उदाहरण से युक्त, वाद का विरोध किया जाता है तथा विरोधी पक्ष उसी प्रकार के उदाहरण का प्रयोग करता है जिस तरह का उदाहरण वादी ने दिया है तो उसे साधर्म्यसम कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४७६)। उदाहरण के लिए कोई वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का वाद रखता है—शब्द अनित्य है, क्योंकि यह उत्पन्न होता है, जैसे घट। दूसरा व्यक्ति निम्न जाति के द्वारा उसका विरोध करता है—शब्द नित्य है, क्योंकि यह अमूर्त है, जैसे आकाश।

साधारण—न्याय दर्शन में अनेकान्तिक हेत्वाभास का भेद। तर्कभाषाकार के अनुसार—**पक्ष सपक्ष विपक्ष वृत्ति साधारण:। यथा शब्दो नित्य: प्रमेयत्वाद् व्योमवत्**। अर्थात् साधारण अनेकान्तिक वह हेतु होता है जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे—आकाश। इस अनुमान में प्रमेयत्व हेतु साधारण अनेकान्तिक है क्योंकि वह पक्ष शब्द, सपक्ष आकाश और विपक्ष घट इन तीनों में विद्यमान है।

साध्य—सिद्ध किये जाने योग्य। पक्ष में हेतु द्वारा जिसकी सिद्धि की जाती है उसे साध्य कहते हैं। जैसे—पर्वत में अग्नि है, धूम होने से। इस वाक्य में अग्नि साध्य है, क्योंकि पर्वत पक्ष में, धूम हेतु द्वारा अग्नि की सिद्धि की गई है।

साध्यसम—जिसमें पक्ष और दृष्टांत के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर किसी वाद का खण्डन हो, उसे साध्यसम कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४७८)।

सानन्द—सम्प्रज्ञात समाधि का भेद। योग दर्शन के अनुसार—प्रकाश-शरित सत्व प्रधान अहंकार के कार्य, एकादश इन्द्रिय रूप ग्रहण-विषयक जो आभोग है वह सत्वस्वरूप आनन्द विषयक होने से आनन्दानुगत समापत्ति अर्थात् सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। सर्व दर्शन संग्रह (पृ० ६९०) में कहा गया है—**यदा रजस्तमोलेशानुविद्ध चित्तं भाव्यते तदा सुखप्रकाशमयस्य सत्वस्योद्रेकात्सानन्द:**। अर्थात् जब रजोगुण और तमोगुण के लेशमात्र अंश से युक्त चित्त की भावना की जाती है तब सुख और प्रकाश से निर्मित सत्व का उद्रेक होता है—यही सानन्द समाधि है।

सामानाधिकरण—दो या दो से अधिक शब्दों का एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होना सामानाधिकरण है। जैसे—**शुक्ल: पट:** में शुक्ल शब्द का शुक्लत्व

और पट शब्द का पटत्व, इन दोनों शब्दों का पट रूप एक ही अर्थ के लिए प्रयोग हुआ है। सदानन्द ने वेदान्तसार (पृ० १६३) में कहा है—**सामानाधिकरण्य सम्बन्धस्तावन्धया 'सोऽयं देवदत्त:' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्काल विशिष्ट देवदत्तवाचक सशब्दस्यैत तत्काल विशिष्ट देवदत्त वाचकायशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्य सम्बन्ध:**। अर्थात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध उसे कहते हैं, जैसे 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्य में 'स:' शब्द भूतकाल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है और 'अयम्' शब्द वर्तमानकाल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है। इन दोनों शब्दों का एक ही देवदत्त रूप व्यक्ति में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार—**भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्य सम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति**। रामानुज दर्शन के अनुसार—**प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरस्वात् सामानाधिकरण्यस्य** (सर्व०सं०, पृ० २०२)। अर्थात् सामानाधिकरण्यता दो प्रकार से विशिष्ट किसी एक ही वस्तु पर निर्भर करती है। जैसे **'नीलोघट:'** में एक ही वस्तु का बोध होता है किन्तु एक प्रकार है नील गुण से विशिष्ट होना, दूसरा प्रकार है—घटत्व जाति से विशिष्ट होना।

सामान्य—सामानां भावः सामान्य:। आशय यह कि समान वस्तुओं में रहने वाला एक धर्म सामान्य है। जैसे सहस्त्रों मनुष्यों में रहने वाला मनुष्यत्व धर्म। न्याय दर्शन में अनुवृत्ति प्रत्यय, अनुगत प्रतीति, एकाकार बुद्धि के कारण का नाम है—सामान्य (त०भा०, पृ० ३०१)। सामान्य का न्याय दर्शन में दूसरा नाम जाति है। यहाँ इसके तीन भेद माने गये हैं—पर, अपर एवं परापर। वैशेषिक दर्शन में अनेक में एकत्व की बुद्धि को सामान्य कहा गया है। प्रशस्तपादाचार्य ने पदार्थ धर्मसंग्रह में कहा है—**नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम् सामान्यम्**। मीमांसा दर्शन में जाति, आकृति और सामान्य तीनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैन दर्शन में विशेष से भिन्न सामान्य की कोई सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। बौद्ध दर्शन सामान्य की सत्ता में विश्वास नहीं करता। उनका मंतव्य है कि सामान्य एक जगह से दूसरी जगह जाता नहीं क्योंकि क्रिया केवल द्रव्य में रहती है, सामान्य में नहीं—

न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्नचांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसंततिः॥

(सर्व०सं०, पृ० ५९)

सामान्यछल——छल-भेद । न्याय सूत्र (१.२.१३) में कहा गया है—**सम्भवतोऽर्थस्याति सामान्ययोगाद् सम्भूतार्थकल्पना सामान्य छलम्** । अर्थात् हो सकने योग्य अर्थ की विवक्षित अर्थ में रहने वाले तथा उसको छोड़ने वाले समान धर्म के सम्बन्ध से कल्पना न हो सकने के योग्य अर्थ की कल्पना करना, सामान्यछल कहलाता है । जैसे—'यह ब्राह्मण विद्वान है' इस प्रकार ब्राह्मण की केवल प्रशंसा करने के लिए वादी के कहे वाक्य का यदि ब्राह्मण में विद्या हो तो व्रात्य (संस्कार रहित) ब्राह्मण में भी होगी, क्योंकि वह भी ब्राह्मण है, अतः वह भी विद्याचार युक्त हो इस प्रकार वादी के वाक्य का ब्राह्मण होना विद्वता का कारण है, इस प्रकार अर्थ लेकर व्रात्य ब्राह्मण भी ब्राह्मण होने से विद्याचार से युक्त होने के कारण पूजनीय होगा ऐसी आपत्ति देना ही ब्राह्मण रूप सामान्य धर्म को लेकर (जो विद्वान् तथा मूर्ख दोनों में है) छल करना सामान्य छल कहलाता है ।

सामान्यतोदृष्ट—अनुमान-भेद । न्याय दर्शन के अनुसार—**सामान्यतो दृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति तथा चाऽऽदित्यस्य, तस्मादस्त्य प्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति** (वात्स्या०, १.१.५) । अर्थात् गति पूर्वक स्थल में देखे हुए का दूसरे स्थल में देखना सामान्यतोदृष्ट कहलाता है । जैसे—सूर्य की गति । सूर्य की गति का प्रत्यक्ष बोध किसी को नहीं होता, उसका बोध सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही होता है । वात्स्यायन ने इसका एक अन्य लक्षण करते हुए कहा है—**सामान्यतोदृष्ट नाम यत्राऽप्रत्यक्षे लिंगलिंगिनोः सम्बन्धेः केनचिदर्थेन लिंगस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिंगी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणाः गुणाश्च द्रव्य संस्थानाः तद्यदेषं स्थानं स आत्मेति** (वात्स्या०, १.१.५) । अर्थात् जिस अनुमान में प्रत्यक्ष न होने वाले साध्य तथा हेतु के व्याप्ति रूप सम्बन्ध न रहने के कारण किसी एक अर्थ के साथ हेतु के सादृश्य से अप्रत्यक्ष साध्य रूप अर्थ का अनुमान से बोध होता है उसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं । जैसे इच्छादि गुणों से आतमा की जो सिद्धि होती है वह सामान्योतोदृष्ट अनुमान से ही होती है । वाचस्पति मिश्र ने सामान्यतोदृष्ट को वीतानुमान का भेद माना है । उनके अनुसार—**अदृष्ट स्वलक्षणस्य सामान्य विशेषस्य दर्शनं सामान्यतोऽदृष्टमनुमानमित्यर्थः** (सां०त०कौ०, पृ० ४८-४९) । अर्थात् अदृष्ट स्वलक्षण सामान्य विशेष का जो दर्शन है, वही सामान्यतोदृष्ट है ।

सामान्य लक्षण—अलौकिक प्रत्यक्ष का भेद । न्यायमुक्तावलीकार के अनुसार—**सामान्य लक्षणमित्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः तेन सामान्य विषयक**

ज्ञानं प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते (न्याय०मु०, पृ० २७७)। अर्थात् सामान्य विषयक ज्ञान को सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें किसी व्यक्ति (वस्तु) के प्रत्यक्ष से उसकी जाति का ही प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि जाति व्यक्ति में समवेत है। जैसे किसी एक धूम को देखने से सकल धूम को धूमत्व का सन्निकर्ष होता है, क्योंकि धूमत्व समवाय सम्बन्ध से समस्त धूमों में विद्यमान है (त०भा०, पृ० ४२२)। इसी तरह घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर प्रत्यक्ष किए जाने वाले घट के अतिरिक्त समस्त घट में विद्यमान घटत्व का बोध होता है।

सास्मित—सम्प्रज्ञात समाधि का भेद। योग दर्शन के अनुसार—**यदा रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तदा तस्यां सत्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकाच्च सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः** (सर्व०सं०, पृ० ६९०)। अर्थात् जब रजोगुण और तमोगुण का लेश भी न रहे, सत्वगुण पर आधारित होकर भावना उत्पन्न हो तब उस सत्व के भी दब जाने से तथा चितिशक्ति के उद्रेक से केवल सत्ता का ही बचा रह जाना सास्मित समाधि है। इस समाधि में ईश्वरस्वरूप तथा जीवस्वरूप दोनों को जड़ से पृथक् करके देखते हैं।

सिद्ध—**इदमित्थं अनुज्ञायमानर्थं जातं सिद्धम्** (वा०भा०, १.१.२६)। अर्थात् स्वीकार किए जाने वाले अर्थ (विषय) के समुदाय को सिद्ध कहते हैं।

सिद्धान्त—न्याय दर्शन में पदार्थ भेद। न्यायसूत्र (१.१.२६) में कहा गया है—**तत्राधिकरणाभ्युपगम संस्थितः सिद्धान्तः**। अर्थात् शास्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम (स्वीकार) इन तीनों के माने हुए विषयों की सम्यक् व्यवस्था मानना सिद्धान्त पदार्थ कहलाता है। तर्क भाषाकार के अनुसार जो लक्षण प्रमाणित रूप से स्वीकृत होता है उसे सिद्धान्त कहते हैं। न्याय दर्शन में सिद्धान्त के चार भेद माने गए हैं—सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण और अभ्युपगम।

सिद्धि—सिद्धि का सामान्य अर्थ होता है—निश्चय करना। जैसे पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का निश्चय करना, यह सिद्धि है। न्याय दर्शन में दो प्रकार की सिद्धि की चर्चा की गई है—पक्षता अवच्छेदक सिद्धि और सामानाधिकरण्य मात्र अवगाहिनी सिद्धि। सांख्य दर्शन में तीन दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के अभिख्यात को मुख्य सिद्धि कहा गया है (सां०सू०, ३.४०)। सिद्धिरष्टधा में आठ प्रकार की सिद्धियां स्वीकार की

गई हैं—अध्ययन सिद्धि, शब्द सिद्धि, ऊह सिद्धि, सुहृत प्राप्तिसिद्धि, दानसिद्धि एवं आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक त्रिविध दुःखों के परिहार से प्राप्त होने वाली सिद्धि। सांख्यकारिका में अष्ट सिद्धियों के विषय में कहा गया है—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥

(सां०का०, ५१)

पातञ्जल योग सूत्र (३.४५) में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व तथा ईशित्व आठ सिद्धियां स्वीकार की गई हैं।

सुख—अनुकूल प्रतीत होने वाला आत्मा का गुण सुख है। न्याय दर्शन में सुख का यही लक्षण मान्य है। शंकर मिश्र के अनुसार—धर्म जिसका असाधारण कारण है आत्मा के उस गुण को सुख कहते हैं। सुख दो प्रकार का होता है—स्वकीय एवं परकीय। काव्य शास्त्र में इन दोनों के अतिरिक्त रस को भी सुख का एक प्रकार माना जाता है। योग दर्शन में सुख के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—**संतोषादनुत्तमसुखलाभः** (यो०, २.४२)। सांख्य दर्शन में त्रिविध दुःखों (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) से निवृत्ति सुख है।

सुषुप्ति—चेतना की अवस्था। 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'स्वप्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर सुषुप्ति शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ 'प्रगाढ़ निद्रा' होता है। मुण्डकोपनिषद् के पांचवे मंत्र में कहा गया है—**यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्।** अर्थात् जिस स्थान या समय में सोया हुआ पुरुष न तो किसी भोग की इच्छा करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे सुषुप्ति कहते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार—**परमेश्वराश्रयो मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः श्येते संसारिणो जीवाः** (ब्र०सू०शां०भा०, १.४.३)। अर्थात् सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें परमेश्वर के आश्रय होकर स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि सुषुप्तिकाल में जागरण और स्वप्नप्रपंच के विलीन हो जाने पर अज्ञान से अभिभूत होकर जीव सुख को प्राप्त करता है जबकि अन्य अवस्थाओं यानि कि जाग्रत और स्वप्न में सुख के साथ उसे दुःख का भी अनुभव होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**समग्रसुषुप्तिवृत्यभावरूपेति** (सां० प्र०भा०, १.१४८)। अर्थात् सुषुप्ति वृत्यभाव रूप है। यहां पर अर्द्धलय और

समग्रलय के भेद से सुषुप्ति अवस्था दो प्रकार की मानी गई है। उनमें से अर्धलय में विषयाकार वृत्ति नहीं होती है, किन्तु स्वगत सुख-दुःख मोहाकार की बुद्धिवृत्ति है। अन्यथा किसी व्यक्ति के जागने पर 'मैं सुख से सोया' इस प्रकार सुषुप्तिकालीन सुखादि के स्मरण की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। पंचीकरण में कहा गया है—**सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः**। अर्थात् सभी प्रकार के ज्ञान का उपसंहार होने पर बुद्धि का कारण के रूप में स्थितमात्र होना ही सुषुप्ति है। योग दर्शन के अनुसार—सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें अस्मितादि अपना कार्य (क्लेश देना) नहीं करते हैं।

सूत्र— अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यंच सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥
(का०मी०, पृ० ११)

अर्थात् अल्पअक्षर युक्त, सन्देहरहित, सारगर्भ, व्यर्थशब्दहीन, व्यापक एवं अनिन्द्य अर्थ को बतलाने वाला सूत्र कहलाता है। भारतीय दर्शन में छः प्रकार के सूत्र ग्रन्थ है—सांख्य सूत्र, योग सूत्र, न्याय सूत्र, वैशेषिक सूत्र, मीमांसा सूत्र एवं ब्रह्मसूत्र।

सूनृतव्रत—**प्रिय पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते** (सर्व०सं०, पृ० १४१)। अर्थात् प्रिय (सुनने में सुखद) पथ्य (अंत में सुखद) तथा अंत (यथार्थ) वाणी को सूनृतव्रत कहते हैं।

सृष्टि—सृष्टि शब्द की उत्पत्ति 'सृज' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर होती है जिसका सामान्य अर्थ सृजन करना, निर्माण करना, रचना करना इत्यादि होता है। मुण्डकोपनिषद् (२.१.३) में कहा गया है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनोः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीं विश्वस्य धारिणी॥

अर्थात् दिव्य और अमूर्त पुरुष से प्राण, मन, इन्द्रियां, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति सृष्टि है। सांख्य दर्शन के अनुसार—**रागः सृष्टिः** (सांख्य सूत्र, २.९९)। अर्थात् राग होने पर सृष्टि होती है। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र के भाष्य में कहा है—**घटसृष्टिवदन्तःकरणादिरिक्ताखिलसृष्टेरन्तः करणवृत्ति पूर्वकत्वानुमानम्**। अर्थात् घट सृष्टि की तरह अन्तः करणादिरिक्त अखिल सृष्टि, अन्तःकरणवृत्तिपूर्वक हुआ करती है। आचार्य शंकर के अनुसार—**परमेश्वरस्तेन**

तेनात्मनावतिष्ठावमानोऽभिध्यांस्त तं विकारं सृजतीति (ब्र०सू०शां०भा०, २.३.१३) अर्थात् परमेश्वर ही आकाश आदि भावापन्न होकर तत्-तत् विकारों की सृष्टि करता है। बल्लभाचार्य के अनुसार—जिस प्रकार सर्प कभी ऋजु, कभी कुण्डलाकार, कभी अन्य विभिन्न प्रकार वाला हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी एक विशेष रूप से प्रकट होता है। ब्रह्म का यह विशेष रूप ही सृष्टि है—**यथा सर्प ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति** (ब्र०सू०अ०भा०, ३.२.२७)। रामानुज के अनुसार—**नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते** (सर्व०सं०, पृ० २१५)। अर्थात् नाम और रूप के विभागों से मालूम होने वाला स्थूल चित् और अचित् वस्तुओं का शरीर लिए हुए ब्रह्म कार्यावस्था में स्थित है। जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे सृष्टि कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में नामसृष्टि, रूप-सृष्टि और कर्म सृष्टि से भेद से सृष्टि तीन प्रकार की कही गई है।

स्कन्ध—पुद्गल-भेद। जैन दर्शन के अनुसार—**द्वयणुकादयः स्कन्धाः** (सर्व०सं०, पृ० १५३)। अर्थात् दो अणुओं के योग को स्कन्ध कहते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः** (सर्व०सं०, पृ० ८७)। अर्थात् चित्त और उसके विकारों को स्कन्ध कहते हैं। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार के भेद से स्कन्ध पाँच प्रकार का होता है।

स्त्यान—**अकर्मण्यता स्त्यानम्** (यो०सू०, १.३०)। अर्थात् जो कार्य करने में असमर्थ है, वह स्त्यान है। आशय यहकि इच्छा होने पर भी कोई कार्य करने की क्षमता न रहना स्त्यान कहा जाता है।

स्थावर—बौद्ध दर्शन में जीव-भेद। बौद्ध दर्शन के अनुसार—**पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः** (सर्व०सं०, पृ० १५०)। अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति स्थावर हैं।

स्थिति— **वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः।**
प्रशान्तवाहितारूपः परिणामविशेषः स्थितिः॥
(सर्व०सं०, पृ० ७०४)

अर्थात् जो चित्तवृत्तियों से रहित हो गया है वह जब अपने रूप में अवस्थित हो शान्त होकर बहता है तब ऐसे परिणाम को स्थिति कहते हैं। व्यास ने

योग सूत्र के भाष्य में इसी बात का प्रतिपादन करते हुए कहा है—**चित्तस्या-वृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः** (यो०भा०, १.१३)।

स्थितिबंध—जीव के साथ कर्मपुद्गलों का काल नियत न होना स्थितिबंध है।

स्पर्श—न्याय वैशेषिक दर्शन में गुण। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**स्पर्श-स्त्वगिन्द्रियग्राह्यः** (प्र०भा०, पृ० ७०)। अर्थात् जिस गुण का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो उसे स्पर्श कहते हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु—ये चार इसके आधार हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**स्पर्शः त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः** (त०भा०, पृ० २६४)। अर्थात् त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण का नाम है—स्पर्श। यह शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का होता है। शीत स्पर्श जल में, उष्ण स्पर्श तेज में और अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु में रहता है। बौद्ध दर्शन में दुःख समुदाय के बारह अंगों में स्पर्श को भी एक अंग माना गया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार—स्सर्श इन्द्रिय और विषय के संयोग की अवस्था है। व्याकरण दर्शन के अनुसार—**कादयो मावसाना स्पर्शः**। अर्थात् 'क' आदि वर्ण स्पर्श है। श्रीमद्भागवत में मृदु, कठिन, शीत और उष्ण—ये चार स्पर्श के प्रकार हैं—

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं न भवतः॥

(भाग०, ३.२६.३६)

बल्लभाचार्य के अनुसार—कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णता तथा वायु का सूक्ष्म रूप होना स्पर्श है। सांख्य दर्शन में स्पर्श को तन्मात्रा माना गया है, जिससे वायु रूप महाभूत की उत्पत्ति होती है।

स्फोट—**स्फुटति-अभिव्यंज्यते वर्णैः—स्फुटति विकसति प्रकाशते अर्थो-ऽनेन स स्फोटः**। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की होती है—प्रथम जो वर्णों से अभिव्यक्त होता है वह स्फोट है, द्वितीय जिससे अर्थ प्रकाशित होता है वह स्फोट है। महाभारत (३.४३.५) में कहा गया है—**वायुस्फोटाः सन्निर्घाताः**। आशय यह कि स्फोट का अर्थ है—विखरना या फटना। स्फोट के सम्बन्ध में महाभाष्यकार का मंतव्य है कि **स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द गुणः** (महा०, १.१.७०)। आशय यह कि स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्दगुण है।

वैयाकरण सिद्धान्त परमलघुमंजूषा में कहा गया है—वर्णों की प्राकृत ध्वनि से अभिव्यक्त होने वाला, परन्तु वर्णों से पृथक् रहकर अर्थ का बोध कराने वाला, नित्य एवं निरवयव सूक्ष्म शब्द ही स्फोट है। भर्तृहरि का स्फोट के विषय में मंतव्य है—

यः संयोग-विभागाभ्यां करणैरूपजायते ।
सः शब्दः शब्दजाः शब्दाध्वनयोऽन्यैरुदाहृता ।।

(वा०प०, १.१०२)

आशय यह कि जो शब्द ओष्ठ, तालु, जिह्वा आदि कारणों से संयोग या विभाग द्वारा उत्पन्न होता है, वह स्फोट है। आगे उन्होंने कहा है—

अल्पे महति वा शब्दे स्फोट कालो न भिद्यते ।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयाप्रचयात्मकः ।।

(वा०प०, १.१०३)

अर्थात् स्फोट वह शब्द है जो पदार्थों के टकराने से या दृढ़ता से जुड़े हुए पदार्थ के बलात् अलग किये जाने से उत्पन्न होता है। शब्द अल्प हो या महान, इससे स्फोट काल में भेद नहीं होता। स्फोट के बाद होने वाला शब्द-सन्तान ही प्रचय और अप्रचय (वृद्धि-ह्रास) युक्त होता है। नैयायिक शब्द और ध्वनि मानते हैं, किन्तु वे वैयाकरणों की तरह स्फोट को नहीं मानते। उनके अनुसार ध्वनि ही स्फोट है। मीमांसक भी वैयाकरणों के स्फोट को अस्वीकार करते हैं। मीमांसक आचार्य कुमारिल का मंतव्य है—

यावन्तो यादृशा ये च पदार्थ प्रतिपादने ।
वर्णा प्रज्ञा न सामर्थ्यास्ते तथैवावभासकाः ।।

(श्लो०वा०, स्फो० ६९)

आशय यह कि जितने जिस प्रकार के जिन वर्णों में जिस अर्थ की प्रतीति की सामर्थ्य बुद्धि व्यवहारादि से ज्ञात है, उतने ही उसी प्रकार के वर्णों में उस अर्थ के बोध की सामर्थ्य होती है। स्मृति के विषय होकर वर्ण ही अर्थ के बोधक होते हैं। जैसे—गोः शब्द में गकार, ओकार और विसर्जनीय ये शब्द हैं। गकार वर्ण के श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार है, उसके सहित जो अनेकाकार का श्रवण, तदनन्तर पूर्ववर्ण श्रवणजनित संस्कार के साथ ओकार श्रवण से उत्पन्न जो सस्कार, उसके सहित अर्थात् गकार ओकार श्रवण से उत्पन्न जो

संयुक्त संस्कार, उसके सहित जो अल्प वर्ण विसर्ग, उसके श्रवण से अर्थ की प्रतीति होती है। अस्तु स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। वैयाकरणों की मान्यता है कि स्फोट अखण्ड यानि कि एक ही होता है, किन्तु ध्वनियाँ अनेक होती हैं। ध्वनियों की अनेकता के कारण ही स्फोट अनेक रूपों में प्रतीत होता है। व्याकरण दर्शन में आठ स्फोटों की चर्चा की गई है—वर्ण स्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, वर्णजाति स्फोट, पद जाति स्फोट, वाक्य जाति स्फोट, अखण्ड पद स्फोट, अखण्ड वाक्य स्फोट। सांख्य दर्शन के अनुसार—**प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः** (सां०सू०, ५.५७)। शब्द स्फोटात्मक नहीं होता। कारण यह कि उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वह तो वर्ण रूप है, स्फोटात्मक नहीं। जिसे स्फोटात्मक शब्द कहा जा रहा है, उसकी प्रतीति नही होती। योगदर्शनकार पतञ्जलि ने अखण्ड स्फोट की कल्पना की है। उनके अनुसार—जैसे 'कलश' पद में क ल स ये पृथक्-पृथक् वर्ण हैं तथापि इन पृथक् वर्णों के अतिरिक्त 'कलश' इस आकार का अव्यक्त रूप एक नित्य अखण्ड पद है। उसी को ये वर्ण अभिव्यक्त कर देते हैं, जैसे—कम्बुग्रीवादि अवयवों से अतिरिक्त 'घट' अवयवी अभिव्यक्त किया जाता है। वही अभिव्यक्त हुआ 'पद' संज्ञक शब्द विशेष, अपने अर्थ को स्फुट करने में समर्थ होता है। इसी कारण उसे स्फोट कहा जाता है (यो०सू०, ३.१७)।

स्मरण—न्याय दर्शन के अनुसार संस्कार से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का नाम है—स्मरण। स्मरण के दो भेद हैं—यथार्थ और अयथार्थ (त०भा०, पृ० ३२५)। स्मरण अनुभवानुसारी होता है। न्याय सूत्रकार के अनुसार—जब जिस नये आगन्तुक कारण के संनिधान में किसी पूर्वानुभूति विषय का स्मरण होता है तब उसे उस विषय के संस्कार का उद्बोधक मान लिया जाता है। महर्षि गौतम ने उक्त संस्कार के उद्बोधक के विषय में कहा है—**प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिंग लक्षणसादृश्य परिग्रहाश्रयश्चित सम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्ति व्यवधानसुखदुखेच्छाद्वेषभयार्थित्व क्रियाराग धर्माधर्मनिमित्तेभ्यः** (न्या०सू०, ३.२.४२)। आशय यह कि विषयान्तर से मन का निवारण, एक ग्रन्थता, एक विषय का बार-बार चिन्तन, व्याप्य, साम्य, स्वीकार, आश्रय, आश्रित, गुरुशिष्यभाव आदि, अव्यवधान, विरह, कार्य का ऐक्य, वैर, उत्कर्षाधान, लाभ, आवरण, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, भय, प्रार्थिता, कम्पन, स्नेह, धर्म और अधर्म ये संस्कार के उद्बोधन में निमित्त हैं। इनसे संस्कार का उद्बोधन होने पर स्मरण का उदय होता है।

स्मृति—'स्मृ' धातु में तम् प्रत्यय लगाने पर स्मृति शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ होता है याद रखना, प्रत्यास्मरण इत्यादि। इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ निगमित होता है कि जिसमें ज्ञात वस्तु को पुनः जाना जाता है वह स्मृति कहलाती है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार—**संस्कार मात्र जन्ये ज्ञानं स्मृतिः** (त०सं०, पृ० ५७)। आशय यह कि संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में कुछ दार्शनिक इसे प्रमा के रूप में नहीं मानते। इनमें से नैयायिक-मीमांसक स्मृति को अप्रमा की कोटि में रखते हैं तथा वेदान्ती स्मृति की व्याख्या दो प्रकार से करके एक में स्मृति को प्रमात्मक माना है और दूसरे में अप्रमात्मक। न्याय सूत्रकार का मंतव्य है कि स्मृति अनुभव से भिन्न होने के कारण अप्रमात्मक है। इनके अनुसार—अतीत में ज्ञात वस्तु को पुनः याद करना स्मृति है (न्या०सू०, १.२.४२)। स्मृति को पूर्व ज्ञान की अपेक्षा होने के कारण मीमांसक इसे प्रमा की कोटि में नहीं मानते। अद्वैत वेदान्ती जब प्रमा का लक्षण '**अबाधित विषय ज्ञानत्वं प्रमात्वम्**' करते हैं, तब स्मृति प्रमा की कोटि में नहीं आती है। इस सन्दर्भ में वेदान्त परिभाषाकार का मंतव्य द्रष्टव्य है। इनके अनुसार स्मृति का विषय पूर्व ज्ञात हुआ करता है, क्योंकि बिना अनुभव के स्मरण नहीं होता। इसलिए जब प्रमा का '**अनाधिगताबाधित विषयज्ञानत्वम्**' यह लक्षण किया जाता है, तब उसमें उनके अनुसार अनुभवात्मक प्रमा का लक्षण ही निर्दिष्ट होता है, स्मृति का नहीं। क्योंकि स्मृति अनधिगत और अबाधित नहीं होती है, किन्तु जब प्रमा का '**स्मृति साधारणं त्वाबाधित विषय ज्ञानत्वं**' लक्षण किया जाता है, तब यह लक्षण स्मृति और अनुभव दोनों में समान रूप से घटित होता है। इसलिए इस रूप में स्मृति प्रमा की कोटि में नहीं आती है (वे०परि०, पृ० १०-११)।

स्याद्वाद—**अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः**। अर्थात् अनेकात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में स्याद्वाद के लक्षण के प्रसंग में कहा है कि सर्वथा एकान्त को त्यागकर सात भंगी और नयों की अपेक्षा करो, स्वभाव की अपेक्षा सत् और परभाव की अपेक्षा असत् इत्यादि रूप से जो कथन करता है उसे स्याद्वाद कहते हैं—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंग नयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥

(आ०मी०, १०४)

आगे उन्होंने स्याद्वाद और केवल ज्ञान दोनों की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि स्याद्वाद और केवल ज्ञान ये दोनों समस्त तत्वों का प्रतिपादन करते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि केवली तत्वों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है और स्याद्वाद में वस्तुओं का ज्ञान परोक्ष रूप से होता है—

स्याद्वाद केवल ज्ञाने सर्वज्ञत्व प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

(आ०मी०, १०५)

स्वगत—वस्तुगत भेद। किसी वस्तु का उसके अवयवों में भेद करना स्वगत भेद कहलाता है। जैसे—किसी वृक्ष का उसके फल, फूल, पत्ते और शाखा से भेद करना स्वगत भेद है।

स्वतःप्रामाण्य—विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति निरुक्तिसंभवात् (सर्व०सं०, पृ० ५६५)। अर्थात् जो ज्ञान के सामान्य कारणों (इन्द्रिय, प्रकाश आदि) से उत्पन्न होने के साथ-साथ, इनके अतिरिक्त किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न न हो वही स्वतःप्रामाण्य है। भारतीय दर्शन में सांख्य, मीमांसक एवं अद्वैत वेदान्ती स्वतः प्रमाण्य मानते हैं जबकि नैयायिक और बौद्ध परतः प्रामाण्य मानते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतः एवोत्पद्यते ज्ञायते च** (वे०परि०, पृ० २९१)। अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमिति आदि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वमेव अर्थात् ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता है और स्वयमेव ज्ञात होता है। सांख्य दर्शन में स्वतः प्रामाण्य का लक्षण अद्वैत वेदान्त के अनुकूल ही कहा गया है—**निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्** (सां०सू०, ५.५१)।

स्वतंत्र—पूर्णप्रज्ञ दर्शन में तत्त्व। पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार—

सार स्वतंत्रं परतन्त्र च द्विविधं तत्वमिष्यते।
स्वतंत्रतो भगवान्विष्णु निर्दोषोऽशेष सद्गुणः॥

अर्थात् स्वतंत्र स्वयं भगवान् विष्णु हैं जो निर्दोष हैं तथा स्वतंत्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि सभी सद्गुणों से (अच्छे गुणों से) युक्त हैं।

स्वधर्म—वह व्यवसाय जो सब लोगों के कल्याण के लिए गुणधर्म के विभाग से किया जाता है स्वधर्म कहलाता है। गीता में कहा गया है—**स्वधर्मे**

निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (गी०, ३.३५)। अर्थात् स्वधर्म का पालन करते हुए यदि मृत्यु हो जाय, तो भी उसमें कल्याण है, क्योंकि परधर्म विनाशकारी होता है। इस सन्दर्भ में एक लोकोक्ति है कि 'तेली का काम तमोली करे, दैव न मारे आप मरे।' गीता के अनुसार—परधर्म का आचरण सहज हो तो भी उसकी अपेक्षा स्वधर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्यविहित कर्म, सदोष होने पर भी अधिक कल्याणकारक होता है। जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्म से ही गुणकर्मविभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष हो तो भी उसे नहीं त्यागना चाहिए। कारण यह कि सभी उद्योग किसी न किसी दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं, जैसे धुएं से आग घिरी रहती है—

> **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
> **स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥**
> **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।**
> **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥** (गी०, १८.४७-४८)

स्वरूपलक्षण—स्वरूपान्तर्गत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम् (सर्व०सं०, पृ० ८८९)। अर्थात् स्वरूप के अंतर्गत रहकर जो लक्षण किसी वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग करता है, वह स्वरूपलक्षण है। जैसे—पृथिवी का स्वरूप लक्षण है—पृथिवीत्व। यह पृथिवी का स्वरूप भी है और जल आदि का व्यावर्तन भी करता है। इसी तरह—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'— सत्य, ज्ञान और अनन्त ये ब्रह्म के स्वरूपभूत होते हुए लक्ष्य ब्रह्म का अलक्ष्य असत्, जड़ और दुःखरूप प्रपंच से पृथक् ज्ञान कराते हैं। अतः सत्य आदि ब्रह्म के स्वरूप लक्षण हैं।

स्वरूपासिद्ध—हेतु दोष। **स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते** (त०भा०, पृ० ३४९)। अर्थात् जो हेतु आश्रय में ज्ञात नहीं होता उसे स्वरूपासिद्ध कहा जाता है। जैसे—सामान्य जाति अनित्य है, उत्पन्न होने से। इस अनुमान में 'उत्पन्न होना' स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि सामान्य के अजन्मा होने से उसमें 'उत्पन्न होना' नहीं ज्ञात होता।

स्वाध्याय—योग दर्शन के अनुसार—**प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा** (यो०सू०, २.१)। आशय यह कि प्रणव (ओंकार) आदि पवित्र मंत्रों का जप तथा मोक्ष शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय कहलता है। योग

भाष्य में कहा गया है कि स्वाध्याय से योग का अभ्यास करना चाहिए और मनोयोग से जप का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार जप से योग का उत्कर्ष होने से, तथा योग से जप का उत्कर्ष होने से साधक के सामने परमात्मा प्रकाशित हो जाता है—

स्वाध्यायाद् योगमासीतं योगात् स्वाध्यायमायनेत्।
स्वाध्याययोग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥
(योग०भा०, १.२८)

रामानुज के अनुसार—**स्वाध्यायो नामसंकीर्तनं तत्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च** (सर्व०सं०, पृ० २२६)। अर्थात् अर्थ पर ध्यान रखते हुए मंत्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों और स्त्रोतों का पाठ करना, नाम का कीर्तन करना तथा तत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है।

स्वार्थानुमान—अनुमान। **स्वस्य अर्थः प्रयोजन यस्मात् तत् स्वार्था-नुमानम्**। अर्थात् जिस अनुमान का प्रयोग स्वयं के बोध के लिए किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। तर्कभाषाकार के अनुसार—**स्वप्रतिपत्ति हेतुः स्वार्थानुमानम्** (त०भा०, पृ० १०४)। अर्थात् जिससे स्वयं अनुमानकर्ता को साध्यानुमिति का लाभ होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। आगे उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए तर्कभाषा में कहा गया है—**महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्यो व्याप्ति गृहीत्वा पर्वत समीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वर्तातिनीमविच्छिन्न मूलामग्रं जिह्वा धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्ध संस्कारोधार्ति स्मरति 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति। ततः 'अत्रापि धूमोऽस्ति' इति प्रतिपद्यते तस्माद्' अत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्ति। इति स्वयमेव प्रतिपद्यते, तत् स्वार्थानुमान्** (त०भा०, पृ० १०४)। आशय यह कि जैसे कोई मनुष्य महानस आदि अनेक स्थानों में जाकर धूम और अग्नि के सहचार को देखकर धूम में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है उसके बाद पर्वत में धूम का दर्शन करने पर उसमें अग्नि का संदेह होता है, पुनः अग्नि और धूम के साहचर्य का स्मरण कर उसे व्याप्ति का स्मरण होता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, तदनन्तर 'यह पर्वत धूम से युक्त है', यह अनुमान होता हैं, इसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं। धर्मोत्तराचार्य के अनुसार—**स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकमेव** (न्या०वि०, पृ० २१)। अर्थात् स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार—**व्यभिचार दर्शने सति सहचार दर्शनेन गृह्यते**

तत् स्वार्थानुमानम् (वे०परि०, पृ० १५०)। अर्थात् व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण होता है। यह व्याप्ति ज्ञान ही स्वार्थानुमान है।

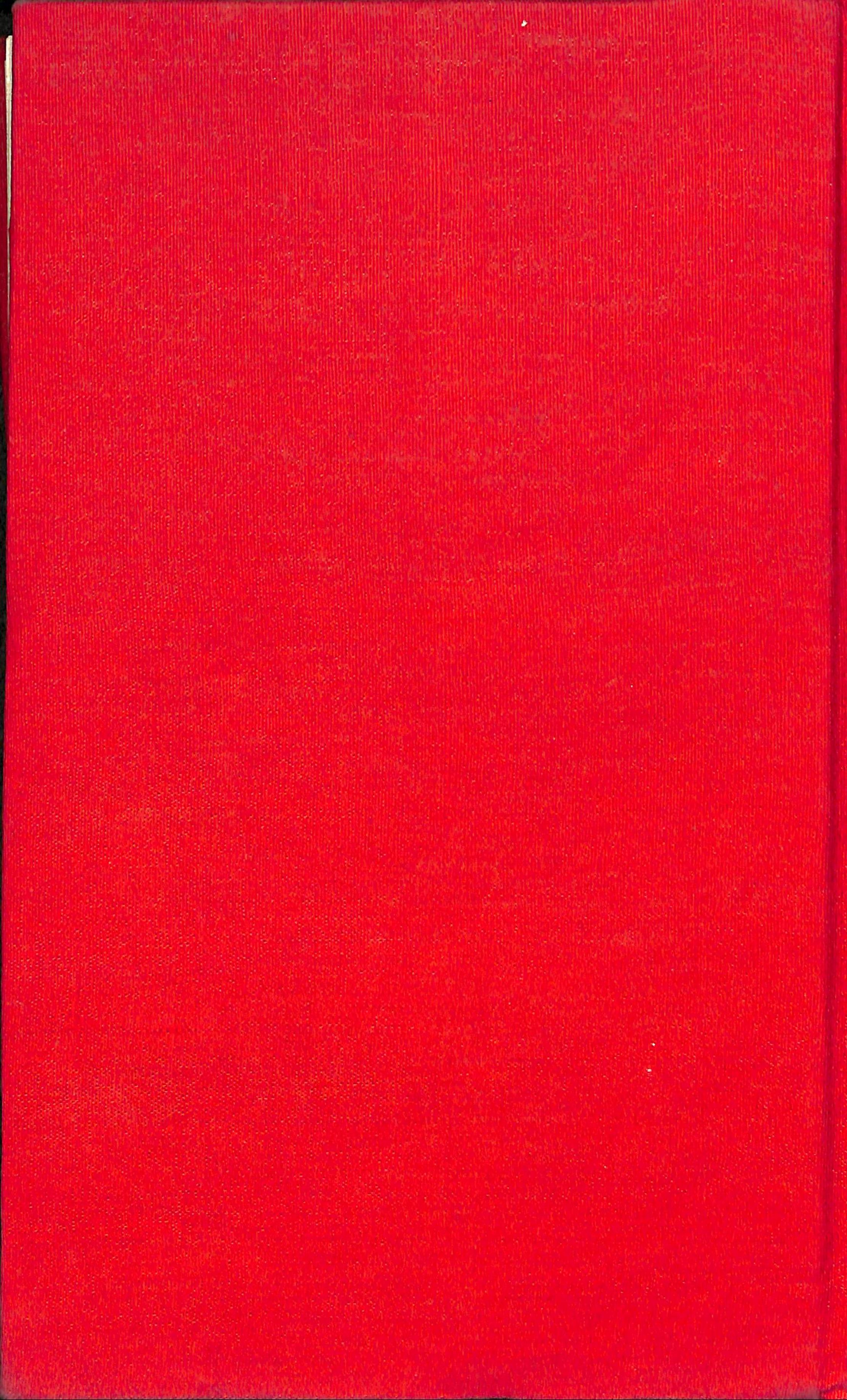
ह

हेतु—व्याप्ति आदि से अविशेषित लिंग का प्रतिपादन करने वाला वाक्य हेतु है (त०भा०, पृ० ३४०)। जैसे यह पर्वत वन्हिमान है—इस प्रतिज्ञा वाक्य के बाद प्रयुक्त होने वाला 'धूमत्वात्' यह वाक्य हेतु है।

हेतुसम—जिसमें हेतु को तीनों कालों में असिद्ध करके वादी का विरोध किया जाता है उसे हेतुसम कहते हैं (सर्व०सं०, पृ० ४८१)।

हेत्वन्तर—निग्रह स्थान। न्याय दर्शन के अनुसार—**अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिसिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्** (न्या०सू०, ५.२.६)। अर्थात् सामान्य रूप से वादी के कहे हुए हेतु का प्रतिवादी का खण्डन न करने पर, हेतु में विशेषण देने की इच्छा करने वाले वादी को हेत्वन्तर निग्रह-स्थान होता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनुमान वाक्यों में साध्य के साधक हेतु को पहिले सामान्य रूप से कहने के पश्चात् प्रतिवादी द्वारा वादी के हेतु का निषेध करने पर यदि वादी उस निषेध के परिहार के लिए विशेषण सहित उसी हेतु को बदल दे तो हेत्वन्तर निग्रह-स्थान होता है।

हेत्वाभास—**हेतुवद् आभासन्त इति हेत्वाभासः**। आशय यह कि हेतु न होते हुए भी हेतु के समान प्रतीत होने वाला दुष्ट हेतु हेत्वाभास है। तर्कभाषाकार ने हेत्वाभास के लक्षण के प्रसंग में कहा है—जिसके ज्ञान से अनुमिति अथवा अनुमिति के कारण तृतीय लिंग परामर्श का प्रतिबंध हो वह हेत्वाभास है (त०भा०, पृ० ११६)। इसके पांच भेद हैं—असिद्धि, विरोध, अनेकान्तिकरणव्यभिचार, प्रकरण समत्व-सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट बाध।



कोश के विषय में—

भारतीय मनीषा ने ज्ञान-विज्ञान के ऐसे अनेक गुह्य सन्दर्भों की प्ररोचना की है जिनकी व्याख्या की आज नितान्त अपेक्षा है। भारतीय चिन्तन के विविध दार्शनिक प्रस्थानों का बीज भूत-ज्ञान प्रस्थानत्रयी में तथा अन्य विविध दार्शनिक प्रस्थानों की परिधि में समाविष्ट है। दार्शनिक ज्ञान के ये सन्दर्भ विपुल वाङ्मय में विकीर्ण होने के कारण इनका उपबृंहण सुगम नहीं है। सामान्य शब्दों का अर्थ हमारी प्रज्ञा में होता ही है और यदि नहीं है तो उनका अर्थ-ज्ञान हम विविध ज्ञान कोशों के माध्यम से कर सकते हैं। किन्तु पारिभाषिक शब्दों के परिज्ञान हेतु हमें समग्र वाङ्मय के देखने का द्रविण प्राणायाम करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त भी संस्कृत भाषा का ज्ञान न रखने वाले अथवा अल्पज्ञान रखने वालों के लिए हमारे दार्शनिक शब्दों का ज्ञान अत्यन्त दुस्तर हो जाता है।

उक्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए दार्शनिक तथ्यों के गूढ़ रहस्यों के प्रचार-प्रसार हेतु इस पारिभाषिक कोश की हिन्दी भाषा में रचना आज की आवश्यकता बन गयी है। प्रकृत कोश में भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं तथा सम्प्रदायों के उन पदों का विवेचन विशेष रूप से उद्धरण एवं सन्दर्भोल्लेख पूर्वक किया गया है जो अब तक अविवेचित, स्वल्पविवेचित अथवा अन्यथा विवेचित थे।

संक्षेपतः प्रस्तुत परिभाषा कोश भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों के पारिभाषिक शब्दों का समग्रतः संकलन है जो आचार्यों, छात्रों, गवेषकों के साथ-साथ शोध-अध्येतावृत्ति परीक्षा एवं प्रतियोगी परीक्षा देने वाले परीक्षार्थियों के लिए भी विशेष रूप से उपादेय है।

मूल्य : २००.००

प्रतिभा प्रकाशन
२९/५ शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७